भारतीय समाज

[Indian Society]

जगदीश प्रसाद मिश्र
सुधा मिश्रा

भारतीय समाज

एक समाजशास्त्रीय विवेचना

तृतीय सशोधित एव परिवर्द्धित सस्करण

लेखक
जगदीश प्रसाद मिश्र
प्रवक्ता समाजशास्त्र विभाग
श्री जय नारायण डिग्री कालेज
लखनऊ

ए
व
म

लेखिका
सुधा मिश्रा
शैक्षिकपरामर्शदात्री
इदिरा गाधी राष्ट्रीय
मुक्त विश्वविद्यालय
लखनऊ

भारत प्रकाशन
लखनऊ

प्रकाशक

भारत प्रकाशन
17 अशोक मार्ग
लखनऊ-226001

तृतीय सस्करण 2001

ISBN . 81-7678-78-6

मूल्य *150 00 रुपये*

लेजर टाइप सेटिंग

एच आई कम्प्यूटर
५०४/३८ बरौलिया डालीगज
लखनऊ--२२६०२०

मुद्रक

नादर्न आफसेट
टिकैत राय तालाब,
लखनऊ

भूमिका : तृतीय सस्करण

विज्ञ पाठको द्वारा पुस्तक के द्वितीय सस्करण का आशानुकूल स्वागत हुआ और शीघ्र ही तृतीय सस्करण की मॉग होने लगी। अपन व्यस्त कार्यक्रम के कारण नया सस्करण जल्दी निकाला न जा सका। पाठको को हमारी इस विवशता के कारण जो धेर्य रखना पडा उसके लिए क्षमा प्रार्थी हूँ।

पुस्तक मे चार नवीन अध्यायो (१ २ ७ ।३) को जोडा गया है तथा अन्य अध्यायो मे आवश्यकतानुसार नवीन सामग्री का समावेश भी किया गया हे। विद्वानो तथा पाठको के सुझावो का प्रस्तुत सस्करण मे हमने यथा सम्भव समावेश किया है। आशा है अपने नवीन रूप मे पुस्तक सभी स्तर के पाठको के लिए अधिक लाभकर सिद्ध होगी।

अपने सभी सहयोगियो का आभार मानते हुए उनसे पूर्ववत मार्ग दर्शन की आशा करता हूँ। वीरेन्द्र कुमार बाहरी के विशेष अनुग्रह से पुस्तक का प्रकाशन सम्भव हो सका। इनका मै अत्यधिक आभारी हूँ।

कृष्ण जन्माष्टमी
सन २००१

—जगदीश प्रसाद मिश्र
--सुश्री सुधा मिश्रा

विषय सूची



अध्याय 1

परम्परागत भारतीय समाज व्यवस्था के आधारभूत तत्त्व

(Basic features of the traditional Indian social system)

यह एक तथ्य है कि प्रत्येक समाज के अपने मौलिक गुण अथवा अपनी निजी विशिष्टताएँ होती है जो अन्य समाजो मे नही मिलती और इन्ही के आधार पर हम एक समाज का दूसरे से अलग कर सकते है। भारतीय समाज शायद एक ऐसा समाज है जो सबमे अधिक विलक्षण हे[1]। इसकी सबसे बडी और प्रथम विलक्षणता हे हिन्दुत्व (Hinduism) ।

1- हिन्दुत्व – हिन्दुत्व अति पुरातन (जिसके उदय की तिथि का पता नही है) और श्रद्धा अथवा भक्ति वाला एक रेलीजन है जो प्रवासी (बाहर से आये हुए) समुदायो को छोडकर सारे भारत को स्पर्श करता है। फ्रान्स काथलिक धर्म नही है क्योकि फ्रान्स के अलावा भी अन्य काथलिक देश है पाकिस्तान इस्लाम नही है क्योकि और भी अनेक मुस्लिम राज्य है भारत हिन्दुत्व है (India is Hinduism)। यहॉ आये हुए पर्यटक के लिए अनिवार्य रूप से यह भारत का रेलीजन है जो भारत को सबसे पहले और सदा के लिए सब देशो से अलग करता है। हिन्दुत्व भारत की हर ध्वनि और दृष्टि मे वैसे ही फैला हुआ है जैसे सर्वव्यापक सूर्य का प्रकाश। दूसरे शब्दो मे शरीर से जो खून का सम्बन्ध है वही भारत का हिन्दुत्व से सम्बन्ध है। हिन्दुत्व भारत देश के जीवन की गति अथवा बहाव[2] है। बाजार की प्रकृति ग्रामीण श्रम विभाजन, गॉव और राज्य की सरकार जन्म विवाह और मृत्यु की औपचारिकताएँ---ये सभी हिन्दुत्व के रूप है। हिन्दुत्व व्यक्ति का उसके समाज से सम्बन्ध उसके ढेर से अधिकार और कर्त्तव्यो का विधान करके तय करता है। यह व्यक्ति का उसकी पत्नी उसके माता–पिता उसके बच्चो और सर्वाधिक स्वय उसी से जो सम्बन्ध है उसे बता देता है। एक भारतीय क्या करता है कैसे सोचता है क्या विश्वास करता है कैसे अनुभव करता है आदि सबको हिन्दुत्व प्रभावित करता है। प्रश्न है यह हिन्दुत्व क्या है ? हिन्दुत्व की परिभाषा करना एक कठिन कार्य है। बहुत से लोगो के लिए यह एक ऐसा नाम हो सकता है जिसकी कोई अन्तर्वस्तु नही है। क्या हिन्दुत्व विश्वासो का एक सग्रहालय है अनुष्ठानो का एक सम्मिश्रण है या

---

1 रोनाल्ड सेगेल दि क्राइसिस ऑव इण्डिया पृष्ठ–15

2 सेगेल वही पृष्ठ–15

केवल एक मेप हे एक भौगालिक अभिव्यक्ति हे ? इसकी अन्तर्वस्तु यदि कोई हे तो वह युग–युग म और एक समुदाय स दूसरे समुदाय मे बदलती रही है।[3] हिन्दुत्व पर प्रकाश डालते हुए सर्वपल्ली डा राधाकृष्णन अपनी धर्म और समाज नामक कृति मे लिखत है हिन्दुत्व किसी जातीय तथ्य पर आधारित नही है यद्यपि हिन्दू सभ्यता का मूल वैदिक आर्यो के आध्यात्मिक जीवन मे है और उसके मूल के चिह्न अभी तक लुप्त नही हुए है फिर भी इसन द्रविणो तथा यहॉ के अन्य निवासियो क सामाजिक जीवन से इतना कुछ ग्रहण किया है कि आधुनिक हिन्दुत्व मे से वैदिक और वैदिक–भिन्न तत्त्वो को सुलझाकर अलग कर पाना कठिन है। भारत एक परम्परा एक भावना एक प्रकाश है। उसकी भौतिक और आत्मिक सीमाएँ एक नही पृथक–पृथक है। भारत आध्यात्मिक मान्यताआ को अन्य मान्यताओ की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता है।[4] डा राधाकृष्णन ने हिन्दुत्व के व्यावहारिक पक्ष पर भी प्रकाश डाला है। आपका कथन हे कि व्यावहारिक दृष्टि से हिन्दुत्व विचारो के एक स्वरूप से कही अधिक एक जीवन प्रणाली हे। जहॉ विचार जगत मे यह पूर्ण स्वच्छन्दता प्रदान करता है वही एक कठोर आचरण की सहिता को भी लागू करता है। आस्तिक और नास्तिक सदेही और अज्ञेयवादी सभी हिन्दू हो सकते है यदि वे सस्कृत और जीवन की हिन्दू प्रणाली को स्वीकार करते है। हिन्दुत्व मे धार्मिक अनुरूपता पर उतना जोर नही हे जितना जीवन मे आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टिकोण पर। हमारे चाहे जो भी ईश्वर–परक विश्वास अथवा तात्विक मत हो हम सभी इसमे समहत है कि हमे दयालु और ईमानदार कृतज्ञ (उपकार करने वालो के आभारी) और दीन दुखी के प्रति सहानुभूति होना चाहिए। हिन्दू नैतिक जीवन पर बल देता है और उन सभी से भाईचारा अथवा ससर्ग मानता हे जो नैतिक नियमो के दावो से अपने को बॅधा हुआ मानते है। हिन्दुत्व कोई पथ अथवा सम्प्रदाय नही है बल्कि उन लोगो का भाईचारा है जो न्याय को स्वीकार करते हैं और सत्य की खोज करते है।[5]

2– रेलीजन, गरीबी और कर्मकाण्डीय शुचिता – सेगेल महोदय भारतीय समाज की सम्पूर्ण सरचना रेलीजन और गरीबी नामक दो तत्त्वो से बनी हुई स्वीकार करत है। आप यहॉ के रेलीजन को विलक्षण मानते हैं साथ ही यहाँ की गरीबी को भी विलक्षण मानते है। हिन्दू भारतीय समाज का अधिकाश जीवन कर्मकाण्डीय पवित्रता से अनुशासित है। कर्मकाण्डीय अशुद्धता से बचने का ख्याल सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र मे अनेक वर्जनाओ का सर्जक रहा है। जाति प्रथा के प्रतिबन्धो मे यह ख्याल स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। हिन्दू समाज मे छुआछूत के विचार कर्मकाण्डीय शुद्धता बनाये रखने के लिए पनपे होगे।

3– उदारता अथवा सहिष्णुता – अपनी उदारता अथवा सहिष्णुता

3 सर्वपल्ली, राधाकृष्णन दि हिन्दू व्यू ऑव लाइफ पृ 11।

4 सर्वपल्ली राधाकृष्णन धर्म ओर समाज पृ 117-18।

5 डा० राधाकृष्णन हिन्दू व्यू ऑव लाइफ पृ 55।

के लिए हिन्दू भारतीय समाज सदा से प्रसिद्ध है। भारतीय समाज ऐसा है जहॉ जीवन के विविध रूप दिखाई पडते है भिन्न–भिन्न मतावलम्बी रहत है भिन्न सामाजिक रीति–रिवाज मान्यताओ और विचारधाराओ के पोषक लोग एक साथ रहते है। मुसलमान पारसी यहूदी ईसाई आदि सभी अपने भिन्न सामाजिक और धार्मिक विचारो को अपनाये हुए भारतीय हैं अथवा भारतीय समाज का अग है। हिन्दू विवाद और झगडे मे पडना अच्छा नही समझते और वे प्रतिरोध से बचना चाहते थे और इन्ही नीतियो के कारण भारत की वरदा भूमि मे जो भी लोग आते गये उन्हे शरण मिलती रही और उन्हे अपना लिया गया। भारत की सहिष्णुता की परम्परा के कारण ही धर्म–निरपेक्षता के विचार को यहॉ प्रश्रय मिल पाया। सम्पूर्ण हिन्दू समाज ने धार्मिक अल्पसख्यको के प्रति उदारता को प्रदर्शित किया है। यदि यह सहिष्णुता न होती तो मूल रूप से पर्सिया से आये हुए पारसियो को भारत मे समृद्धशाली समुदाय के रूप मे शाति से रहने न दिया गया होता क्योकि मृतक को ठिकान लगान के इनके तरीके विचित्र है जो अधिकाश हिन्दुआ क लिए विरोधी आर घृणित ह। भारतीय सहिष्णुता वह सामग्री है जिससे भारतीय चरित्र का निर्माण हुआ है[6] (Tolerance is of the very material from which the Indian character is formed) । इस सहिष्णुता का जन्म कहॉ ओर कैसे हुआ ? क्या भारत वर्ष की जलवायु ऐसी है जिसने सहिष्णुता को उत्पन्न किया बिना किसी विरोध के अन्य लागो के जीवन को स्वीकृति प्रदान की ? यदि भारतीय त्याग और सहनशीलता प्रदर्शित करते है ता ये आत्म सुरक्षा के सुनिश्चित लक्षण है।[7]

4– विविधता – सहिष्णुता के कारण भारतीय समाज म अनेकता या विविधता का लक्षण विद्यमान है। भारतीय समाज का कोई भी निरीक्षक आसानी से यहॉ अनेक प्रकार के लोगो भाषाओ परम्पराओ, व्यवहार नियमो आदि को खोज सकता है। भारत अनेक प्रकार के धर्मो का गढ है, अनेक प्रकार की सस्कृतियो और प्रजातिया का सगम स्थल है। परिवार विवाह रहन–सहन वेशभूषा आदि सभी मे भिन्नता है। देवी देवताओ की अनेकता है लेकिन इसका यह तात्पर्य कदापि नही है कि भारत मे आधारभूत सास्कृतिक एकता का अभाव है। उदाहरण के लिए बिहारी (बिहार प्रान्त का निवासी) और तमिल प्रदेशी एक दूसरे से असमान हो सकत हे लेकिन भारत की सीमा से बाहर होने पर वे सबसे अधिक समान हैं क्योकि जो कुछ भी उन्ह पृथक करता है भिन्न बनाता है हिन्दुत्व उस पर पानी फेर देता है और उन्हे एकता प्रदान करता है।

5– वर्ण – भारतीय समाज की सरचना को समझने के लिए उसके सरचनात्मक तत्त्वो की जानकारी अपेक्षित है। वर्णाश्रम धर्म हिन्दू भारतीय समाज का प्राण है। वर्ण और आश्रम नामक दोना व्यवस्थाऍ क्रम से भारतीय समाज और व्यक्ति के जीवन पर प्रकाश डालती है। प्रत्येक समाज स्तरो या श्रेणियो मे बॅटा

6 सेगेल रोनाल्ड वही पृ ३३

7 सेगेल वही पृ ३३

होता है। परम्परागत भारतीय समाज वर्णों मे विभाजित है। वर्ण काय विभाजन की आदर्श व्यवस्था है। कैसे ? चार प्रकार के कार्य किसी भी राष्ट्र या समाज के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और वे निम्नलिखित हैं -

(1) धर्मकोष की रक्षा या ज्ञान प्रदान करने का कार्य
(2) सुरक्षा का कार्य
(3) आर्थिक क्रियाओ के सम्पादन का कार्य और
(4) सेवा का कार्य।

हमारे यहाँ जो चार वर्ण है वे क्रमश उक्त चार प्रकार के कार्यों का प्रतिनिधित्व करते है। धर्म कोष की रक्षा मे पटु ब्राह्मणो को यह कार्य दिया गया। सुरक्षा का विशिष्ट ज्ञान रखने वाले क्षत्रियो को सुरक्षा का कार्य दे दिया गया। व्यापार कृषि एव वणिक वृत्ति मे पारगत वैश्यो को आर्थिक क्रियाएँ सम्पन्न करने का कार्य सौप दिया गया। सेवा के लिए शूद्रो को सर्वाधिक उपयुक्त मानकर यह कार्य उनके जिम्मे किया गया। इस कार्य विभाजन को कुछ लोग आदर्श श्रम विभाजन की सज्ञा देते हैं और इसलिए वे वर्ण व्यवस्था को आदर्श श्रम–विभाजन मानते है।

6— आश्रम — व्यक्ति के जीवन से सबधित योजना आश्रम व्यवस्था है। जीवन की सफलता अथवा कामयाबी जीवन की सुविचारित योजना पर निर्भर है। हिन्दुओ ने जीवन की योजना तैयार की। जीवन का एक महान तीर्थ यात्रा के रूप मे स्वीकार कर उसका उद्देश्य मोक्ष निर्धारित किया और फिर जीवन को चार भागो मे बॉट दिया। ये भाग आश्रम की सज्ञा पा गये। प्रथम भाग ब्रह्मचर्य आश्रम नाम पा गया जिसमे शिक्षा की सम्यक व्यवस्था कर दी गई जिससे व्यक्ति का मानसिक बौद्धिक और शारीरिक विकास समुचित मात्रा मे हो सके और उसमे उचित अनुचित का विवेक जाग्रत हो जाय तथा वह आगामी जीवन के कर्त्तव्यो को निर्बाध रूप से पूरा कर सके। दूसरा भाग गृहस्थ आश्रम कहलाया। तीसरा भाग वानप्रस्थ और चतुर्थ भाग सन्यास नाम से पुकारा गया। आश्रम योजना जीवन की आदर्श एव सुन्दर योजना प्रतीत होती है फिर भी हिन्दुओ मे यह अव्यावहारिक रही क्योकि इसमे कुछ आधारभूत कमियाँ थी। इसके योजनाकार मानव स्वभाव की सीमाओ का सही मूल्याकन करने मे असफल रहे या यो कहे कि उन्होने मानव स्वभाव की अवहेलना की और यही प्रबल कारण है कि आश्रम व्यवस्था अव्यवहृत रही। कुछ भी हो जीवन की कोई योजना आवश्यक है चाहे समाज अपने सदस्यो के लिए जीवन योजना बनाये या समाज के सदस्य अपने–अपने जीवन की अलग–अलग योजनाएँ बनाये। अनियमित और अनियोजित जीवन बिताना दुखद है। जो लोग अनियमित और योजनाविहीन जीवन बिताते है उनके जीवन का उत्तरी भाग दुखमय रहता है। नियमहीन जीवन व्यतीत करने वालो के व्यवहारो मे अनिश्चितता रहती है और इसलिए उनके व्यवहार के विषय मे भविष्यवाणी नही की जा सकती है। साथ

ही उनके व्यवहारो मे स्थिरता का तत्त्व भी नहीं रहता है। वर्ण और आश्रम नामक व्यवस्थाएँ यह बतलाती हैं कि हिन्दू भारतीय किस प्रकार के समूहो मे रहते रहे और उनकी प्रणाली कैसी है।

7— **ऋण, यज्ञ और सस्कार** — ऋण सबधी मान्यता हिन्दू भारतीय समाज व्यवस्था का आधार है। हिन्दुओ की एक मान्यता यह भी है कि कुछ ऋण जन्मते ही प्रत्येक हिन्दू पर लद जाते हैं और उनके भार से वह बोझिल रहता है। ये ऋण इस प्रकार हैं– (1) ऋषि ऋण (2) देव ऋण (3) पितृ ऋण और (4) मनुष्य ऋण। ऋषियो, देवताओ, पितरो और मनुष्यो ने कुछ उपकार किए हैं इसलिए प्रत्येक हिन्दू के इनके प्रति कुछ कर्त्तव्य हो जाते हैं। इन कर्त्तव्यो को पूरा करने के लिए (समस्त ऋणो को चुकाने के लिए) पञ्चमहायज्ञो का विधान हिन्दू मनीषियों ने किया है। ब्रह्म यज्ञ देव यज्ञ पितृ यज्ञ भूत यज्ञ और मनुष्य यज्ञ पाँच महायज्ञ हैं। ब्रह्म यज्ञ से ऋषि ऋण चुकता है। देव यज्ञ से देव ऋण पितृ यज्ञ से पितृ ऋण और मनुष्य यज्ञ से मनुष्य ऋण का निपटारा होता है। यज्ञ सबधी विचार जहाँ एक आर सामान्य कल्याण (सबकी भलाई) से सबधित है वही दूसरी तरफ इसने पवित्रता को जन्म दिया। पवित्रता और शुद्धता के विचारो ने सस्कारो के लिए मार्ग प्रशस्त किया। सस्कारो के माध्यम से व्यक्ति को पवित्र निर्मल कलुषहीन और शुद्ध तथा परिष्कृत किया जाने लगा। परिष्कृत और सस्कृत होकर व्यक्ति समाज का क्रियाशील सदस्य बन पाया। बालक जब से गर्भ मे स्थित होता है तब से लेकर जीवन भर तथा मरने के बाद तक उसे सस्कारो के दौर से गुजरना पडता है जिससे जीवन मे वह प्रत्येक कदम पर अच्छाइया को सीखता है और बुराइयो को त्यागता चलता हे। सस्कारो का उद्देश्य व्यक्ति मे गुणो को भरना एव अवगुणो को निकालना है। अध्ययन की सुविधा के लिए सस्कारो को तीन कोटियो मे रखा जा सकता है जो निम्नलिखित हैं– (1) प्राग् जन्म सस्कार (2) बचपन के सस्कार और (3) यौवन काल के सस्कार। प्राग् जन्म सस्कारो मे गर्भाधान पुसवन और सीमन्तोन्नयन प्रमुख हैं जबकि जातकर्म नामधेय अन्नप्राशन और चूडाकरण बचपन के सस्कार हैं। उपनयन समावर्तन और विवाह की गणना यौवन काल के सस्कारो मे की जा सकती है।

8 — **जाति** — भारतीय समाज मे जातियो का पाया जाना इसकी एक विलक्षणता है क्योकि जातियाँ केवल भारतवर्ष मे ही पाई जाती है और कही नही। जाति के एकाध तत्त्व भले ही विश्व मे किन्ही–किन्ही समूहो अथवा सस्थाओ मे देखने को मिले परन्तु हूबहू जाति जैसी सस्था भारतीय समाज के अलावा और कही नही मिलती है। जातियो को ऐसे समूह अथवा वर्ग के रूप में समझा जा सकता है जिसकी सदस्यता जन्म से मिलती है और जीवन भर के लिए मिलती है जिसके सदस्य एक कठोर नियम द्वारा जाति से बाहर विवाह करने के लिए मना किए जाते है, जिसमे पेशे चुनने की आजादी नहीं है और

जिसमे खाने–पीने के बारे म प्रतिबन्धो की एक व्यवस्था है और जिसके सदस्य सामाजिक स्पर्श मिलन जुलन सबधी नियमा द्वारा अपने सामाजिक व्यवहार पर प्रतिबन्ध लगाते है । जातियो का जीवन के हर भाग मे प्रवेश है। जाति तय करती है कि कैसे और कब और क्या तथा कहाँ एक व्यक्ति खाता है बात करता है और प्रार्थना करता है। किससे भोजन जल तथा पात्र स्वीकार कर सकता है। आभूषणो का प्रकार अन्त्येष्टि का रूप यौन क्रिया की आवृत्ति आदि सब कुछ जाति द्वारा निर्धारित होता हे। भारतीय गणतत्र के धर्म–निरपेक्ष वायदे के बावजूद भी जाति राष्ट्रीय प्रादेशिक और ग्रामीण चुनावो मे अपने अभ्यर्थी का चयन करती है और वोटो का निर्धारण करती हे। जातियो के ही कारण विजताओ की टुकडी के बीच हिन्दू प्रतिमान को सुरक्षित रखा जा सका।

9– **कुल व्यवस्था** – परिवार किसी भी समाज की उप–सामाजिक व्यवस्था होता हे। अन्य शब्दो मे परिवार समाज का लघु रूप है। परिवार के रूप एव आदर्शों से भारतीय समाज की प्रकृति भलीभाँति जानी जा सकती है। भारत की कुल व्यवस्था अथवा परिवार प्रणाली की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं जो अन्यत्र पाये जाने वाले परिवारा मे नही प्राप्त होती है। हिन्दू परिवारो की प्रकृति सयुक्त है सम्मिलित है। परिवार का एक मुखिया होता है। इसी मुखिया या कर्त्ता के अधीन सभी सदस्य रहते है। परिवार के निर्णयो मे मुखिया का निर्णय सर्वोपरि होता है। परिवार क सभी सदस्य अपनी–अपनी आय इसी के पास जमा करते है और वह इसी एकत्र आय से परिवार के सभी सदस्यो की आवश्यकताएँ पूरी करता है। अपने सदस्यो की आवश्यकताओ को पूरा करने मे कर्ता आवश्यकता को महत्त्व देता है और सम्पत्ति के सम्बर्द्धन मे किसने कितना योगदान किया है इसका कोई लिहाज नही रखता है। एक ही पाकशाला मे सभी का खाना बनता है। पारिवारिक उत्सवो मे सामान्य रूप से सभी भागीदार बनते हैं। सभी सदस्य एक घर मे रहते है। व्यक्ति के लिए कर्त्तव्य निर्धारण मे कुल अथवा परिवार का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिन्दू परिवार की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि इसमे व्यक्तिवाद के लिए कोई स्थान नही है। हिन्दू परिवारो मे समाजवाद का पूरा–पूरा पोषण होता था। आजकल नवीन सभ्यता (औद्योगिक नगरीय और पाश्चात्य सभ्यता) नवीन विचारो और नवीन आर्थिक प्रणाली ने हिन्दू परिवार की नीव को हिला दिया है।

10 – **कर्म और धर्म** – कर्म और धर्म हिन्दू भारतीय समाज की दो जुडवा अनिबार्यताएँ है। कर्म इस तथ्य की घोषणा करता है कि एक हिन्दू एक जाति विशेष मे अपने अतीत के कर्मों के आधार पर जन्म लेला है और धर्म इस बात की मॉग करता है कि वह बिना किसी विरोध के अपनी स्थिति को स्वीकार कर ले और इस स्थिति के उपयुक्त कार्यों को जितनी खूबी के साथ पूर्ण कर सके पूरा करे। सारतः धर्म शब्द का अर्थ प्राकृतिक गुण है। नदी का धर्म बहना है तालाब का धर्म शान्त रहना है साधु का धर्म क्षमा करना है। जैसे तालाब

नदी और साधु का अपना–अपना धर्म है वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति का अपना धर्म होता है। चर्मकार का धर्म जूता बनाना है। बहेलिया का धर्म शिकार करना है। जल्लाद का धर्म फासी पर किसी को लटकाना है। सिपाही का धर्म लडना है। श्रीमद्भगवद्गीता जो शायद समस्त हिन्दू धर्म ग्रन्थो मे सबसे मूल्यवान है और जिसे स्वय गाधी जी ने सर्वोत्कृष्ट माना साफ शब्दो मे स्वधर्म पालन का सकेत करती है। अर्जुन जब स्वजनो के नाश के भय से युद्ध न करने की इच्छा व्यक्त करते है तो उनके सारथी कृष्ण (ईश्वर के अवतार) उन्हे लडने के लिए समझाते हैं क्योकि अर्जुन एक योद्धा है और योद्धा का धर्म लडना है।

धर्मशास्त्रो की घोषणा के अनुसार यदि एक मनुष्य अपने धर्म के अनुरूप अच्छे कर्मो को करता है तो वह पुन ऊँची जाति मे पैदा होगा लेकिन अगर वह बुरे कर्म करता है और अपने धर्म की उपेक्षा करता है तो पशु के रूप मे अथवा निम्न जाति के सदस्य के रूप मे पुन जन्म लेगा।

एक व्यक्ति के लिए केवल यही पर्याप्त नही है कि वह केवल अपने धर्म का अनुसरण कर बल्कि निस्सग भाव से बिना किसी इच्छा या महत्वाकाक्षा के अपना कर्त्तव्य समझकर अपने धर्म का पालन करे यह आशा उससे की जाती थी। वस्तुत निम्न जाति की अपेक्षा ऊँची जाति मे जन्म लेना उत्तम है लेकिन बिलकुल ही जन्म न लेना सर्वोत्तम है। कर्म के सिद्धात के आधार पर प्रत्येक मानव क्रिया का सकारात्मक और नकारात्मक मूल्य है और मुत्यु के सर्वदा सकारात्मक और नकारात्मक मूल्यो की सचित पूँजी होती है। आत्मा इन दोनो प्रकार के मूल्यो की कीमत चुकाता है। अतएव एक ही प्राणी कुछ समय के लिए अपने अच्छे कर्म के आधार पर स्वर्ग मे रह सकता है और बुरे कर्म के आधार पर कुछ समय के लिए नरक मे रह सकता है और मानव प्राणी के रूप मे जन्म लेकर फिर से लेखा जोखा प्रारम्भ कर सकता है।[8] स्वर्ग और नरक का पुरस्कार अन्तिम नही है। खाता बन्द नही हुआ है। लेजर का केवल एक पृष्ठ पलटा गया है और जमा तथा खर्च का शेष दूसरे जन्म मे ले जाया जाता है।

11– **पुरुषार्थ** – पुरुषार्थ परम्परागत भारतीय समाज व्यवस्था का एक आधारभूत तत्त्व है। पुरुषार्थ का अर्थ है– मनुष्य का इष्ट अथवा उसका प्राप्य। अन्य शब्दो मे, मनुष्य जो कुछ बनना चाहता है एव जो कुछ प्राप्त करना चाहता है उस सबकी अभिव्यक्ति पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ का सिद्धात मनुष्य का प्राप्य दिलाने मे उसे गन्तव्य तक पहुँचाने मे सहायक है। परम्परागत भारतीय चिंतन आध्यात्मिकता एव लौकिकता (सासारिकता) के समन्वय पर केन्द्रित है और इसी समन्वय की स्थापना पुरुषार्थों द्वारा की गयी है। जहाँ मानव जीवन का लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है वही पुरुषार्थ का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से इस तथ्य की तरफ सकेत करता है कि सासारिक कर्त्तव्यो को बिना पूरा किये मोक्ष प्राप्त करना सभव नही। अत सामाजिक दायित्व की पूर्ति करते हुए मोक्ष प्राप्त करना हिन्दू जीवन का लक्ष्य है। धर्म अर्थ काम को मनु ने 'त्रिवर्ग' कहा है। धर्मानुकूल अर्थ

8 इरावती कर्वे हिन्दू सोसायटी–ऐन इण्टरप्रटेशन पृ 92

और काम सेवन से सासारिक समृद्धि सम्भव है। मोक्ष पारलौकिक समृद्धि का सूचक है। हिन्दू लौकिक और पारलौकिक समृद्धि की कामना करता है । इस तरह हिन्दू ससार–उन्मुख और ससार–विमुख दोनो है। पश्चिमी विचारक उसे केवल ससार–विमुख मानने की भूल करते हैं और इसीलिये उस पर पलायनवाद का आरोप लगाते है लेकिन पुरुषार्थ सिद्धान्त के उक्त विवेचन से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि वह ससार–प्रवृत्त पहले है और ससार–प्रवृत्त होने के बाद ससार –विमुख उसे इसलिये होना पडता है क्योकि वह उस परम सत्ता मे विलीन होने की आकाक्षा रखता है जिसका कि वह एक अश मात्र है। इस आकाक्षा के रहते हुए भी वह ससार को असार नही मानता। ससार की सत्ता मे उसे पूरा–पूरा भरोसा है। ससार और ब्रह्म की तुलना मे वह ब्रह्म को ऊँचा स्थान देने का हिमायती अवश्य हे ओर दोनो मे वह ब्रह्म प्राप्ति को वरेण्य अवश्य समझता है। ससार की सत्ता को उसने गौण स्थान दिया है। उक्त दार्शनिक मान्यता समस्त हिन्दू चितन मे व्याप्त है और हिन्दुओ का सब कुछ इस मान्यता से प्रभावित है। हिन्दुओ की जीवन योजना (आश्रम व्यवस्था) पर इस चितन की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। हिन्दू का सर्वांगीण विकास लौकिक एव आध्यात्मिक दोनो पक्षो के सन्तुलन पर निर्भर है। किसी एक पक्ष पर अधिक बल देने से सतुलन बिगड सकता है। पुरुषार्थ सिद्धान्त द्वारा मनुष्य का सर्वांगीण विकास होता है।



अध्याय 2

भारतीय समाज की प्रजातीय एव सास्कृतिक रचना

(Racial and Cultural Composition of Indian Society)

आज जब प्रजाति एव सस्कृति का अध्ययन समाजशास्त्र का महत्त्वपूर्ण एव रोचक भाग है भारतीय समाज का विवेचन यदि प्रजाति और सस्कृति की दृष्टि से नही किया जाता तो जो चित्र उपस्थित होगा वह सही व पूर्ण न होगा। भारतीय समाज की प्रजातीय एव सास्कृतिक बनावट विलक्षणता से युक्त है। भारत के विषय मे बहुचर्चित तथ्य यह है कि ऐतिहासिक दृष्टि से भारत अनेक सस्कृतियो तथा प्रजाति–समूहो का घर है। इस कथन की सत्यता की परख इस अध्याय मे करनी है।

प्रजातीय विश्लेषण (Racial Analysis)

भारत मे विद्यमान प्रजातियो का विश्लेषण करने के पूर्व प्रजाति की सही धारणा को स्पष्ट करना अच्छा रहेगा।

प्रजाति की धारणा—साहित्य और समाज विज्ञानो मे प्रजाति (Race) शब्द का प्रयोग निश्चित अर्थों मे न होने के कारण इस शब्द के अर्थ के विषय मे भ्रान्तियाँ फैली है । इस शब्द का प्रयोग भिन्न–भिन्न अर्थों को प्रगट करने के लिए किया गया है। उदाहरणार्थ मानव प्रजाति को लीजिए। यहाँ प्रजाति शब्द का प्रयोग समस्त मानवता को सूचित करने के लिए किया गया है। इससे सभी लोग सहमत होंगे कि मानवता प्रजाति का पर्यायवाची नही है। यदि प्रजाति से मानवता का बोध होने लगे तो जितने मनुष्य है उन सबको एक प्रजाति का मानना पडेगा। यह निशक होकर कहा जा सकता है कि सभी मनुष्यो की प्रजाति एक नही है। हमारे भारत देश मे कई प्रजाति के लोग रहते है । इसके अतिरिक्त प्रजाति शब्द का प्रयोग कभी किसी भाषायी–समूह के अर्थ मे कभी राष्ट्र के अर्थ मे और कभी सास्कृतिक दृष्टि से समान गुण धर्मी समूह के अर्थ मे किया गया है। रिजले ने भारत मे प्रजाति तत्त्व का वर्गीकरण करते समय द्रविडियन प्रजाति का उल्लेख किया है। प्रसिद्ध मानवशास्त्री मजूमदार के मतानुसार 'द्रविडियन शब्द भाषायी समूह का द्योतक है'[1] । सर आर्थर कीथ राष्ट्र

1 Risley s 'Dravidian' like the term Aryan is a linguistic group and not racial
Majumdar D N Races and Cultures of India ' p-48

और प्रजाति को पर्यायवाची मानते है और दोनो मे कोई भेद नही करते है । दूसरी तरफ डा पिडिङ्गटन और एच जी वेल्स दोनो को पृथक–पृथक कोटियॉ (Categories) मानते है। मजूमदार जी ने राष्ट्र को प्रजाति से भिन्न माना है और ठीक भी है क्योकि राष्ट्र एक क्षेत्रीय कल्पना है। राष्ट्र एक कृत्रिम रचना है। राष्ट्र के बन्धन राष्ट्र तक सीमित है। प्रजाति एक जैविक प्रत्यय है।

उक्त भ्रान्तियो के कारण ही प्रजाति की सही धारणा लोगो के मन पर अकित नही हो पाती है । विद्वानो ने प्रजाति शब्द का वास्तविक अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया हे और उन्हे काफी हद तक इस कार्य म सफलता भी मिली है। एक प्रजाति के लोग अपनी विशिष्ट शारीरिक विशेषताओ से पहचाने जाते है। ये शारीरिक लक्षण आनुवशिक होते है, इन पर जलवायु अथवा पर्यावरण का प्रभाव नही पडता है। य शारीरिक लक्षण पीढी दर पीढी समान रहते है। कुछ एसे शारीरिक लक्षण भी होते है जो पर्यावरण द्वारा प्रभावित होते हें। इनका प्रजाति निर्धारण मे विशष महत्त्व नही रहता है। मानवशास्त्री प्रजाति शब्द का प्राणि वैज्ञानिक (Zoological) अर्थ लगाते है। वे लोग एक प्रजाति का निर्माण करते है जो समान शारीरिक लक्षणो से पहचाने जाते है।

डा डी एन मजूमदार प्रजाति की परिभाषा निम्न प्रकार से करते है–

यदि व्यक्तियो के एक समूह को समान शारीरिक लक्षणो के आधार पर अन्य समूहो से पृथक् पहचाना जा सके तो इस जैविकीय समूह के सदस्य चाहे जितने बिखरे क्यो न हो वे एक प्रजाति है। प्रजातीय अन्तर वातावरण के प्रभावो से अप्रभावित विशेष आनुवशिक गुणो पर आधारित होना चाहिए [2]। अपनी पुस्तक मानव और सस्कृति मे डा श्यामाचरण दुबे ने प्रजाति की परिभाषा देते हुए लिखा है कि–

प्रजाति हम मानव जाति के उस विभाजन को कह सकते हैं जिसकी अपनी निजी शारीरिक विशेषताएँ होती है जो एक के बाद एक हर पीढी मे प्राय उसी रूप मे स्थिर बनी रहती हैं[3]।

ऊपर दी गई भारतीय विद्वानो की प्रजाति की दोनो परिभाषाएँ प्रजाति के वास्तविक अर्थ पर प्रकाश डालती है। शब्दो के हेर–फेर के साथ दोनो विद्वानो ने एक ही बात कही है। दोनो विद्वान प्रजाति का निश्चय करने मे शारीरिक लक्षणो पर बल देते है और साथ ही इन शारीरिक लक्षणो का आनुवशिक होना अनिवार्य मानते हैं । डा मजूमदार के अनुसार एक प्रजाति के लोगो का एक

---

2 'If a group of people can by their possession of a number of common physical traits be distinguished from others even if the members of this biological group are widely scattered they form a race The racial differences must be based on significant 'hereditary traits not affected by any environmental influences '

Majumdar D N Ibid p-44

3 दुबे श्यामाचरण मानव और सस्कृति पृ 52।

स्थान पर बसा होना प्रजाति का अनिवार्य लक्षण नही है।

प्रजाति और जाति मे अन्तर – दोनो शब्द मानव समूहो का बोध कराते हैं परन्तु फिर भी इनमे अनेक बातो मे भिन्नता है[4]।

(1) प्रजाति की धारणा जैविक है आनुवशिक है जबकि जाति सामाजिक सास्कृतिक समूह है। जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसमे अन्तर्विवाह और भोजन तथा व्यावसायिक प्रतिबन्ध जैसी सास्कृतिक विशेषताऐं मिलती है।

(2) जाति का निश्चय जन्म से होता है जबकि प्रजातियो का निश्चय वशागत शरीरिक लक्षणो के आधार पर होता है।

(3) प्रजाति पर्यावरण द्वारा अप्रभावित रहती है जबकि पर्यावरण मे परिवर्तन होने से जाति मे अनेक परिवर्तन आ गये हैं। उदाहरणार्थ परम्परागत पैतृक व्यवसाय खानपान और स्पर्श प्रतिबध सबधी जाति के लक्षण नष्ट हो रहे हैं।

(4) प्रजाति की रक्षा के लिए प्रजाति का अपना कोई सगठन नही है लेकिन जाति मे नियमो की रक्षा के लिए जाति पचायत नाम का सगठन पाया जाता है।

(5) जातियो ने जातिवाद के सकीर्ण विचार को जन्म दिया है और प्रजातियो ने प्रजातिवाद नामक सकीर्ण भावना को जन्म दिया। प्रजातिवाद का शिकार कई देश हैं लेकिन जातिवाद का शिकार केवल भारत देश है।

(6) प्रजातियॉ सारे विश्व मे फैली हैं जबकि जातियॉ केवल भारत की ही देन हैं।

(7) जातियो मे प्रजाति तत्त्व है। कुछ विद्वान जाति की प्रजातीय उत्पत्ति मे विश्वास रखते हैं। प्रजाति की जातीय उत्पत्ति की बात कोई नही करता है। प्रजातीय मिश्रण और कुलीनता के आधार पर जाति बनने की बात की जाती है।

(8) आज निम्न जातियॉ अपना प्राचीन स्वरूप बदल रही हैं पर प्रजाति का स्वरूप अपरिवर्तित है। प्रजातीय मिश्रण से कोई प्रजाति अपना शुद्ध रूप खो सकती है और नवीन प्रजाति को जन्म दे सकती है लेकिन एक प्रजाति दूसरी प्रजाति का रूप धारण नहीं कर सकती। निम्न जातियाँ सस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण की प्रक्रियाओ द्वारा अपना प्राचीन स्वरूप बदल रही है।

(9) जातियो मे पवित्रता और अपवित्रता के विचार से जनित श्रेष्ठता व हीनता की भावना मिलती है जबकि प्रजातियो मे रग अथवा अन्य वशागत शारीरिक लक्षणों के आधार पर श्रेष्ठता व हीनता सबधी विचार पाये जाते हैं।

(10) यदि व्यक्ति जाति के नियमो को तोड़ता है तो उसे जाति से बहिष्कृत किया जा सकता है। ध्यान रहे प्रजाति मे बहिष्कार के लिए स्थान नही है।

भारत की प्रजातीय रचना – भारत की जनसख्या मे कौन–कौन सी प्रजातियॉ उपस्थित हैं और उनका फैलाव कहॉ–कहॉ है ? इसका उत्तर दना

4- 'The term 'race' when properly used signifies a biological category " Maciver and Page Society, p-386

थोडा कठिन अवश्य है। कठिनाई यह है कि भारतवर्ष मे समय -समय पर अनेक प्रजातियाँ आती रही है और उनमे मिश्रण भी हुआ है जिससे यहाँ किसी भी प्रजाति का शुद्ध स्वरूप नही मिल पाता। यहाँ पर सब प्रजातियो ने अपना स्वतत्र और सही रूप खो दिया हे। फिर भी नीचे कुछ उन प्रजातियो का परिचय और फैलाव प्रस्तुत किया जा रहा है जो भारत की जनसख्या का आधार है।

(1) द्रविड (Dravidian)- कद छोटा और रग काला होता है। बाल लहरदार तथा अधिक होते है। नाक चौडी सिर लम्बा और ऑखे गहरी काली होती है। इनका फैलाव लका से गगा घाटी तक है। ये हैदराबाद मध्यप्रदेश के दक्षिणी भाग मद्रास और छोटा नागपुर मे बसे हुए हैं।

(2) मगोलायड (Mongoloid)- सिर चौडा त्वचा का रग पीला या भूरा, नाक छोटी कद छोटा होठ साधारणतया मोटे और ठोढी गोल आदि मगोल प्रजाति के लक्षण है। भारत के उत्तरी पहाडी क्षेत्रो मे इस प्रजाति का फैलाव है।

(3) इण्डो–आर्यन– लम्बा कद रग साफ ऑखे काली सिर नाक पतली और ऊँची होठ पतले चेहरे पर घने बाल आदि से पहचाने जाते हैं। नार्डिक प्रजाति के जो लोग भारत आये उन्हे इण्डो–आर्यन कहा जाता है। ये मुख्यत पजाब कश्मीर और राजपूताना मे पाये जाते हैं।

(4) नीग्रिटो– मजूमदार के अनुसार ऊँचा सिर खडा माथा छोटा और चौडा मुख होठ मोटे कधे तग धड छोटा कटि प्रदेश ऊँचा टॉगे छोटी लम्बी भुजाएँ शरीर का रग गन्दा पीला आदि इनकी प्रजातीय विशेषताएँ है। बौनापन इनकी प्रधान विशेषता है। अण्डमान द्वीप इनका प्रमुख निवास स्थान है। डा बी एस गुहा ने मध्य तथा दक्षिण भारत की आदिम जातियो मे इस तत्त्व की प्रमुखता स्वीकार की है।

(5) भूमध्य सागरीय (Mediterranean)- इस प्रजाति के लोगो का कद बहुत लम्बा नही होता। सर लम्बा होठ पतले और मुँह चौडा होता है। सर के बाल घुँघराले तथा रग मे हलके भूरे होते है। त्वचा का रग हलका भूरा होता है। भारत के उत्तरी भाग मे मिलते है।

(6) अल्पाइन (Alpine) चौडा सर इस प्रजाति का प्रमुख लक्षण है। सर आकार मे गोल और माथा ऊँचा होता है। नाक छोटी परन्तु ऊँची होती है। इनकी खाल पीलापन लिए हुए भूरे रग की होती है। शरीर का कद मझोला होता है।

(7) प्रोटो आस्ट्रोलायड (Proto-austroloid)- सर लम्बा कद छोटा बाल घुँघराले त्वचा का रग चाकलेटी नाक चौडी तथा जड पर दबी हुई और होठ मोटे इनकी पहचान है। आँखो का रग काला–भूरा होता है। ये विन्ध्य प्रदेश और दक्षिणी भारत मे पाए जाते है।

भारत मे प्रजाति वर्गीकरण — भारतवर्ष मे प्रजाति तत्त्व की खोज करने वालों मे रिजले महोदय का नाम प्रथम है। प्रजातियो का कोई लिखित

इतिहास उपलब्ध न होने के कारण उन्होने मानवमिति (Anthropometry) का आश्रय लिया और भारत की प्रजातियो का अधोलिखित वर्गीकरण प्रस्तुत किया। आपने भारत मे पाई जाने वाली प्रजातियो को तीन वर्गों मे रखा है। (1) द्रविडियन (2) इण्डो–आर्यन और (3) मगोलियन। इन तीनो के मिश्रण के आधार पर तीन मिश्रित प्रजातियो का उल्लेख भी आपने किया है।

(1) मगोलो–द्रविडियन (Mongolo-Dravidian)

(2) आर्यो–द्रविडियन (Aryo-Dravidian)

(3) सीथो–द्रविडियन (Scytho-Dravidian)

आजकल उत्तर प्रदेश मे आर्यो –द्रविडियन बगाल मे मगोलो–द्रविडियन और महाराष्ट्र मे सीथो–द्रविडियन मिश्रित प्रजातियाँ पायी जाती है।

रिजले के बाद हैडन हटन एव गुहा ने भी इस दिशा मे सराहनीय एव महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। हैडन कृत वर्गीकरण इस प्रकार है।

(1) प्राग–द्रविड (2) द्रविड (3) इण्डो–आर्यन (4) इण्डो–अल्पाइन ओर (5) मगोलायड ।

हटन के अनुसार यहाँ निम्नलिखित प्रजातीय तत्त्व पाये जाते है।

(1) नीग्रिटो (2) प्रोटो–आस्ट्रोलायड (3) मेडिटेरानियन (४) अल्पाइन प्रजाति के आर्मीनायड (5) मगोलायड और (6) इण्डो–आर्यन।

गुहा के अनुसार भारत मे निम्नलिखित प्रजातियाँ है–

(1) नीग्रिटो (2) प्रोटोआस्ट्रोलायड (3) मगोलायड

(अ) प्राचीन मगोलायड

(i) लम्बे सर

(ii) चौडे सर

(ब) तिब्बती मगोलायड (4) मेडिटेरानियन

(5) पश्चिमी चौडे सर वाले (Western Brachycephals)

(क) अल्पाइन (ख) डिनारिक (Dinaric)

(ग) आर्मीनायड

(6) नार्डिक अथवा इण्डो आर्यन ।

उक्त प्रजातीय विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ किन–किन प्रजातियो के लोग कहाँ–कहाँ फैले हुए है और इन प्रजातियो के लक्षण क्या हैं? इसके साथ ही यह भी जानकारी हो जाती है कि यहाँ प्रजातियो का मिश्रण अधिक हुआ है जिसके कारण किसी भी प्रजाति का अपने विशुद्ध रूप मे मिल सकना यहाँ कठिन है।

सास्कृतिक विश्लेषण

सस्कृति की धारणा (Concept of culture)–मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसके पास सस्कृति होती है । मानवेत्तर प्राणियो मे सस्कृति नही

होती। इसका अभिप्राय यह है कि सस्कृति मानव–निर्मित है। अन्य शब्दो मे सस्कृति पर्यावरण का मानव निर्मित भाग है[1]। पहले मनुष्य प्रकृति का दास था प्राकृतिक घटनाओ के अत्यधिक अधीन था । धीरे–धीरे वह इन प्रकृति के तत्त्वो पर विजय पाने मे समर्थ हुआ और अब वह प्रकृति का उत्तरोत्तर स्वामी बनता जा रहा है। अब वह पहाडो के बीच सुरग बनाकर रास्ता निकाल सकता है। बडी–बडी नदियो को पार करने के लिए उसने पुल बनाना सीख लिया है। बाढ के प्रकोप को रोकन के लिए बॉध की व्यवस्था कर ली है। मनुष्य चॉद पर पहुॅच चुका है। प्रकृति पर विजय पाने के अपने प्रयत्नो द्वारा मनुष्य ने अपनी सस्कृति का विस्तार किया है।

मनुष्य घर (मकान) बनाकर रहता है। पक्षी घोसला बनाकर रहते है । बहुत से जन्तु जमीन क अन्दर बिल बनाकर रहते है। मनुष्येतर जीवो मे बिल बनाने अथवा घोसला बनाने का गुण जन्मजात है जबकि मनुष्यो मे घर बनाने की योग्यता जन्मजात न होकर सीखी हुई है। जब तक मनुष्य घर बनाने की कला सीखता नही है तब तक वह घर बनाने मे असमर्थ रहता है लेकिन बया पक्षी जो सबसे सुन्दर घोसला बनाता है घोसला बनाना किसी से सीखता नही है। यह गुण उसमे सहज होता है। पक्षियो द्वारा घोसला बनाना सस्कृति का अग नही है क्योकि यह गुण उनमे जन्म से ही है जबकि मनुष्यो की घर बनाने की योग्यता सीखी हुई होने के कारण और इसे पीढी दर पीढी हस्तातरित करने की क्षमता के कारण सस्कृति का अग है। हाबेल राबर्ट वीरस्टेड जार्ज पीटर मरडाक आदि विद्वान इसीलिए सस्कृति को सीखा हुआ व्यवहार मानते है। सस्कृति न तो जेविकीय विरासत का परिणाम है और न ही इसमे जैविकीय विरासत सम्मिलित है।

सस्कृति के प्रत्यय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए मानवशास्त्रियो तथा समाज वैज्ञानिका की कुछ परिभाषाएँ उदधृत की जा रही है।

मानवशास्त्रीय परिभाषाएँ

ई बी टायलर के अनुसार सस्कृति वह जटिल समग्रता है जिसके अन्तर्गत ज्ञान विश्वास कला नैतिक आचरण कानून प्रथा तथा ऐसी ही अन्य क्षमताएँ और आदत सम्मिलित रहती है जिन्हे समाज के सदस्य के नाते मनुष्य ग्रहण करता है[2] ।

हाबेल के अनुसार सस्कृति सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानो का कुल योग है जो समाज के सदस्यो की विशेषताओ को प्रकट करता है और इस प्रकार

1- Culture is the man-made part of the environment "- M J Herskovits, Man and His works, p-17

2 Culture is that complex whole which includes knowledge, beliefs, art, morals, law, customs and any other capabilities and habits acquired by man as a member of society -E B Tylor, Primitive Culture, p-1

जैविकीय विरासत का परिणाम नही होती'।

समाजशास्त्रीय परिभाषाएँ

राबर्ट बीरस्टड के अनुसार सस्कृति एक जटिल सम्पूर्णता है जिसमे वे सभी वस्तुएँ सम्मिलित है जिन पर हम विचार करते है कार्य करते है और समाज के सदस्य के नाते अपने पास रखते है[4]।

मैकाइवर और पेज के अनुसार सस्कृति हमारे दैनिक व्यवहार मे कला मे साहित्य मे धर्म मे मनोरजन तथा आमोद–प्रमोद मे हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है'।'

उक्त परिभाषाओ मे हाबेल और बीरस्टेड की परिभाषाएँ सत्य के अधिक निकट है सस्कृति की सही धारणा स्पष्ट करने मे सहायक है। बीरस्टेड की परिभाषा मे सस्कृति के भौतिक और अभौतिक दोनो पक्षो का समावेश है। हाबेल की परिभाषा स्पष्ट शब्दो मे यह सकेत करती है कि सस्कृति जन्मजात न होकर सीखा हुआ व्यवहार है। सीखा हुआ व्यवहार होने के कारण सस्कृति मनुष्य निर्मित है ओर पीढी दर पीढी हस्तान्तरित होने का गुण भी इसमे है। यह सामूहिक भी है। सस्कृति की उक्त अनिवार्य विशेषताएँ हाबेल की परिभाषा मे है अत यह परिभाषा अच्छी है। टायलर की परिभाषा का दोष यह है कि इसमे सस्कृति के भौतिक पक्ष का समावेश नही है। मैकाइवर और पेज की परिभाषा मे दो तथ्यो पर प्रकाश डाला गया है। (1) सस्कृति एव व्यक्तित्व मे गहरा सबध है। (2) जीवन के किसी भी क्षेत्र मे व्यक्ति सस्कृति की उपेक्षा नही कर सकता है।

उद्धृत परिभाषाओ का विश्लेषण करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सस्कृति वह समग्रता है जिसमे साहित्य भाषा विज्ञान कला नैतिकता धर्म विश्वास, कानून प्रथाएँ जनरीतियाँ परम्पराएँ रूढियाँ तथा समस्त भौतिक उपकरण जिनका निर्माण मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए किया है आदि सब सम्मिलित हैं।

---

3 "Culture is the sum total of integrated learned behaviour patterns which are characteristic of the members of a society and which are therefore not the result of biological inheritance

E A Hoebel Man in the Primitive World P-7

4 'Culture is the complex whole that consists of everything we think and do and have as member of society '

Robert Bierstedt The Social order, p-129

5 'Culture is the expression of our nature in our modes of living and of thinking, in our every day intercourse in art in literature in religion, in recreation and in enjoyment '

Maciver and page society

(1) **अनेकता**—जलवायु वातावरण आवश्यकताओ सोचने विचारने के ढगो व्यवहार विधियो आदि मे भिन्नता के कारण प्रत्येक देश की सस्कृति भिन्न होती है। भारत की सस्कृति विश्व की सस्कृतिया मे विशिष्ट स्थान रखती है। विविधता इस सस्कृति की विशषता है। यहॉ की सस्कृति मे भिन्न भारतीय तत्त्वो का प्रवेश भी है। इसका कारण समय—समय पर यहॉ विदेशियो का बराबर आना जाना हे। भारत को विविध समाज (Plural Society) कहा जाता है। इसी विविधता के कारण कोई भी विदेशी भारतीय समाज को जब तक वह गहराई मे नही जाता है एक समाज न मानकर समाजो का समूह मानने की भूल कर बैठता है। जाति प्रजाति भाषा धर्म ईश्वरपरक विश्वास खान—पान विवाह रहने- सहन वशभूषा आदि की भिन्नता यहॉ पर्याप्त मात्रा मे देखी जा सकती है।

(2) **अनेकता मे एकता**—अनेकता मे एकता के प्रत्यय द्वारा भारतीय समाज मे उपस्थित भिन्नता के मध्य एकता एव सगठन की स्थिति का बोध कराया जाता है। यहॉ व्याप्त विविधता का यह अर्थ नही है कि भारतीय समाज असगठित है एकीकृत नही है। भेदो के रहते हुए भी अभेद की स्थिति है। जो भी अन्तर अथवा भेद है उन भेदो को मिटाकर एकता प्रदान करने वाले (सबको एकसूत्र मे बॉधने वाले) तत्त्व भी यहॉ उपस्थित है। एकता प्रदान करने वाला पहला तत्त्व है हिन्दुत्व अथवा भारतीयत्व । बाहरी आक्रमण के समय भिन्न—भिन्न धर्मों को मानने वाले विभिन्न विचारधाराओ एव विश्वासा के पोषक व्यक्ति समस्त भेदो को भूलकर एक हो जाते है सगठित अथवा एक होकर बाहरी आक्रमण का मुकाबला करते हैं । पाकिस्तान एव चीन से हुए युद्ध के समय हमने इस एकता का परिचय दिया है। प्रथम अध्याय मे तमिल प्रदेशी और बिहार प्रान्त के निवासी का उदाहरण देकर हमने यह सिद्ध कर दिया है कि यद्यपि तमिल प्रदेशी और बिहारी सामाजिक सास्कृतिक बातो मे काफी असमान हैं फिर भी भारत की सीमा के बाहर जब वे एक दूसरे से मिलते हैं तो समस्त अन्तरो को भूल जाते है और इस आधार पर वे एक हो जाते है कि वे हिन्दू हैं अथवा भारतीय है। उदारता नामक तत्त्व भिन्न—भिन्न लोगो को अपनी भिन्नताओ के सहित साथ—साथ रहने देने का अवसर प्रदान करता है और इस प्रकार भिन्न—भिन्न धाराओ मे बहने वाले लोगो मे एकता बनाए रखता है। समन्वय की भावना का जनक उदारभाव है। भारतीय समाज की समन्वयात्मक प्रवृत्ति के विवेचन द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयास आगे किया जायेगा कि किस तरह भारतीयो ने समन्वय द्वारा एकता स्थापित करने का प्रयास किया। कर्म के सिद्धान्त पुनर्जन्म और मोक्ष जैसे सामान्य तत्त्वो के आधार पर भी सभी हिन्दू एक है। बौद्ध और जैन लोग भी जो नास्तिक हैं कर्म पुनर्जन्म एव मोक्ष मे विश्वास रखते है। आस्तिक हिन्दू भी उक्त बातो को मानते है। अस्तु कर्म मोक्ष तथा पुनर्जन्म की धारणाएँ सभी हिन्दुओ को एक सूत्र मे बाँधने का कार्य करती हैं। यहॉ अनेकता मे एकता वैसे ही है जैसे सूत्र में पिरोए मूँगे अलग—अलग

अस्तित्व रखते हुए भी अलग नही है।

(3) **समन्वयात्मकता–** भारतीय समाज मे समन्वय का अदभुत गुण उपस्थित है। सबको एक मे समेटने का अच्छा प्रयास यहाँ देखने को मिलता है। इसका कारण यह है कि भारतीय सघर्ष से बचने का प्रयत्न करता है। सघर्ष की स्थिति न आने देने के लिए हिन्दू सदा प्रयत्नशील रहा है। यदि उसने सघर्ष का रास्ता अपनाया होता तो जैसे विश्व की अनेक सस्कृतियाँ उदय होकर अस्त हो गई भारतीय सस्कृति भी उन्ही की तरह नष्ट हा जाती। हमारी सस्कृति हजारो वर्षों से गुजरने के बाद भी बनी हुई है इसका रहस्य सघर्ष के स्थान पर प्रेम आत्मीयता एव भाईचारे जैसे तत्त्वो को अपनाने मे छिपा है। भिन्न एव विरोधी तत्वो को एक सूत्र मे बॉधने मे बिखराव का डर बना रहता है। कभी–कभी असगठन की स्थिति भी उभर सकती है। इन कठिनाइयो के बावजूद भी हिन्दुओ को सर्वसमावेशन के कार्य मे काफी सफलता मिली । **एकहि साधे सब सधै, सब साधे सब जाएँ** इस उक्ति म भी वल है। जहॉ समन्वय से हमे फायदा हुआ है वही इसके नुकसानो को भी हम झेलना पडा है। नीचे हिन्दुओ की समन्वयात्मक प्रवृत्ति का विस्तृत विवरण प्रस्तुत है।

आर्य अनार्य सस्कृति के सगम से समन्वय का आरम्भ हुआ। अनार्य सस्कृति की बहुत सी बातो को आर्यो ने अपनी सस्कृति मे लपेट लिया। अनार्यो को शूद्र बनाकर अपना बना लिया। इस पर भी जो शेष रह गये उन्हे पचम वर्ण मे स्थान देकर अपना लिया। पहले तीन पुरुषार्थ एव तीन आश्रम थे। इसका कारण यह था कि आर्य वैराग्य पथी नही थे। प्रागार्यो बौद्ध एव जैनियो की वेराग्य वृत्ति को आर्य सस्कृति मे स्थान देने के लिए मोक्ष को चौथा पुरुषार्थ और सन्यास को चौथा आश्रम बना लिया। शकर जो प्रागार्य देवता कहे जाते हैं उन्हे अपने देवगण मे सम्मिलित ही नही किया वरन् उन्हे देवाधिदेव के रूप मे प्रतिष्ठित किया। आर्यो मे जो वृक्षो और जन्तुओ की पूजा होती है, लगता है इसे आर्यों ने अनार्यो से ग्रहण किया है । सर्पो की पूजा के लिए हिन्दुओ मे नागपचमी का त्योहार मनाया जाता है । पीपल एव बरगद पूजने की प्रथा आज भी हिन्दुओ मे विद्यमान है। जादू–टोना और पूजा–पाठ जैसे अनार्य तत्त्वो को आर्यो ने स्वीकार कर लिया। प्रागार्य टोटेमिक समूह जिन पशुओ जन्तुओ और पक्षियो को पूज्य समझते थे आर्यो ने अपनी सस्कृति मे मिलाने के लिए उन्हे अपने देवताओ के वाहन के रूप मे स्थान दिया। बैल शकर का वाहन है। चूहा गणेश जी की सवारी है। गरुण पक्षी विष्णु का वाहन बनाया गया। भैसा को यमराज की सवारी घोषित किया गया। हस सरस्वती जी का वाहन है। शेर की काली जी के वाहन के रूप मे प्रतिष्ठा है।

मुसलमानो के आने से पहले भारत देश मे धार्मिक–सास्कृतिक क्षेत्र मे जो कार्य होते थे उन्हे हिन्दू कार्य माना जाता था। मुसलमान और ईसाई जब यहॉ आये तो जिस तरह अनार्यो से समन्वय और समझौता का प्रयास हिन्दुओ ने

किया था उसी तरह मुसलमानो एव ईसाइया क साथ भी समझौता करने की कोशिश की और अपनी उदार भावना से उन्ह प्रभावित करने का पूर्ण प्रयास किया। परन्तु खेद है कि हिन्दुओ को इस प्रयास मे अधिक सफलता नही मिल पाई। इस असफलता का प्रथम कारण यह था कि मुसलमानो और ईसाइयो का धार्मिक सगठन सबल था। दूसरे वे लोग शासक थे। उक्त दोनो कारणो से जो कुछ भी समन्वय हुआ भी वह समन्वय न होकर मिश्रण मात्र रह गया और मुसलमानो तथा ईसाइयो की धार्मिक सास्कृतिक बातो को पचाने मे हिन्दू असमर्थ रहे। हिन्दुओ की उदारता का प्रभाव कुछ मुसलमानो पर अवश्य पडा जिससे वे हिन्दू देवी–देवताओ की भक्ति मे कविता रचने लग जैसे रसखान रहीम आदि।

हिन्दू धर्म के विरोधी धर्म क रूप मे जैन धर्म एव बौद्ध धर्म की ख्याति है क्योकि जैन और बौद्ध लोग पूर्णतया अनीश्वरवादी हैं। इस विरोध के बावजूद भी हिन्दुओ ने इन धर्मों को अपने मे समेटने का प्रयास किया । महात्मा बुद्ध को भगवान विष्णु के चौबीस अवतारो मे स्थान दिया गया।

(4) आध्यात्मिकता—आध्यात्मिकता भारतीय सस्कृति का मूलाधार है। आध्यात्मिकता का सबध परलोक से है। हिन्दू इस ससार से बाह्य एव परे सर्वोच्च सत्ता मे विश्वास करता है। इस सर्वोच्च सत्ता को हिन्दू ब्रह्म कहता है। ब्रह्म सर्वशक्तिमान त्रिकालज्ञ सर्वव्यापक सर्वाधार एव सर्वभूत नियता है। इस ब्रह्म को प्राप्त करने अथवा उसमे विलीन होने पर हिन्दू की निगाह टिकी रहती है क्योकि वही उसका वास्तविक घर है। वही (ब्रह्म) पूर्ण है और मनुष्य जो उसका अश है अपूर्ण है। अपूर्ण मनुष्य उसमे (ब्रह्म मे) विलीन होने पर पूर्णता को प्राप्त होगा। मनुष्य रूपी अपूर्णता के ईश्वर रूपी पूर्णता मे विलीन होने की स्थिति मोक्ष है। यहॉ पर इस बात का उल्लेख करना अनावश्यक नही है कि जहॉ हिन्दू आध्यात्मिकता पर बल देता है वही सासारिक सत्ता (जगत) के अस्तित्व को नकारता नही है। ससार को कालिक एव ससीम (temporal and finite) मानता है तो ईश्वर को शाश्वत एव असीम (Eternal and infinite) । जगत की वास्तविकता ब्रह्म से सबधित होने पर है। ब्रह्म से पृथक् होने पर जगत अर्थहीन है। सासारिक कर्त्तव्यो का निर्वाह करते हुए ब्रह्म साक्षात्कार का विधान यहॉ है।

(5) नैतिकता—नैतिक आचरण भारतीय सस्कृति की एक अन्य मौलिक विशेषता है । हिन्दू नैतिक नियमबद्ध अनुशासनबद्ध जीवन का हिमायती है। अहिसा नैतिक जीवन का प्रथम एव महत्त्वपूर्ण पहलू है। जियो और जीने दो अहिसा का मूलमत्र है। अहिसा सघर्ष पथ से दूर रहने की सलाह मनुष्य को देती है। यदि मनुष्य समाज और राष्ट्र के विकास के पथ अहिसा के हो तो मनुष्य और मनुष्य समाज और समाज, मनुष्य और समाज राष्ट्र और राष्ट्र के बीच सघर्ष का प्रश्न ही न उठे और ये एक दूसरे के विकास मे बाधक बनने के

बजाय साधक बने। डा राजेन्द्र प्रसाद के मतानुसार अहिसा भारतीय सस्कृति का मूलाधार है। अहिसा परमो धर्म का आशय भी यही है। डा राजेन्द्र प्रसाद जी लिखत हैं कि जहॉ–जहॉ हमारे नैतिक सिद्धान्तो का वर्णन आया है अहिसा को ही उनमे मुख्य स्थान दिया गया है। अहिसा का दूसरा नाम या दूसरा सकल्प त्याग है और हिसा का दूसरा रूप या दूसरा नाम स्वार्थ है जो प्राय भोग के रूप मे हमारे सामने आता है। पर हमारी सभ्यता ने तो भोग भी त्याग से ही निकाला है और भोग भी त्याग मे ही पाया है। अपनी अहिसा अथवा त्यागमयी भावना के कारण यहॉ भिन्न–भिन्न धर्म सम्प्रदाय एव विचारधाराऍ अपने–अपने रास्ते बिना रोकटोक के बहते हुए पनपते रहे। हमने इसी कारण भिन्न सस्कृतियो को अपने मे मिलाया और उनमे अपने को मिलने दिया।

यदि हम चाहते हैं कि हमारा समाज अन्याय एव शोषण के दुर्गुणो से मुक्त रहे तो हमे नैतिक चेतना का आश्रय लेना पड़ेगा जिसमे वैयक्तिक लाभ एव भोग की भावना गौण है और वैयक्तिक त्याग तथा सामाजिक कल्याण की भावना मुख्य है । वैयक्तिक कर्त्तव्य और सेवा भाव पर जोर देने से व्यक्ति और समाज दोनो के हितो की निर्बाध सिद्धि होगी इसमे जरा भी सशय का स्थान नही है। किसी कार्य करने के पीछे निहित भावना का बडा असर हुआ करता है और बडे परिणाम भी होते हैं। जब व्यक्ति सब कुछ अपने–अपने लिए करते हैं तो उसमे सघर्ष का भय सदा बना रहता है और जब वह परोपकार की भावना से (दूसरो के ख्याल से) सब कुछ कर रहा है तो सघर्ष नहीं होगा क्योकि व्यक्ति अपने लिए कुछ नही कर रहा है और जो कुछ कर रहा है वह दूसरो के लिए।

(6) धर्म अथवा आचार सहिता– सास्कृतिक मूल्य व्यवस्था अथवा आचरण के नियम–समूहो को धर्म की सज्ञा दी गयी। भारतीय सस्कृति का प्राण धर्म है। धर्म कर्त्तव्यो की एक व्यवस्था भी है। धर्म करणीय कार्य है। यह भारतीय सस्कृति के मूलाधारो मे सबसे प्रबल और प्रभावक तत्त्व है । धर्म के माध्यम से मनुष्य के कर्त्तव्यो की व्यवस्था की गई । मनुष्य के लिए निर्धारित कर्त्तव्यो का नाम मानव धर्म रखा गया । मनुष्य–मनुष्य है इसलिए मनुष्य होने के नाते उसे कुछ कर्त्तव्य करने है। परन्तु हर मनुष्य समाज मे अलग–अलग पदो और ओहदो पर हे। इन आहदो से सबधित कार्य विशिष्ट धर्म की कोटि मे स्थान पा गये। विशिष्ट धर्म को गीता मे स्वधर्म कहा गया है। गीता ने व्यक्ति को स्वधर्म पालन की शिक्षा दी है (स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह)। धर्म व्यवस्था कर्त्तव्य विभाजन की व्यवस्था है।

(7) पुनर्जन्म और कर्म का सिद्धान्त– पुनर्जन्म मे विश्वास हमारी सस्कृति का प्रमुख तत्त्व है। पुनर्जन्म इस सिद्धान्त पर आधारित है कि जीवन श्रृखलामय है। यह जीवन सब कुछ नही है। इसके पहले न जाने कितने जीवन आए होगे और न जाने कितने बाद मे होगे। इसकी कडियॉ अनन्त है। पता नही कब से हम कर्म करते चले आ रहे है और न जाने कब तक कर्म करते रहेगे।

श्रृखला का अन्त तभी होगा जब हम ऐसे कार्य करेगे जा अनासक्त होग। काम्य कर्मों से हम कर्म बन्धन मे बॅधते रहेगे और बार–बार जन्म (पुनर्जन्म) लेते रहेगे और जीवन श्रृखला की कडियो को बढाते चले जायेगे । जीवन श्रृखला की कडियॉ यदि कट सकती है तो निष्काम कर्मो से क्योकि निष्काम कर्म ब्रह्म से सक्षात्कार कराने वाले माने गये है।

(8) गतिशीलता– गतिशीलता के गुण के कारण भारतीय सस्कृति नष्ट होने स बची रही। हमारी सस्कृति स्थिर नही है। हमारी सस्कृति के आन्तरिक तत्त्व अत्यधिक प्रभावित नही हुए लेकिन इसके बहुत से बाहरी तत्त्व विदेशी सस्कृतियो के सम्पर्क मे आने से रूपान्तरित हो गये जैसे पारिवारिक आदर्श एव मूल्य वैवाहिक एव जातिगत मान्यताऍ पहनावा रहन- सहन भोजन सबधी रीति–रिवाज जनरीतियॉ प्रथाऍ अन्धविश्वास एव धर्मगत कटटरता आदि। उत्तर वैदिक महाकाव्य एव स्मृतिकाल मे वैदिक सस्कृति अपने मौलिक रूप से भिन्न हो गई। मनु ने जिस ब्राह्मण सास्कृतिक प्रतिमान को प्रस्तुत किया वह भी रूपान्तरित हुआ। ग्रीक वेक्टोरियन कुशाण शक हूण गुर्जर मुसलमान पुर्तगाली फ्रासीसी और अग्रेज आदि विदेशी इस देश मे आये है । इनकी सस्कृति का प्रभाव हमारी सस्कृति पर पडा है । इनमे से अधिकाश व्यक्तियो ने हिन्दू धर्म को स्वीकार किया और अपने योगदान द्वारा हिन्दू सस्कृति को प्रभूत मात्रा मे प्रभावित किया। ईसाई ओर इस्लाम सस्कृतियो ने हमारी सस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया है, फिर भी इनके प्रभाव से हमारी सस्कृति के मूल तत्त्व अप्रभावित रहे। हमने इनके कुछ सास्कृतिक तत्त्वो को अपनी सस्कृति मे अनुग्रहण कर लिया। भारतीय सस्कृति ने विदेशी सस्कृतियो के जिन तत्त्वो को अपनाया उन्हे अपने तरीके से तोड–मरोडकर ग्रहण किया और अपनी मौलिक विशेषताओ को इनके प्रभाव से लगभग मुक्त रखा। यही कारण है कि भारतीय सस्कृति आज भी अपने गौरव के साथ जीवित है।

गुप्तकाल मे हमारी सस्कृति अधिक समुन्नत हुई। कला एव साहित्य मे उल्लेखनीय प्रगति हुई। सस्कृति भाषा को पुन आदर मिला। बुद्ध सूर्य आदि की मूर्तियॉ और अजन्ता की गुफाओ मे बने चित्र इस युग की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ है। गणित ज्योतिष और चिकित्सा के क्षेत्र मे सराहनीय कार्य हुए। वेदान्त पर अपने भाष्य द्वारा शकराचार्य जी ने अद्वैत दर्शन को प्रतिपादित किया और चारो दिशाओ मे हिन्दू धर्म का झडा फहराया। धार्मिक सहिष्णुता गुप्त युग की बहुत बडी विशेषता है। इसी धार्मिक सहिष्णुता के कारण हिन्दू धर्म मे मत–मतान्तरो की बाढ आ गई जिनकी प्रतिक्रिया आगामी युग मे हिन्दू सस्कृति के लिए हानिकारक सिद्ध हुई। खजुराहो तथा कोणार्क के मन्दिरो की काम प्रदीप्त करने वाली मूर्तिकला के रूप मे यौन विकार अपने शिखर पर पहुँच गया। सन्यास के उपदेश द्वारा यौन विकृति के विकास के विरुद्ध चेतावनी दी गई।

इस्लाम की विजय से यहॉ मुस्लिम राज्य की स्थापना हुई जिससे हिन्दू

धर्म एव सस्कृति को गहरा आघात पहुँचा। हिन्दुआ को जबरन मुसलमान बनान का कार्य आरम्भ हुआ। कुछ हिन्दू मुसलमान बन गये लेकिन हिन्दुआ ने मुसलमानो की इस प्रवृत्ति का डटकर यहाँ तक कि जीवन मूल्य चुकाकर विरोध किया। जिन लोगो को मुसलमान बनाया जाता था उन्हे हिन्दू धर्म मे वापस नही लिया जाता था। ब्राह्मण सस्कृति का रुख निम्न जातिया क प्रति इतना खराब था कि वे इस्लाम धर्म अगीकार करने को विवश हो चुकी थी। इस्लाम धर्म मे हिन्दुओ के दीक्षित होने की प्रक्रिया का असर यह हुआ कि हिन्दू धर्म एव सस्कृति रूढिवादी हो चली। राजाराम माहन राय स्वामी दयानन्द सरस्वती महादेव गोविन्द रा ाडे रामकृष्ण परमहस विवेकानन्द रवीन्द्र नाथ ठाकुर स्वामी रामतीर्थ और श्रीमती एनी वेसेंट आदि समाज–सुधारको एव धर्म-सुधारको के उपदेशो एव प्रयत्नो के फलस्वरूप भारतीय सस्कृति की आत्मा एक बार पुन जागी। इन महात्माओ ने भारतीय सस्कृति का पुनरुद्धार किया। पुनरुद्धार के फलस्वरूप हिन्दू धर्म मे व्याप्त रूढिवादिता अन्धविश्वास आदि समाप्त हो गये। साथ ही मुसलमान ओर ईसाई बने लोगा को यदि वे चाह तो हिन्दू धर्म मे फिर स लौट आने देने की व्यवस्था का सूत्रपात्र हुआ।

उक्त विशेषताओ से यह भ्रम निर्मूल सिद्ध हो जाता है कि भारतीय सस्कृति मिली–जुली सस्कृति है अथवा इस सस्कृति मे अपना कुछ नही है। अन्य सस्कृतियो के लगातार सम्पर्क मे रहने पर भी यह अपने मौलिक लक्षणो से युक्त है। इसके आधार एव सिद्धान्त नही बदले है केवल बाहरी तत्त्वो मे थोडा बहुत हेर–फेर हुआ है।



अध्याय 3

वर्ण व्यवस्था

The Fourfold varna hıeraıchy

हिन्दू व्यवस्थाकारो ने समाज और व्यक्ति के जीवन की व्यवस्थाओ का नेर्माण करते समय सामाजिक विकास और वैयक्तिक विकास पर अधिक ध्यान देया। वर्ण व्यवस्था का सबध सामाजिक विकास से है। आश्रम योजना व्यक्ति के विकास से सबधित है। व्यक्ति और समाज के विकास मे कही पर भी सघर्ष न हो इसका ध्यान रखा गया। द्वन्द्व एव सघर्ष से बचने के लिए ही कर्त्तव्य वेभाजन के आधार पर समाज का चार वर्णो मे विभाजन मिलता है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि सभी मनुष्यो की रुचि सभी कामो मे नही होती है। रुचि और स्वभाव के अनुकूल कर्म विभाजन की व्यवस्था वर्णों मे मिलती है। सबका काम बॅटा होने पर भी समाज का सचालन सबके सम्मिलित कार्य पर आधारित है। कार्य दृष्टि से सभी वर्ण एक दूसरे पर निर्भर तथा एक दूसरे के सहायक हैं। केसी का भी मूल्य दूसरे से कम नही है। यहॉ आचार एव कर्म को महत्त्व दिया गया है।

वर्ण एव वर्ण व्यवस्था का अर्थ— वर्ण शब्द वृ धातु से बना है जेसका अर्थ है वरण करना चुनना चयन करना आदि। अत वर्ण का सम्बन्ध पेशो के चयन से है। कुछ विद्वान वर्ण शब्द का प्रयोग आर्यो और अनार्यों के मध्य अन्तर करने के लिए हुआ ऐसा मत व्यक्त करते है। वर्ण से रग का भी आशय लिया जाता है। हिन्दू समाज व्यवस्था मे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चार वगो को समझने के लिए वर्ण शब्द का प्रयोग किया गया। इन चारो के कर्त्तव्य और स्थान निश्चित करने वाली व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था कहा गया है।

वर्ण की उत्पत्ति

वैदिक मत— वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति सबधी विचार हिन्दू ग्रन्थो मे मिलते है। हिन्दू साहित्य पर विचार करते ही सर्वप्रथम ध्यान वैदिक साहित्य की ओर जाता है। सबसे पुरातन वेद ऋग्वेद मे वर्ण की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। यहॉ पुरुष सूक्त' मे उद्धृत एक मन्त्र मे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रो की उत्पत्ति क्रमश विराट पुरुष के मुख बाहु जघा और पैर से हुई ऐसा उल्लिखित है[1]। शरीर व्यवस्था में मुख, बाहु जघा और पैर के कार्य व स्थान

---

1 ब्राह्मणाऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत ।
ऊरु तदस्य यद्वैश्य पदभ्या शूद्रोऽजायत।। ऋग्वेद10/90/12

भिन्न–भिन्न है। इसी तरह समाज व्यवस्था मे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के कार्य व स्थान भिन्न–भिन्न हैं । मुख का स्थान सर्वोपरि है। समाज व्यवस्था मे ब्राह्मण शीर्षस्थ है। मुख बोलने का स्थान है अर्थात् मुख से बोलने का कार्य सम्पन्न होता है। समाज व्यवस्था मे ब्राह्मणो के कार्य मुख–कार्य के सदृश हैं। ब्राह्मणों के मुख्य कार्य पढाना और यज्ञ कराना है। जैसे मुख के पश्चात स्थान बाहुओ का आता है और बाहु का कार्य शक्ति प्रदर्शित करने और शरीर की रक्षा करने का है वैसे ही समाज मे क्षत्रिय का स्थान ब्राह्मण से भिन्न है और समाज की रक्षा करना उसका परम कर्त्तव्य है। बाहु के पश्चात् जघा का स्थान है। जघाओ का यहाँ प्रतीकात्मक अर्थ पेट (उदर) से लिया गया है। पेट का कार्य खायी हुई सामग्री को पचाकर रक्तादि मे परिवर्तित कर समस्त शरीर को पोषित करना है। समाज मे वैश्यो का स्थान क्षत्रियो के पश्चात् आता है और उनका कार्य समाज के पोषण से सबधित है। इसलिए गोपालन कृषि और व्यापार वैश्य के कर्म ठहराये गये। शरीर मे पैरो का स्थान सबसे निम्न है। पैरो से उत्पन्न शूद्रो का स्थान भी वर्ण व्यवस्था मे सबसे निम्न है। पैर बिना किसी ईर्ष्या अथवा द्वेष के समस्त शरीर की सेवा करते हैं। उदाहरणार्थ नाटक देखने अथवा भाषण सुनने के लिए पैर आँख और कान को इनके वाछित स्थान तक ले जाते है। नाटक देखने और भाषण श्रवण करने का आनन्द पैरो को न मिलकर क्रमश ऑख और कान को मिलता है। इसी प्रकार वर्ण व्यवस्था मे शूद्रो का एकमात्र कर्त्तव्य ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य (इन तीनो वर्णों) की सेवा सुश्रूषा करना बताया गया है। अत उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रो के स्थान व कार्य शरीर के जिन अगों से वे उत्पन्न हुए हैं उनके तुल्य हैं।

उपनिषदो का मत–उत्तर वैदिक साहित्य मे भी वर्णोत्पत्ति विषयक विचार उपलब्ध हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् मे उल्लेख है कि आरम्भ मे एक ब्रह्म ही था। पहले क्षत्रियादि भेद नही था। वह ब्रह्म क्षत्रियादि पालन कर्त्ता से शून्य होने के कारण विभूतियुक्त कर्म करने मे समर्थ नहीं हुआ। तब उसने श्रेयो रूप क्षत्र (अर्थात क्षत्रिय जाति) की रचना की। अर्थात् देवताओ मे जो इन्द्र वरुण सोम रुद्र यम मृत्यु और ईशानादि हैं उन्हे उत्पन्न किया। वह ब्रह्म फिर भी विभूतियुक्त कर्म करने मे समर्थ नही हुआ। अत उसने वैश्य जाति की रचना की। अर्थात् वसु रुद्र, आदित्य विश्वेदेव और मरुत् इत्यादि को उत्पन्न किया। फिर भी वह विभूतियुक्त कार्य करने मे समर्थ नही हुआ तो उसने शूद्र वर्ण की रचना की। इसके बाद भी जब वह विभूतियुक्त कर्म करने मे समर्थ नही हुआ तब उसने अतिशय श्रेयोरूप धर्म को रचा। यह जो धर्म है क्षत्रिय का भी नियंता है अत धर्म से उत्कृष्ट कुछ नही है। इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार दैवी वर्णों से मृत्युलोक (पार्थिव ससार) के इन वर्णों की उत्पत्ति हुई।[2]

2 'The earthly varnas are in the opinion of Brihadaranyakopanishad thus created out of these divine varnas '
P H Prabhu, Hindu Social Organization, Popular Prakashan, Bombay 1963, Page-292

महाभारत का मत– महाभारत महाकाव्य के शान्तिपर्व मे भृगु और भरद्वाज के सम्वाद द्वारा वर्णों की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। प्रारम्भ मे इस विश्व मे कवल एक वर्ण था। कर्म–क्रिया के विभेद के आधार पर वर्ण--चतुष्टय की सृष्टि हुई। ब्राह्मणो का रग सफेद था। क्षत्रियो का लोहित वैश्यो का पीत (पीला) और शुद्रो का रग असित (काला) था। भरद्वाज जी ने कहा कि ससार म बहुत से प्राणी है और उनके रग भी विविध है। फिर इन चार प्रकार के रगो की कोटियो मे तो इन नाना प्रकार के रग वाले मनुष्यो को रखना बहुत मुश्किल कार्य रहा होगा। इसका उत्तर भृगु इस प्रकार देत है। पहले वर्णों मे कोई अन्तर नही था। समस्त विश्व ब्राह्मणमय था। बाद को कर्म भेद से द्विजो (ब्राह्मण) मे वर्ण भेद हो गया[3]। जो द्विज ब्राह्मणोचित कर्मों का त्यागकर विषय भोग मे आसक्ति रखने लगे तीखे स्वभाव, क्रोध और साहस आदि से युक्त थे जिनके शरीर का रग लाल हो गया वे क्षत्रियत्व को प्राप्त हुए। वे द्विज जिन्होंने पशुपालन खेती आदि की वृत्ति अपना ली तथा जिनके रग पीले पड गये थे और जिन्होने ब्राह्मणो के लिये निर्धारित धर्म को छोड दिया था वे वैश्यभाव को प्राप्त हुए। पुन वे ब्राह्मण जो असत्य बोलने लगे शौच परिभ्रष्ट हो गये भक्ष्याभक्ष्य का विचार छोड दिया लोभी बन गये जीविका के लिए सभी प्रकार के निद्य साधनो को अपनाया काले रग से युक्त हो जाने के कारण शूद्रत्व को प्राप्त हो गये। इस प्रकार ये चार वर्ण हुए।

सृष्टा के अगो से भिन्न–भिन्न वर्णों के उत्पन्न होने का विचार महाभारत द्वारा भी पुष्ट किया गया है। अत महाभारत क अनुसार ब्रह्मा जी के मुख से ब्राह्मण दोनो भुजाओ से क्षत्रिय तथा दोनो ऊरुओ स वैश्य की सृष्टि हुई। इन तीनो वर्णों की सेवा के लिए ब्रह्मा जी के दोनो पैरो से शूद्र वर्ण की सृष्टि हुई।[4] पृथ्वी पर धर्म काष की रक्षा शासन और दण्ड धारण धनधान्य द्वारा तीनो वर्णों के पोषण और तीनो वर्णों की सेवा के लिए क्रमश ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सृष्टि हुइ[5]।

मनुस्मृति का मत– मनुस्मृति मे भी शब्दान्तर से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के क्रमश सृष्टा के मुख बाहु ऊरु और पैरो से उत्पन्न होने के भाव की आवृत्ति हुई ह[6]।

गीता का मत– श्रीमद्भगवद्गीता मे श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए यह बताया कि गुण–कर्म के भेद के आधार पर चारो वर्णों की सृष्टि मेरे

---

3 न विशेषाऽस्ति वर्णाना सर्वं ब्राह्ममिद जगत्।
ब्राह्मणा पूर्व सृष्ट हि कर्मभिर्वर्णता गतम्।। शान्ति पर्व188/10

4 शा0 पर्व 72/4 5

5 शा0 पर्व 72/6–8

6 मनुस्मृति 1/31

7 अक्रोध सत्य वचन सविभाग क्षमा तथा।
प्रजन स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च।।
आर्जव भृत्यभरण नवैते सार्ववर्णिका । शा0 पर्व 60/7–8

द्वारा ही की गई है (चातुर्वण्य मया सृष्ट गुण–कर्म विभागश)।

वर्ण धर्म– संस्कृत भाषा का धर्म शब्द अनेकार्थी है। परन्तु यहाँ पर धर्म का आशय कर्म कर्त्तव्य अथवा करणीय कार्य है। कुछ धर्म सभी वर्णों के लिए है। इन्हे हम सामान्य धर्म की सज्ञा द सकते हैं। सामान्य कर्मों के अतिरिक्त ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के लिए अलग–अलग विशेष धर्मों का भी उल्लेख धर्म ग्रन्थो मे किया गया है। इन्हे विशिष्ट धर्म कहा जाता है।

सामान्य धर्म– सामान्य धर्म की कोई निश्चित सूची उपलब्ध नही है और न बनाई ही जा सकती है। फिर भी कतिपय सामान्य धर्मों का उल्लेख करना आवश्यक है। महाभारत मे क्रोधाभाव सत्यवादन सविभाग (न्याय) क्षमा शौच (भीतर बाहर की शुद्धि) शत्रुता का अभाव (अद्रोह) स्व स्त्री से सतान उत्पन्न करना आर्जव (सरलता) आश्रित जनो का भरण–पोषण–ये नौ धर्म सभी वर्णों के लिए बताए गए हैं[7]। अहिसा सच बोलना अस्तेय (बिना मागे किसी की वस्तु न लना) शोच और इन्द्रिय–निगह आदि ये पॉच कर्म सभी वर्णो के लिए है ऐसा उल्लेख मनुस्मृति मे मिलता है।

ब्राह्मण के धर्म–पढना और पढाना, यज्ञ करना और यज्ञ कराना दान देना और दान लेना ये छ कर्म मनुस्मृति मे ब्राह्मणो के लिए निश्चित किए गए हैं।

अध्यापनमध्ययन यजन याजन तथा।
दान प्रतिग्रह चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।। मनु01/88

शान्त रहना, दमन तपस्या शौच क्षान्ति आर्जव (सरलता) ज्ञान विज्ञान और आस्तिक्य भाव से युक्त होना– ये ब्राह्मणो के स्वभावजनित कर्म है (गीता18/42)

क्षत्रिय–धर्म– प्रजा की रक्षा करना अध्ययन करना दान देना, यज्ञ करना और विषय भोगो से दूर रहना क्षत्रियो का कर्त्तव्य है (मनुस्मृति1/89)। शौर्य, दृढ़ता और कौशल प्रदर्शित करना, तेज से युक्त होना युद्ध से न भागना दान देना और ईश्वर–भाव से सम्पन्न होना क्षत्रियो का स्वाभाविक धर्म है (गीता18/43)।

वैश्य–धर्म– पशु पालन (गोपालन) यज्ञ करना, पढना दान देना व्यापार करना सूद पर रुपया बॉटना और कृषि करना वैश्य का काम है (मनुस्मृति1 / 90) । वाणिज्य, कृषि और गोपालन वैश्य के स्वाभाविक कर्म है (श्रीमद्भगवद् गीता18 / 44) ।

शूद्र–धर्म– मनुस्मृति[8] और गीता[9] दोनो ग्रन्थो मे ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य की परिचर्या (सेवा) करना शूद्र का एकमात्र कर्त्तव्य बताया गया है।

---

8 एकमेव तु शूद्रस्य प्रभु कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णाना सुश्रुषामनसूयया ।। मनुस्मृति1/91

9 परिचर्यात्मक कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।

वर्ण का आधार–कर्म या जन्म ?

कर्म से वर्ण–निश्चय– वर्ण का आधार क्या था ? अथवा किसी व्यक्ति के वण का निश्चय किस आधार पर होता था ? यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हे। वर्ण व्यवस्था स सबधित ज्ञान प्रदान करन वाले हिन्दुओ के सभी ग्रन्थो म लगभग यह विचार व्यक्त किया हुआ है कि किसी भी व्यक्ति के वर्ण को उसके कर्मो से जाना जा सकता है। **चातुर्वर्ण्य मया सृष्ट गुण–कर्म विभागश –** गीता के इस वाक्य से तो स्पष्ट हे कि वर्ण का आधार गुण और कर्म हैं। **एक वर्णमिद पूर्व विश्वमासीद् युधिष्ठिर। कर्म–क्रिया विभेदन चातुर्वर्ण्य प्रतिष्ठितम् ।।** – महाभारत का यह श्लोक भी इसी बात की पुष्टि करता है कि वर्ण का आधार कर्म है। **जन्मना जायते शूद्र सस्काराद् द्विज उच्यते –** इससे भी यही प्रमाणित होता है कि सस्कार (कर्मो) से व्यक्ति को वर्ण प्राप्त होता है। शास्त्रो मे वर्ण–परिवर्तन क उदाहरण मिलते हे जो इस बात पर प्रकाश डालते है कि वर्ण का आधार कर्म है जन्म नही। क्योकि यदि वर्ण का आधार जन्म होता तो वण परिवर्तन सभव न होता। जहॉ कही समूह या वर्ग की सदस्यता जन्मजात होती है वहॉ पर व्यक्ति उस समूह या वर्ग का सदस्य जीवन पर्यन्त रहता है। उसकी सदस्यता सद्कर्मों या व्यक्तिगत उपलब्धियो के आधार पर बदली नही जा सकती है। वर्णो मे परस्पर आन जाने पर रोक न लगने के कारण वर्ण परिवर्तन सभव हुआ। हिन्दू धर्मग्रन्थो मे वर्ण–परिवर्तन के अनेक उदाहरण मिलते है। उदाहरणार्थ विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय थे लेकिन वे अपने अच्छे कर्मो से ब्राह्मण बन गये। द्रोणाचार्य कृपाचार्य अश्वत्थामा आदि जो कौरव की सेना के सेनापति थे जन्म से ब्राह्मण थे लेकिन अपने–अपने कर्मों से क्षत्रिय कहलाये। मुदगल क्षत्रिय से उत्पन्न मुदगल्य परिवार के लोग ब्राह्मण बन गये[10]। इन उपरोक्त उदाहरणो से यही सकेत प्राप्त होता है कि वर्ण का आधार कर्म था।

कर्म को आधार मानने मे कठिनाइयॉ– ध्यान रहे कर्म को वर्ण का आधार मानने पर अनेक कठिनाइयॉ उत्पन्न होती है। अगर कर्म वर्ण का आधार है तो सर्वप्रथम कठिनाई तो यह उत्पन्न होती है कि कर्मो का मापदण्ड क्या हो ? इसके अलावा इसका निर्धारण कौन करेगा कि किसके कर्म ब्राह्मण वण म जाने के लायक है और किसके शूद्र वर्ण मे जाने के लायक। गुण–कर्मो की परीक्षा के लिए एक समाज सम्मत कमेटी बना कर कर्म–निर्णय की समस्या का हल किया जा सकता है। परन्तु इस कमेटी द्वारा दिये गये कर्म–निर्णय को सभी व्यक्ति मानेगे ही यह भी कम सम्भव है। क्योकि कमेटी के लोग जिसे शूद्र वर्ण प्रदान करे हो सकता है उस कमेटी के विरोधी लोग उसे क्षत्रिय माने और कुछ तटस्थ जन उसे ब्राह्मण कहे। ऐसी स्थिति मे तो एक ही व्यक्ति को कुछ लोग ब्राह्मण कहेगे और कुछ शूद्र। यह स्थिति तो समाज के लिए हानिकारक है। फिर इसकी भी सम्भावना लेशमात्र है कि कर्म–निर्णायक–जन भय और लोभ

10 भागवत पुराण 9 21 33

से विचलित नहीं होंगे। अतः जब कमेटी के लोग भय और लोभ से असपृक्त नहीं रह पायेंगे तो यह लगभग निश्चित ही है कि उपयुक्त व्यक्ति को उपयुक्त वर्ण नहीं मिलेगा। और यह सर्वथा अवांछनीय है कि सही व्यक्ति को सही वर्ण न मिले। हिन्दू इतिहास में इसका कोई प्रमाण अथवा संकेत नही मिलता है कि बडे पैमाने पर किसी कमेटी द्वारा गुण कर्मों की परीक्षा करके व्यक्तियो को वर्ण दिये जात रहे हों। इससे यही सिद्ध होता है कि वर्ण का आधार कर्म नही था।

प्रारम्भ मे शील, प्रतिभा एव वैयक्तिक उपलब्धि से वर्ण निर्धारण– फिर वर्ण का आधार क्या हो ? इस प्रश्न के उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भ मे अपने वर्ण का निर्धारण व्यक्ति स्वय अपने शील और व्यक्तिगत उपलब्धियो तथा प्रतिभा के आधार पर कर लेते थे लेकिन बाद मे वर्ण का आधार जन्म बन गया। प्राय मनुष्यो मे यह साधारण प्रवृत्ति पाई जाती है कि उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए वे व्याकुल नही होते है जो अधिक मात्रा मे उपलब्ध हो अथवा जिसका महत्त्व उनकी दृष्टि मे न हो। प्रारम्भ मे इसी प्रवृत्ति के आधार पर वर्ण–निर्धारण हुआ होगा। जो लोग विद्वान और प्रतिभा सम्पन्न थे और जिनकी वेदो मे रुचि थी वे ब्राह्मण बन गये। जो साहसी थे शक्तिशाली थे और रण–कौशल मे दक्ष थे वे क्षत्रिय बन गये। जो लोग शेष रह गये वे वैश्य बन गये। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य तीन आर्य वर्ण है। चौथा वर्ण अनार्यों का है।

जन्म से वर्ण निर्धारण– प्रारम्भ मे इन तीनो वर्णों के लोग मेल से रहते रहे होगे। कुछ काल के पश्चात् जब ब्राह्मण और क्षत्रियो का सम्मान समाज मे बढा होगा तब सभी लोगो का ध्यान इन्ही वर्णों को प्राप्त करने पर केन्द्रित हो गया होगा। ऐसी स्थिति मे ब्राह्मणो ने क्षत्रियो से सॉठ–गॉठ करके यह नियम बनाया होगा कि ब्राह्मण या क्षत्रिय वही हो सकते है जो ब्राह्मण या क्षत्रिय माता–पिता से उत्पन्न हुए हो। क्षत्रियो के लिए ब्राह्मणो ने इस नियम को शिथिल कर दिया होगा अर्थात् क्षत्रिय ब्राह्मण बन जाते रहे हागे। कुछ काल तक तो ऐसी स्थिति रही होगी कि एक भाई क्षत्रिय हो और दूसरा भाई ब्राह्मण। परन्तु वैश्यो और शूद्रो के लिए नियम मे कोई शिथिलता नही की होगी। कालान्तर मे जब शास्त्र की भाषा बोलचाल की भाषा से भिन्न हो गई तो ब्राह्मणो ने क्षत्रियो से भी विभेद रच लिया और यह कठोर नियम बना दिया कि वर्ण का निर्धारण जन्म से होगा। कर्म को आधार मानने में जो कठिनाइयॉ उत्पन्न होती है जन्म को आधार मानने पर उनका निराकरण हो जाता है।

जन्म ही वर्ण–निश्चय का सही आधार– जन्म को आधार मानने से इसकी संभावना बढ जाती है कि योग्य व्यक्ति को ऊँचा वर्ण मिले और अयोग्य को निम्न वर्ण मिले। मनुष्य को बनाने मे उसके पर्यावरण और वशानुक्रमण का अभूतपूर्व योग होता है। इस बात की सम्भाना अधिक है कि ब्राह्मण की सतान में ब्राह्मणोचित गुण हो और फिर जब ब्राह्मण माता–पिता के साथ वह सतान रहे

तो ब्राह्मणोचित गुणो के पल्लवित ओर पुष्पित हाने का अनुकूल पर्यावरण भी मिल जाता है। अत जन्म क आधार पर ही वर्ण निश्चय होने पर सही व्यक्ति को सही वर्ण मिल पायेगा।

जन्म से वर्ण–निश्चय होने पर भी वर्णोचित सम्मान हेतु कर्म आवश्यक–अब प्रश्न यह है कि क्या ब्राह्मण कहलाने के लिए इतना ही पर्याप्त है कि कोई ब्राह्मण परिवार मे जन्म ले ले ? नही ब्राह्मण के यहाँ जन्म ले लेने से ही काई व्यक्ति ब्राह्मण जैसा सम्मान नही पा सकेगा। ब्राह्मणोचित सम्मान तो उसे तभी मिल पावेगा जब उन कर्मो को करे जो ब्राह्मणो के लिए निध ारित किये गये हो। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रो के लिए निश्चित कर्म निम्न–लिखित है–

ब्राह्मण– जो वेदो के स्वाध्याय मे लगा हुआ है शौच एव सदाचार का पालन करता है यज्ञ स बचे हुए अन्न का भोजन करता है गुरु के प्रति भक्ति रखता हे सत्य म तत्पर हे वह ब्राह्मण है और जिसमे सत्य दान द्रोह न करने का भाव क्रूरता का अभाव लज्जा दया और तप के गुण दिखाई दे वह ब्राह्मण है।

क्षत्रिय– जो क्षत्रियोचित युद्ध आदि मे रुचि रखे वेदाध्ययन करे ब्राह्मण को दान दे और प्रजा से कर वसूल कर उसकी रक्षा करे वह क्षत्रिय कहलाता है।

वैश्य – जो वेदाध्ययन के साथ–साथ व्यापार पशु–पालन और खेती का काम करके अन्न सग्रह करने की रुचि रखता है और पवित्र रहता है वह वैश्य कहलाता है।

शूद्र– वेद और सदाचार का परित्याग कर सब कुछ खाने मे अनुरक्त रहने वाला सभी प्रकार के कर्म करने वाला बाहर–भीतर से अपवित्र रहने वाला शूद्र है।

उपरोक्त कर्म और गुण क्रमश अगर ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र मे अनुपस्थित हो तो उन्हे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र नही माना जायेगा[11]।

अत अगर ब्राह्मण के लक्षण शूद्र मे दिखायी दे और ब्राह्मण मे न हो तो ऐसा ब्राह्मण न तो ब्राह्मण है और न एसा शूद्र शूद्र है। वह शूद्र जिसमे ब्राह्मणोचित लक्षण हो द्विजवत सेव्य हे।

वर्ण और जाति मे अन्तर

वर्ण और जाति नामक पदा को प्राय लोग भ्रमवश एक समझते है और इनमे अन्तर नही करते है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि ब्राह्मण और क्षत्रियादि वर्ण भी है और जातियॉ भी। ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र नाम के चार वर्णो मे से प्रत्येक जातियो के समूह का द्योतन करता है[12]। इसलिए आज

---

11 शूद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्य द्विजे जच्च न विद्यते।

न वै शूद्रा भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मण ।। शा पर्व189/8

12 " As a matter of fact none of the four terms for varna now represents anything but groups of castes ' -J H Hutton Caste in India P-66

का ब्राह्मण एक जाति है यह कथन सत्य है। ब्राह्मण वास्तव मे एक जाति न होकर जातियो के एक समूह का प्रतिनिधित्व करता है। अस्तु ब्राह्मण क्षत्रियादि नामो के आधार पर वर्ण और जाति को एक समझना निरी अज्ञानता हे। हटन जैसे विद्वान जाति और वर्ण को दो भिन्न प्रत्ययो के रूप मे स्वीकार करते है। आप वर्ण और जाति मे भेद करते है[13]। जाति और वर्ण के भेद को निम्नाकित बिन्दुओ मे रखा जा सकता है।

(1) **शाब्दिक भेद–** जाति और वर्ण दो अलग–अलग शब्द हे। वर्ण शब्द रग का द्योतक हे लेकिन जाति से रग का आशय कभी नही लगाया जाता। वर्ण का अर्थ वरण करना अथवा चुनना भी है पर जाति का सबध जन्म से है।

(2) **सख्या भेद–** वर्ण चार है परन्तु जातियॉ तीन हजार के लगभग है।

(3) **समय–भेद–** वर्णों का उदय हिन्दू समाज मे पहले हुआ और जातियॉ बाद को अस्तित्व मे आईं। हालाकि यह बता पाना कठिन है कि वर्णों से कब जातियॉ बनी फिर भी विद्वानो का अनुमान है कि महाकाव्यकाल और स्मृति काल मे वर्णों से जातियॉ बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी।

(4) **मुक्तता और अमुक्तता का भेद–** वैदिक कालीन वर्णों म खुलापन था क्योकि उस समय वर्ण की सदस्यता का निर्धारण कठोरता के साथ जन्म के आधार पर नही होता था। वर्ण अपने आरम्भिक काल मे मुक्त वर्ग थे लेकिन जातियॉ सदैव बन्द वर्ग रही और उनमे कभी खुलापन नही था। उनमे सामाजिक गतिशीलता का अभाव था क्योकि जाति की सदस्यता जन्म के आधार पर प्राप्त होती है।

(5) **अस्तित्व और अभाव का भेद–** वर्ण व्यवस्था आज मृत है लेकिन जातियॉ अपने जीर्ण शीर्ण रूप मे आज भी विद्यमान है।

(6) **छुआछूत का भेद–** छुआछूत सबधी भेद जातियो मे मुख्य रूप से मिलता है लेकिन वर्णों मे इस प्रकार का भेद नही दीखता। इस छुआछूत की धारणा के कारण जातियो मे भोजन व विवाह सबधी निषेधो के लिए स्थान है। एक जाति के लोग रोटी–बेटी का सबध सबसे नही करते है। वर्णों मे भोजन सबधी निषेधो का वर्णन नही मिलता है और न ही विवाह के सबध मे जाति जैसा कठोर प्रतिबध है।

(7) **वर्ण के नियम लचीले एव जाति के कठोर है–** जाति के नियम कठोर है जिससे इन नियमो का उल्लघन और अन्य जातीय मामलो का निपटारा करने के लिए जाति पचायतो की व्यवस्था है। वर्ण के नियम लचीले थे अत वर्ण व्यवस्था मे वर्ण पचायत जैसी कोई सस्था नही है।

निष्कर्ष– उक्त विवरण से स्पष्ट है कि वर्ण और जाति दो भिन्न–भिन्न धारणाऍ हैं जिनका जन्म भिन्न–भिन्न कालो मे हुआ जिनकी मान्यताऍ विशेषताऍ एव अर्थ भिन्न–भिन्न है। ऐसी भी सम्भावना हो सकती है कि वैदिक काल के वर्ण जातियॉ न हो वरन वर्ग हो और वैदिक काल के बाद के विद्वानो ने वेदो से

---

13 J H Hutton Ibid, P-64,

जाति व्यवस्था का प्रमाण जुटाने के लिए वर्ण की प्रकृति की व्याख्या जाति व्यवस्था के रूप मे कर डाली हो क्योकि वे जाति व्यवस्था से परिचित थ। आज का वर्ण किसी भी कीमत पर एक जाति नही है। आज का एक वर्ण कई जातियो का समुच्चय हे। हटन महोदय के शब्दो मे जाति एव वर्ण का अन्तर निम्नलिखित है–

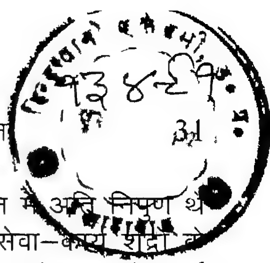
" In short' varna like caste is a somewhat indeterminate expression, and persons belonging to one varna in one locality may be otherwise classified in another It is wider and vauger than caste like which it is a variable social unit[14]"

वर्ण व्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्त्व

कोई भी सामाजिक व्यवस्था कितनी महत्त्वपूर्ण है इसका अनुमान उस व्यवस्था की अच्छाइयो एव उसकी उपयोगिता से लगाया जा सकता है। अच्छाइयॉ व्यवस्थाकार की गहरी सूझबूझ से आती है। परम्परागत भारतीय समाज मे मनु जैसे व्यवस्थाकार हुए है जिनकी प्रतिभा सूझबूझ एव तुलना का व्यवस्थाकार मिलना दुर्लभ है। हिन्दू व्यवस्थापको ने भारतीय समाज को वर्णों के रूप मे व्यवस्थित किया है। समाज का वर्णों मे विभाजन कार्य (श्रम) के आधार पर हुआ। वर्ण कार्यों का आवटन प्राकृतिक क्षमता योग्यता एव रुचि के आधार पर किया गया। किसी भी कार्य को कम महत्त्वपूर्ण नही ठहराया गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य एव शूद्र सभी के कार्य अपनी–अपनी जगह महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु स्मरण रहे कि कार्य की गुरुता के आधार पर श्रेणीकरण अवश्य हुआ। कार्यों मे पारस्पर्य का सम्बन्ध स्थापित करने से एकता एव सगठन बने रहे। अपनी रुचि एव प्राकृतिक गुणो के आधार पर सलग्न कोई भी वर्ण अपना कर्त्तव्य (धर्म) समझकर अपना कार्य पूर्ण करता था। यदि सभी तरह के कार्य एक व्यक्ति समूह अथवा वर्ण के हाथ मे केन्द्रित कर दिये गये होते तो वर्ण व्यवस्था (समाज व्यवस्था) अति शीघ्र छिन्न–भिन्न हो जाती। यदि व्यवस्था मे बेलोचपन होता तो भी नष्ट हो जाती। अत व्यवस्था मे गतिशीलता का विधान रखा गया। उपरोक्त गुणो एव अच्छाइयो के कारण ही वर्ण व्यवस्था मे बल है और इसकी महत्ता मे कोई सन्देह नही है। इसके महत्त्व को और अधिक स्पष्ट करने के लिए निम्नाकित बातो पर विचार कर लेना उचित होगा।

(1) **आदर्श श्रम–विभाजन**– वर्ण व्यवस्था कार्य–विभाजन की आदर्श व्यवस्था है। राष्ट्रीय एव सामाजिक महत्त्व के चार कार्य हैं–(1) शिक्षा अथवा ज्ञान परम्परा का विस्तार (2) रक्षा–कार्य, (3) आर्थिक कार्य, और (4) सेवा सम्बन्धी कार्य। इन्ही चार कार्यों को सम्पादित करने के लिए हिन्दू व्यवस्थापको ने इस व्यवस्था का निर्माण किया । ज्ञान–परम्परा को आगे बढाने का कार्य इस कार्य मे दक्ष एव रुचि रखने वाले ब्राह्मणो को सौंपा गया। रक्षा–कार्य मे विशेष पटु क्षत्रियो को

14 Hutton, Ibid, P-67



रक्षा कार्य दे दिया गया। वैश्य अपने स्वभाव से धनोपार्जन मे अति निपुण थे लिहाजा यह कार्य उनके लिए सुरक्षित कर दिया गया। सेवा–कार्य शूद्रो के स्वभावानुकूल था अत यह कार्य उन्हे प्रदान किया गया। उपरोक्त चारो कार्य स्वतत्र न होकर परस्पर सम्बन्धित है और इसलिए चारो वर्ण भी परस्पर सम्बन्धित है और चूँकि ये चारो कार्य महत्त्वपूर्ण हैं इसलिए इनके कर्त्ता चारो वर्ण भी कार्य–दृष्टि से समान महत्त्व रखते हैं।

(2) **कर्त्तव्य प्रधान व्यवस्था–** प्रत्येक वण को अपने कार्य कर्त्तव्य समझकर पूरा करने की आज्ञा दी गयी। वर्ण–धर्म के रूप म चारा वर्णो क कर्तव्य निश्चित कर दिये गये। कर्त्तव्य पालन पर जोर दिया गया। कर्त्तव्य पालन पर जोर देने के कारण सघर्ष द्वन्द्व वैयक्तिक स्वतत्रता और स्वच्छन्दता के दोषो से यह व्यवस्था मुक्त रही। अनावश्यक स्पर्धा से भी बची रही। कुछ लोग प्रतियोगिता के अभाव के कारण इसे दोषयुक्त मानते है। यह व्यवस्था प्रतियोगिता मुक्त इसलिये थी क्योकि जब यह व्यवस्था वनी उस समय समाज सरल था जनसख्या का दबाव नही था लागो की आवश्यकताये इतनी अधिक नही थी। अत इसका स्पर्धामुक्त होना स्वाभाविक था। कर्तव्य–पालन न करने से तो कोई व्यवस्था चल नही सकती है। किसी भी व्यवस्था मे कर्त्तव्य–पालन (प्रस्थिति-भूमिका निर्वाह) द्वारा सगठन व एकता के तत्त्व उपस्थित रह सकते है। अधिकार–क्षेत्र बढाने से एव अधिकारो पर बल देने से सघर्ष को बढावा मिलता है और साथ ही सगठन एव एकता को क्षति पहुँचती है। धर्म प्रधान (कर्त्तव्य प्रधान) होने के कारण भारतीय समाज व्यवस्था दीर्घजीवन प्राप्त कर सकी। आज के युग मे जो विकार एव अव्यवस्था के तत्व प्रकट हो रहे है मेरी समझ मे वे कर्त्तव्य –उपेक्षा के सहज परिणाम है। यदि किसी भी व्यवस्था के घटक अथवा इकाइयॉ अपने–अपने कर्त्तव्य निर्वाह न करे तो वह व्यवस्था कैसे रह सकती है।

(३) **कार्यो की गुरुता के आधार पर श्रेणीकरण–** वर्णों मे ऊँच–नीच का सबध पाया जाता है। इस ऊँच–नीच व्यवस्था मे ब्राह्मण शीर्षस्थ है। इसके बाद क्रम से क्षत्रिय वैश्य एव शूद्रो के स्थान हैं। क्षत्रियो एव वैश्यो की स्थिति ब्राह्मणो से नीची है परन्तु शूद्रो से ऊँची है। यह ऊँच–नीच की व्यवस्था कार्य की गुरुता से सम्बन्धित है किसी अन्य लिहाज से जुडी अथवा सम्बन्धित नही।

(4) **गतिशीलता–** गतिशीलता का विधान इस व्यवस्था का एक अन्य गुण है। स्तर–निर्धारण कर्म के आधार पर होता था जिससे इस व्यवस्था मे मुक्तता अथवा खुलापन का गुण आ गया है। अच्छे कर्म करके शूद्र ब्राह्मणोचित सम्मान प्राप्त कर सकता था और कर्म पतित होने से ब्राह्मण द्विज का सम्मान खो बैठता था। प्रारम्भ मे एक वर्ण से दूसरे वर्ण मे आने जाने पर रोक न थी और इसलिए वर्ण मुक्तवर्ग थे। मुक्त व्यवस्था होने के कारण इसमे स्थिरता एव बेलोचपन के दुर्गुण नही आने पाये।

(5) **विकेन्द्रीकरण–** शक्ति का विकेन्द्रीकरण इस व्यवस्था की उल्लेखनीय विशेषता है। जिस व्यवस्था मे शक्ति का विकेन्द्रीकरण होने लगता है उसमे निरकुशता एव शोषण के दोष आ जाते है जो व्यवस्था को अवश्य ही विश्रखलित करते है । अपनी विकेन्द्रीकरण की विशेषता के कारण यह व्यवस्था इन दोषो से बची रही। यहाॅ धन एव राजनीतिक सत्ता दोनो को एक वर्ण के हाथ मे केन्द्रित नही होने दिया गया। शिक्षा–शक्ति आर्थिक शक्ति राजनीतिक शक्ति एव सेवा शक्ति का विकन्द्रीकरण कर दिया गया जिससे वर्ण व्यवस्था मे काफी बल आ गया।

वर्ण व्यवस्था के गुण दोष

प्रत्येक व्यवस्था मे गुण दोष रहते है। गुणो से उसका विकास होता है और दुर्गुणो से पतन। गुणो से दीर्घ जीवन मिलता है और दुर्बलताओ से शीघ्र ही पतन होता है। नीचे वर्ण प्रणाली के गुण–दोषो का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

गुण– समाजशास्त्रीय महत्त्व का वर्णन करते समय इस व्यवस्था की विशषताओ अथवा अच्छाइयो की तरफ ध्यान आकृष्ट कराया जा चुका है। यहाॅ इसके दो प्रमुख गुणो पर और प्रकाश डाला जा रहा है।

(1) **स्वेच्छा से गरीब रहने की प्रवृत्ति** (Voluntary Poverty)–सर्वोच्च वर्ण के लोगो का स्वेच्छा से गरीब रहना इस व्यवस्था का सबसे बडा गुण है। इसी विशेषता के कारण यह दीर्घ जीवन पा सकी । शास्त्रो मे ब्राह्मणो की शिलोञ्छ वृत्ति का उल्लेख मिलता है। 'शिल खेत मे गिरे हुए अन्न को कहते है । उञ्छ हाट मे गिरा हुआ अन्न है। जब राजा का सलाहकार अथवा अनुशासक ऐसा हो जिसे कुछ मिलने का लोभ न हो और राजा द्वारा दी हुई किसी वस्तु के छिनने का भय न हो तो वह एक सही सलाहकार हो सकता है। यदि सलाहकार शासक का यस मैन (हाॅ हुजूरी करने वाला) है तो शासक को अनुशासन मे रखने मे वह असफल रहेगा और शासक मनमानी करने लगेगा। ब्राह्मणो ने शासन सीधे अपने हाथ मे नही लिया। उन्होने अपनी देख–रेख मे क्षत्रियो द्वारा शासन कराया । अपने हाथ मे शासन इसलिए नही लिया क्योकि हो सकता था कि उनका दिमाग फिर जाता और समाज मे अन्याय, शोषण आदि के दुर्गुण आ जाते। ब्राह्मणो की दृष्टि समाज–कल्याण अथवा सामाजिक विकास पर थी जिससे वे न्यायसम्मत समाज की स्थापना चाहते थे। इसी ख्याल से उन्होने शासन का कार्य क्षत्रियो से कराया और शासन मे उनका पथ–प्रदर्शन करते रहे। क्षत्रिय इनके बताये हुए मार्ग पर चलते रहे। जब क्षत्रियो का दिमाग फिर जाता था तो उसे वे कट्रोल कर लेते थे। कहते हैं कि राजा वेन को अनीति पर चलने के कारण ब्राह्मणो ने उनका वध कर दिया था। वेन का पुत्र पृथु उनके बताये गये मार्ग पर चलने के कारण इतना सुख समृद्धि लाने मे

सहायक हुआ कि उसके नाम पर भूमि को पृथ्वी कहा जाने लगा। अनीति पर चलन के कारण परशुराम ने क्षत्रियो का इक्कीस बार सहार किया इसे सभी जानते हे। यदि ब्राह्मण स्वेच्छा से गरीब न रहते और सभी साधन अपने लिए ही जुटाते तो उनस सभी ईर्ष्या करने लगते, जितना आदर उन्हे मिला नही मिल पाता। साथ ही वर्ण व्यवस्था अति शीघ्र नष्ट हो जाती।

(2) **छॉटकर पेशा अपनाना** (Vocational choice)– अपनी रुचि और पसन्द के आधार पर पेशा चुनना और चुने हुए व्यवसाय को दक्षता के साथ करना इस व्यवस्था की विशेषता है। जब अपने स्वभाव और रुचि के अनुसार पेशा चुना जाता है तो वह स्वकर्म स्वधर्म बन जाता है लेकिन बलात् लादा हुआ पेशा स्वकर्म नही बन पाता । बहुत से व्यवसायो मे से पेशा छॉटकर इस प्रकार उसे करना जिससे वैयक्तिक स्वार्थ और सामाजिक कल्याण की सिद्धि होती रहे यह और अच्छी बात है। जब सभी के पेशे समाज के लिए आवश्यक एव अपेक्षित है एक दूसरे के पूरक है विरोधी नही है तो समाज कल्याण होता रहेगा और समाज के सचालन मे कोई बाधा नही आवेगी। जब किसी व्यक्ति को किसी ऐसे पेशे को करने के लिए कहा जाता है जिसके लिए वह अनुपयुक्त हो तो समाज के विघटित होने का भय रहेगा । समाज को विघटन से बचाने के ख्याल से स्वभाव जनित गुण कर्म के आधार पर इस व्यवस्था के निर्माण की बात गीता मे की गयी है। चुने हुए व्यवसाय को खूबी से करना ही सच्ची समाज सेवा और ईश्वर सेवा है और इसी से सिद्धि प्राप्त हो सकती है यही वर्ण व्यवस्था का मुख्य सिद्धान्त है।

दोष– व्यवस्थापको द्वारा काफी सूझ बूझ से काम लेने पर भी यह व्यवस्था दोषो का शिकार बन गई।

(1) **समय पाकर जन्म पर आधारित होना**– अपने आरभिक काल मे यह व्यवस्था गुण कर्म पर आधारित थी जिससे इसमे लोचपन था। कालान्तर मे जन्म के आधार पर वर्ण निश्चय होने लगा। जन्म से वर्ण निश्चित होने पर सुधार या बदलाव के लिए स्थान नही रह जाता है। जन्म के आधार पर किसी को योग्य और किसी को अयोग्य मान लेना उचित नही प्रतीत होता। किसी व्यक्ति की क्षमताओ तथा सम्भावनाओ का सही आकलन जन्म के आधार पर नही हो सकता है। व्यक्ति मे सोई हुई क्षमताओ को जगाने का यदि उचित अवसर नही दिया जाता तो उनके नष्ट हो जाने की अधिक सम्भावना है। व्यक्ति जन्म के बाद भी बहुत कुछ बन सकता है सुधार कर सकता है इसे स्वीकार करने मे क्या आपत्ति है ?

(2) **समाज के बडे वर्ग को शूद्र बनाना**– जनसख्या के एक बडे भाग को शूद्र बना देना इस व्यवस्था की सबसे निकृष्ट देन है। शूद्रो को निम्न स्थान दिया गया। उनका कार्य सेवा करना ठहरा दिया गया। उन्हे अपना भाग्य सुधारने का अवसर नही दिया गया। ऐसा नही है कि शूद्रो मे अपना सुधार करने

की क्षमता नही थी। जिन शूद्रो को अवसर मिला प्रेरणा मिली उन्होने प्राचीन तथा मध्यकाल म ब्राह्मणो से अधिक सात्विकता का परिचय दिया । शिक्षा स शूद्रा को वचित रखा गया। समाज म उन्हे नीचा स्थान दने के लिए कर्मवाद का सहारा लिया गया। कमवाद स्वय म काई बुरी चीज नही है लकिन इसका प्रयोग ब्राह्मणो द्वारा जिस रूप म किया गया वह शरारतपूर्ण है। शूद्रा की विरोध शक्ति को दबाने के साधन के रूप म इसका इस्तेमाल हुआ। शूद्रो को बता दिया गया कि पूर्व जन्म के कर्म खराब हान के कारण तुम्ह शूद्र होना पडा। यदि पूर्व जन्म क तुम्हारे कर्म अच्छे होते ता तुम क्षत्रिय ब न जात। शूद्र वर्ण मे जन्म लेना ही इसका प्रमाण है कि तुम्हार पूर्व जन्म के कर्म अशुभ है। पूर्व जन्म का इतिहास किसी का याद नही रहता और यही कारण है कि शूद्रो को ब्राह्मणो के कर्मवाद के आगे घुटने टेकने पडे और शोषित होने के लिए उन्हे मजबूर हो जाना पडा । शूद्रो को इतना कमजोर कर दिया गया था कि यदि ऊँचे वर्ण के सुधारका ने प्रयत्न न किया होता ता शूद्रा को भाग्य सुधार का अवसर न मिल पाता।



अध्याय 4

आश्रम व्यवस्था

हिन्दुओ की जीवन–धारणा (Hindu Concept of Life)

इस लोक मे सुख भोगने के बाद परलोक मे सुख पाने की कामना हिन्दू चितन मे मिलती है । लौकिक और पारलौकिक सुख प्राप्ति के लिए जीवन की एक सुव्यवस्थित एव सुविचारित योजना का निर्माण हुआ है। इसे आश्रम व्यवस्था कहा जाता है। जीवन योजना बनाने के लिए जीवन की आयु का भी निर्धारण हुआ है।100 वर्ष की आयु की कामना की जाती है। जीवन के100 वर्षो को चार बराबर भागो मे विभाजित किया गया है। प्रथम 25 वर्ष ब्रह्मचर्य आश्रम के हैं। अगले 25 वर्ष का समय गृहस्थ आश्रम का है। इससे भी अगले 25 वर्ष वानप्रस्थ के रूप मे बिताने का प्रावधान है और अतिम 25 वर्ष सयास आश्रम के लिए निर्धारित हैं। जब यह व्यवस्था एक निश्चित जीवन दर्शन पर टिकी है तो इसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए निम्नाकित बातो का समझना आवश्यक है।

(1) हिन्दुओ का जीवन के प्रति दृष्टिकोण क्या है ?

(2) हिन्दू के जीवन का चरम उद्देश्य (Ultimate Aim) क्या है ?

प्रथम प्रश्न का सबध जीवन की धारणा से है। हिन्दुओ के मतानुसार जीवन शृखलामय है। पिछले जीवन का सबध इस जीवन से है और इस जीवन का सबध अगले जीवन से है। जीवन का सिलसिला तब तक चलता रहेगा जब तक मोक्ष न मिल जाय। मोक्ष मिल जाने पर जीवन का प्रवाह रुक जायगा। पी एच प्रभू के शब्दो मे "हमारा वर्तमान जीवन स्वय मे अर्थवान नही है। जब तक जीवन अवधि के अन्तर्गत अन्तिम रूप से मोक्ष न मिल जाय यह जीवन तो पिछले जन्मो से भविष्य के जन्मो की तरफ होने वाले परिवर्तन का एक स्तर है। यह जीवन अतीत और भविष्य के जन्मो की शृखला की एक कडी के रूप मे अर्थवान है[1] । डॉ राधाकृष्णन के अनुसार "हिन्दू मोक्षोन्मुख जीवन रूपी तीर्थ यात्रा का पथिक है और मानव जीवन विभिन्न स्तरो से होकर शाश्वत जीवन

---

1 "According to the Hindu, this life merely by itself alone would have no meaning, it has meaning only as a link–even if the last, in the chain of links of births in the past and in the future, it is a state of transition from past births, towards future birth or births unless moksha or final liberation is obtained within the span of this life "–Prabhu P H , Hindu Social Organisation, Page-18

(Eternal life) तक पहुँचने के लिए एक तीर्थ यात्रा है [2]।

जीवन–उद्देश्य (Aim of Life)–हिन्दुओ ने इस जीवन रूपी तीर्थ–यात्रा के चरम उद्देश्य के रूप मे मोक्ष को स्वीकार किया। हिन्दू मनीषियो ने अन्यतम मूल्यो (Ultimate Values) को भी सामाजिक व्यवस्था मे स्थान दिया और इसी बात मे वे पश्चिम के विद्वानो से भिन्नता रखते है। इस मोक्षोन्मुख जीवन रूपी तीर्थयात्रा को पूरा करने के लिए हिन्दुओ ने आश्रम योजना बनायी। चूँकि मोक्ष कोई ऐसी चीज नही है जिसे एकाएक प्राप्त कर लिया जाय इसके लिए तो अभ्यास की आवश्यकता है नियमित जीवन बिताना जरूरी है। मोक्ष प्राप्ति की भावना से प्रेरित होकर हिन्दुओ का जीवन चार स्तरो मे बॉट दिया गया और प्रत्येक स्तर मे व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले कर्त्तव्य भी निश्चित कर दिये गये। इस निर्धारित आश्रम योजना के अनुसार जीवन बिताने वाला हिन्दू मोक्षाधिकारी माना गया।

ऐहिक और पारलौकिक जीवन मे समन्वय– आश्रम योजना लौकिक और पारलौकिक जीवन का अनूठा समन्वय है। यह ऐसा इसलिये है क्योकि हिन्दू महात्मा आध्यात्मिक स्वतत्रता और इस जीवन के आनन्द (Enjoyment of Life) के मध्य सघर्ष को नही स्वीकार करते हैं, दोनो को एक दूसरे का विरोधी नही मानते है । हिन्दू इस लोक मे कर्मनिष्ठ जीवन व्यतीत कर मोक्ष का अभिलाषी है। वह ससार से दूर नही भागना चाहता है। अत हिन्दुओ पर पलायनवाद का आरोप लगाना सर्वथा असगत है। इसके अतिरिक्त हिन्दू मोक्ष का इच्छुक होते हुए भी दीर्घायु की कामना करता है। दीर्घायु की यह कामना मुक्ति की इच्छा से असगत नही है। हिन्दू महात्माओ ने पुरुषार्थ के सिद्धात द्वारा दीर्घायु और मोक्ष की इच्छाओ मे सामजस्य स्थापित किया। पुरुषार्थ चार है – धर्म अर्थ काम और मोक्ष।

आश्रम शब्द का अर्थ – पुरुषार्थ विश्लेषण के पूर्व आश्रम व्यवस्था पर प्रकाश डालना आवश्यक है। आश्रम शब्द मूलत सस्कृत की श्रम धातु से बना है जिसका अर्थ है प्रयत्न करना अद्योग करना परिश्रम करना आदि। अत धात्वर्थ के विचार से आश्रम के दो अर्थ हो सकते है। (1) आश्रम का अर्थ उस स्थान से है जहॉ परिश्रम किया जाता है और (2) आश्रम से तात्पर्य परिश्रम करने की क्रिया से है। साहित्यिक दृष्टि से आश्रम रुकने ठहरने या विश्राम करने का स्थान अथवा पडाव स्थल है। ये विश्राम स्थल मानव की जीवन यात्रा से उत्पन्न थकावट को दूर करने के लिये या उसे अगली यात्रा तय करने के योग्य बनाने के लिए होते हैं। **P H Prabhu** का कहना है कि आश्रमो को जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए मानव द्वारा की जाने वाली जीवन यात्रा के मध्य पडने वाले विश्राम स्थल मानना चाहिए।

---

2. "The four stages indicate that life is a pilgrimage to the eternal life through different stages " Radhakrishnan The Hindu View of Life, P-59

हिन्दुओ की दृष्टि मे व्यक्ति का जीवन एक प्रकार की शिक्षा और आत्मसयम है। इस शिक्षा की अवधि मे उसे चार स्तरो–प्रशिक्षण के चार क्रमो से गुजरना पडता है। इन स्तरो को आश्रम कहा गया है। ये स्तर सख्या मे चार हैं– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सयास।

ब्रह्मचर्य आश्रम

इस आश्रम मे हिन्दू बालक अपनी आयु का प्रथम चतुर्थांश व्यतीत करता है। जीवन के इस आरम्भिक चरण मे वह विद्या अर्जित करता है। ब्रह्मचर्य आश्रम विशेष रूप से शिक्षा की समस्या है। इस आश्रम मे प्रवेश पाने के लिए बालक का उपनयन सस्कार होना आवश्यक है। दीक्षा सरकार के पश्चात् ही वह ब्रह्मचारी बन सकता है और द्विज की सज्ञा प्राप्त करता है। हिन्दू जीवन क्रम मे उपनयन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह आर्य–अनार्य भेद का प्रमुख आधार है। उपनयन के बाद ही बालक वास्तविक अर्थ म आर्य (पूर्ण आर्य) बनता हे और आर्य अधिकारो को भोगने के योग्य होता है क्योकि उपनयन के पूर्व का जीवन तो अमर्यादित अननुशासित और उद्देश्यहीन होता है। अमर्यादित इस अर्थ मे होता है क्योकि उपनयन के पहले बालक खाने पीने और व्यवहार आदि करने मे अपनी इच्छाओ का अनुगमन करता है।

बालक को उज्ज्वल उचित और उत्तरदायित्वपूर्ण भावी जीवन बिताने के लिए शिक्षित होना चाहिए, सम्भवत इसे ही लक्ष्य कर हिन्दू विद्वानो ने जीवन के प्रथम आश्रम के ही साथ शिक्षा की व्यवस्था कर दी है। शिक्षा व्यक्ति को पूर्ण मनुष्य बनाने मे सहायता पहुँचाती है उसमे उचित–अनुचित का विवेक उत्पन्न करती है। आश्रमकालीन शिक्षा व्यवस्था वर्तमानकालीन शिक्षा व्यवस्था से भिन्न है। आश्रम–काल मे विद्यार्थी गुरु के कुल का सदस्य बनकर शिक्षा प्राप्त करता था। समिधाएँ लेकर बालक गुरु के पास जाता था और उसका शिष्य बनने की प्रार्थना करता था और तब गुरु उसे अपने शिष्य के रूप मे ग्रहण करता था। गुरु तत्काल शिष्य को वेदो का प्रकाशन नही करता था। वह उस समय तक वेदो का ज्ञान उसे नही देता था जब तक उसमे पढने की उत्कृष्ट जिज्ञासा जाग्रत न हो जाय क्योकि विद्या गुह्य मानी जाती थी और उसका प्रकाशन केवल सुमति और सुशील विद्यार्थी के सामने होता होगा। ब्रह्मचर्य आश्रम की शिक्षा का सबध वेदाध्ययन से है। ऋषि ऋण से मुक्ति पाने का उपाय वेदाध्ययन ही है। प्राचीन ऋषियो ने जिस साहित्यिक परम्परा का सृजन किया उसे एक पीढी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित करना और उनके साहित्य का अनुशीलन करना ही ऋषि ऋण से उऋण होना है। हिन्दुओ ने चार ऋणो की कल्पना की है ऋषि ऋण, देव ऋण, पितृ ऋण और मनुष्य ऋण। इनमे से ऋषि ऋण का सबध ब्रह्मचर्य आश्रम से है।

युवावस्था के सतुलित विकास के लिए विद्यार्थी जीवन को नियत्रित होना

चाहिए क्योकि विद्यार्थीकाल जीवन अवधि का ऐसा काल है जिसमे वेग होता है। यह तूफान और भार आतुरता शारीरिक–शक्तिवर्धन भावनात्मक अस्थिरता यौनवृत्ति के विकास यौन क्रियाओ मे उत्तेजना तथा आत्माभिव्यक्ति का समय होता है[3]। मनु जैसे स्मृतिकारो ने इसीलिये विद्यार्थी के लिए विलासिता और प्रमाद उत्पन्न करने वाली वस्तुओ तथा अलकरण–प्रसाधनो का उपयोग वर्जित घोषित किया है और नैतिक चरित्र का निर्माण करने वाले कर्त्तव्यो को ही करने के लिए ब्रह्मचारी को आज्ञा दी है।

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य– मनुस्मृति मे विद्यार्थी के लिए बताए गए कुछ नियम इस प्रकार है– ब्रह्मचारी यज्ञोपवीत (उपवीत सूत्र) अजिन (मृगचर्म) मेखला (girdle) और दण्ड (staff) को नियमपूर्वक धारण करता रहे। भिक्षा माँगकर अपना भोजन करे और भोजनाधिक्य से बचे। प्रतिदिन स्नान से पवित्र होकर देवता और ऋषियो का तर्पण करे । ब्रह्मचारी मधुमास सुगन्ध माला रस स्त्री सभी प्रकार के आसव (सिरका) और प्राणियो की हिसा त्याग दे। शरीर मे उबटन ऑख मे आजन न लगावे जूता और छाता न धारण करे काम क्रोध और लोभ न करे नाच गाना और बाजे से दूर रहे। ब्रह्मचारी को जुआ कलह निदा झूठ स्त्रियो को सकाम दृष्टि से देखना और उन्हे आलिगन करना और दूसरे की निदा करना ये सब त्याग देना चाहिए।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मचारी के कुछ प्रमुख कत्तव्य भी है जो इस प्रकार हैं ईश्वर के बारे में ज्ञान प्राप्त करना दोषो बुराइयो अपवित्र और अनुचित कार्यों से बचना पवित्र जीवन बिताना शरीर और मस्तिष्क को अनुशासित करना धर्म आदि से सबधित साहित्य पढना या सक्षेप मे वेदाध्ययन करना दूसरो का आदर–सत्कार करना तथा सादा जीवन व उच्च आदर्श के विचार को अपनाना।

ब्रह्मचारी के मानसिक शारीरिक और आध्यात्मिक विकास के लिए उपरोक्त कर्त्तव्य निर्धारित किए गए । सक्षेप मे व्यक्ति का सर्वतोमुखी विकास ब्रह्मचर्य आश्रम की शिक्षा का प्रयोजन है।

गार्हस्थ्य आश्रम

विद्यार्थी जब अध्ययन–पाठयक्रम समाप्त कर लेता था तो वह अपने आचार्य कुल को छोडकर घर वापस आ जाता था। गुरु के घर से स्वगेह वापस आने को ही समावर्तन (Returning Back) कहते हैं। समावर्तन सस्कार गृहस्थ आश्रम का प्रवेश द्वार (Admission Card) है। पिता के घर आने पर उसे स्नान करना पडता था जिसका प्रतीकात्मक अर्थ था ब्रह्मचर्य व्रत का समापन और इसके पश्चात वह 'स्नातक' कहलाता था।

गार्हस्थ्य जीवन से तात्पर्य वैवाहिक जीवन से है क्योकि गृहस्थ वह है जो 'घर' बसाता है और शास्त्रो मे घर उसे कहा गया है जहाँ गृहिणी हो, स्त्री हो। अतः गृहस्थ आश्रम मे व्यक्ति को विवाह करना पडता है। यह आश्रम हिन्दू के

3 कापडिया, के० एम० - भारतवर्ष मे विवाह और परिवार पृष्ठ 30।

जीवन का द्वितीय सोपान है। हिन्दुओ मे विवाह व्यक्तिगत सुख सुविधा क लिए उतना आवश्यक नही है जितना कि धार्मिक और सामाजिक कर्त्तव्यो को निभाने के लिए। यही कारण है कि हिन्दुओ मे विवाह उन सभी लोगो के लिए अनिवार्य था जो साधारण प्रतिभा से युक्त होने के कारण अविवाहित नही रह सकते। अविवाहित रहना बहुत श्रेष्ठ है यदि अविवाहित रह मिले। लेकिन भ्रष्टाचार और अन्तर्दाह की अपेक्षा तो विवाह करना श्रेष्ठ है[4]। हिन्दू विवाह कलुषकारी नही है। वह तो कल्मष को धाता है और स्त्री व पुरुष दोनो को पावन और निर्मल बनाता है तथा दोना के उत्कर्ष मे सहायक है और इसी अर्थ मे सस्कार है। सामान्यतौर पर हिन्दुओ मे प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य (obligatory) माना जाता है। मोक्ष पाने के लिए पुत्र सतान का होना आवश्यक माना गया है और पुत्र विवाह द्वारा सम्भव है। अत विवाह का मोक्षदायी होना उसके अनिवार्य होने का प्रधान कारण है।

पचमहायज्ञ

गृहस्थ के कर्त्तव्य– वैदिक युग से धर्मशास्त्रो तक पचमहायज्ञो को करना गृहस्थ का मुख्य कर्त्तव्य माना गया। ये यज्ञ क्रम से ब्रह्मयज्ञ देवयज्ञ पितृयज्ञ भूतयज्ञ और नृयज्ञ (मनुष्य यज्ञ) हैं। इन यज्ञो का उद्देश्य ऋषियो देवताओ पूर्वजो (पितरो) और समस्त जीवधारियो के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा करना है। गृहस्थ ऋषि देवता और पिता का जन्म से ऋणी हो जाता है। इन तीनो ऋणो को चुकाने के लिए प्रथम तीन यज्ञो का विधान है। चौथे ऋण का उल्लेख मिलता है। यह चौथा ऋण मनुष्य ऋण है। इस ऋण से उऋण होने के लिए मनुष्ययज्ञ का प्राविधान है। (मनुस्मृति मे पचमहायज्ञो का उद्देश्य नाना प्रकार की हिसा से मुक्त होना बताया गया है।) मनु ने पॉच हिसा के स्थानो का उल्लेख किया है जहाँ गृहस्थ पाप–भागी हो सकता है। इन पॉच स्थानो (five places) को आपने पञ्चसूना कहा है। चूल्हा, चक्की झाड ऊखल–मूसल और जल का घट ये पाँच हिसा के स्थान हैं। इनके व्यवहार से उत्पन्न पाप के निवृत्यर्थ गृहस्थ को पचमहायज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिए[5]।

ब्रह्मयज्ञ– पढना और पढाना ब्रह्मयज्ञ है। प्राचीन ऋषियों ने साहित्य की रचना द्वारा जो उपकार किया है उस उपकार की अदायगी उनके इस साहित्य के अध्ययन और अध्यापन द्वारा सभव है। अत प्रतिदिन वेदो का स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ है। इस यज्ञ का प्रयोजन वैदिक ज्ञान और परम्परा को एक पीढी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित कराना है। वेदाध्ययन द्वारा वेद कठस्थ होकर काफी समय तक सुरक्षित रहे और बाद मे ब्रह्मयज्ञ वेदाध्ययन का प्रतीक बन गया।

4 पाण्डेय राजबली हिन्दू सस्कार चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी1 पृष्ठ199 पर उद्धृत सन्तपाल का मत ।

5 मनुस्मृति 3 । 68–69 ।

देवयज्ञ— देवता शुभ और अशुभ फल देने वाले है। उनसे शुभ फला की प्राप्ति के लिए उन्हे प्रसन्न करना आवश्यक है। देवयज्ञ देवताओ को प्रसन्न करने का एक उपाय है। होम अथवा हवन करना ही देवयज्ञ है। विधिपूर्वक अग्नि मे छोडी हुई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है सूर्य से वृष्टि वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा होती है[6]। इस प्रकार प्रजाओ की उत्पत्ति का मूल कारण हवन ही है अत प्रतिदिन विधिवत हवन (होम) करना चाहिए। मनु का कहना है कि देवकर्म (हवन) मे लगा गृहस्थ इस चराचर जगत को धारण करता है (3/75)

पितृयज्ञ— गृहस्थ का कुटुम्बियो के अलावा मनुष्येतर प्राणियो (पितरो ओर देवताओ) से भी घनिष्ठ सबध है ऐसा समझा जाता था। गीता मे उल्लेख है कि वे पितर जिन्हे पिण्ड और जलदान (तर्पण) नही प्राप्त होता नरक को प्राप्त होते है (पतन्ति पितरौ ह्येषा लुप्त पिण्डोदक क्रिया 1/42)। पितृयज्ञ मे मृत पूर्वजो को जलदान किया जाता है। मनु के अनुसार तर्पण ही पितृयज्ञ (पितृयज्ञस्तुतर्पणम्) है।

भूतयज्ञ— यह यज्ञ भारत भूमि की उदारता और सहिष्णुता का परिचायक है। सबके साथ मिलकर और सबको खिलाकर खाने की भावना की अभिव्यक्ति यह यज्ञ है। भूत का अर्थ प्राणी है अत भूतयज्ञ मे समस्त भूतो (प्राणियो) को बलि (Ball of Food) अर्पित की जाती है। भूत यज्ञ मे दी हुई बलि अग्नि मे न डाली जाकर हाथ से साफ की हुई तथा पानी छिडककर पवित्र की गई भूमि पर रखी जाती है। इन्द्र यम वरुण आदि देवताओ के अतिरिक्त दिवाचर और नक्तचारी (रात मे विचरण करने वाले) जीवो को बलि दे। फिर पितरो को बलि दे और अन्त मे कुत्तो पतितो चाण्डालो कोढी आदि पापरोग वालो कौवो और कीडो के लिए बलि जमीन पर रख दी जाती है। गीता मे अपने लिये अन्न पकाने वाले की निदा की गई है क्योकि जो अपने लिए ही भोजन पकाता है वह पाप खाता है (भुञ्जत ते त्वघ पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्) । यहॉ पर गीता मे अपनी कमाई को मिल बॉटकर खाने का आदर्श प्रतिष्ठित किया गया है। भूतयज्ञ सम्पन्न करके गृहस्थ इस आदर्श का पालन करता था।

नृयज्ञ—अतिथियो का सत्कार करना भारतवर्ष की एक सामाजिक रीति (Social Etiquette) थी। एक उपनिषद् मे अतिथि को माता—पिता और आचार्य के साथ देवता बताया गया। (आचार्य देवो भव, पितृ देवो भव, अतिथि देवो भव)। अतिथि पूजन को ही मनु ने नृयज्ञ की सज्ञा देकर यज्ञ का रूप दिया। साधारण बोल चाल मे अतिथि से आशय सम्बन्धी और बिरादरी के लोगो से लिया जाता है। परन्तु अतिथि वह है जिसके आने की तिथि ज्ञात न हो (न विद्यते तिथिर्यस्य स अतिथि)। मनु के मतानुसार गृहस्थ के घर एक रात ठहरने वाला ब्राह्मण अतिथि कहा गया है क्योकि आने और ठहरने की तिथि (समय) का निश्चय नही रहने से वह अतिथि कहा जाता है। आप अतिथि को भोजन खिलाने के पश्चात् गृहस्थ दम्पति को भोजन ग्रहण करने का विधान करते है।

---

6 मनुस्मृति 3 / 76 ।

उन समस्त खाद्य चीजो के उपभोग से गृहस्थ को मना किया गया है जिन्हे वह अतिथि को नही खिलाता। अतिथि पूजन से धन आयु यश तथा स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

गृहस्थ के कर्त्तव्य केवल पचमहायज्ञो तक ही सीमित न थे। इनके (पचयज्ञो) अलावा गृहस्थ से यह आशा की जाती थी कि वह ब्राह्मणो को दान दे विद्यार्थिया को फीस दे सयासी को भिक्षा रोगी को दवा और गरीबो को आर्थिक सहायता दे। अतिथियो शिशुओ, बीमार व्यक्तियो और गर्भिणी स्त्रियो को खिलाने के लिए गृहस्थ की आवश्यकता पडती थी। चिडियो पशुओ कीडे मकोडो आदि को भी सतुष्ट करना उसका कर्त्तव्य था। इसके अतिरिक्त उसके कर्त्तव्यो का विस्तार विकलाग और समुदाय के सामाजिक और नैतिक दृष्टि से हीन लोगो को सतुष्ट करने तक था। सक्षेप मे गृहस्थ अपने रिश्तेदार और कुल सदस्यो के अतिरिक्त कर्त्तव्यो की दृष्टि से व्यक्तियो और प्राणियो के विशाल समूह से सम्बन्धित था।

गृहस्थ आश्रम महान् क्यो ?

(1) **विशाल प्राणि—समूह का पोषक—** अन्य आश्रमियो तथा प्राणियो के विशाल समूह का पोषक होने के कारण यह श्रेष्ठ है। गृहस्थ भोग्य वस्तुओ का उत्पादक है और अन्य आश्रमो के लोग इससे भिक्षा पाते है। पशु—पक्षी कीडे—मकोडे समाज के असहाय लोगो अतिथि देवता और पितर आदि सभी को खिलाना एव सतुष्ट रखना गृहस्थ का कर्त्तव्य है। पोषक और पोष्य दोनो मे पोषक का स्थान निश्चय ही श्रेष्ठ है क्योकि पोष्य का जीवन पोषक पर आधारित है। यह आश्रम अन्य आश्रमियो के जीवन का मूल (आधार) है। जैसे एक शिशु के प्रारम्भिक जीवन मे माता का स्थान शीर्ष का है वैसे ही यह आश्रम अन्य आश्रमो का मूल है। जैसे वायु के सहारे सभी जीव जन्तु जीवित रहते है वैसे ही इस आश्रम के सहारे सभी लोग जिन्दा रहते हैं[7]। जैसे सभी नदियॉ तथा नाले समुद्र मे सस्थिति को प्राप्त होती हैं वैसे ही अन्य आश्रम के लोग गृहस्थ आश्रम मे सस्थिति को प्राप्त होते हैं[8]।

(2) **मानव वश तथा समाज प्रवाह का रक्षक—** गृहस्थ को श्रेष्ठ सिद्ध करने वाला दूसरा कारण मानव वश की रक्षा (Perpetuation of human race) से सबधित है। समाज की निरतरता के लिए मनुष्य का होना अति आवश्यक है। मनुष्यो के अभाव मे समाज की कल्पना नही की जा सकती। जब मनुष्य नही होगे तो समाज नही होगा और ये सभी सगठन जिनका निर्माण मनुष्यो ने किया है नही रहेंगे। मनुष्य मरणशील है अत जितने मनुष्य मरते हैं उनका स्थान यदि

---

7 यथा वायु समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्तव ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमा ।। मनुस्मृति 3/ 77

8 यथा नदी नदा सर्वे सागरे यान्ति सस्थितिम्।
तथैवाश्रमिण सर्वे गृहस्थे यान्ति सस्थितिम्।। मनुस्मृति।

नए लोग पैदा होकर नही लेते रहेगे तो मानव वश की रक्षा कर पाना असम्भव हो जायेगा। ऐसी हालत मे सन्तानोत्पादन का कार्य समाजशास्त्रीय महत्त्व का है। गार्हस्थ्य जीवन (वैवाहिक जीवन) के अभाव मे प्रजनन का कार्य असम्भव है[9]। प्रजा–सूत्र को तोडना नही यह उपनिषद् का आदेश है और यदि किसी प्रजाति को जीवित रहना है तो उसे इसका पालन करना ही होगा।

(3) **ऋण–उद्धारक–** अपना भला हो और साथ ही दूसरो का भला हो' यह आदर्श हिन्दू समाज मे मिलता है। दूसरे ने हमारे साथ कुछ उपकार किए हैं जिसस हम उनके ऋणी है। मनुष्य देवताओ पितरो तथा अन्य जीवधारियो के हम ऋणी माने जाते है और जीवन काल मे उनका ऋण चुकाना आवश्यक है। इस आश्रम मे सभी ऋणो को चुकाया जा सकता है इसलिए भी यह श्रेष्ठ आश्रम है। ऋणो को चुकाने के लिए ही प्रितिदिन पचमहायज्ञो का अनुष्ठान करने के लिए हिन्दू शास्त्र गृहस्थ को आदेश देते है। गृहस्थ के कर्त्तव्यो के रूप मे पच महायज्ञो का विधान मिलता है। यज्ञो के निर्वाह की दृष्टि से भी यह श्रेष्ठ है।

(4) **गृहस्थ विघसाशी होता है–** विघस देवताओ पितरो और बडो के उपयोग के बाद बचे हुए (शेष) खाद्य पदार्थ को कहते हैं। शेष अन्न का उपयोग करने वाला विघसाशी कहा जाता है। सबको खिलाकर खाने वाला व्यक्ति महान प्रतिष्ठित एव प्रशसनीय है और जिस आश्रम मे ऐसे व्यक्ति हो वह महान्, प्रवर एव प्रशसा के पात्र है। गीता मे भी ऐसे व्यक्ति की प्रतिष्ठा स्थापित की गई है जो यज्ञ से बचे हुए अन्न का उपयोग करता है। यज्ञ से बचे हुए अन्न का सेवन करने वाला सभी पापो से छूट जाता है और वह जो अपने ही खाने की व्यवस्था करता है और दूसरो का हिस्सा देना नही चाहता है वह पापी है।

यज्ञशिष्टाशिन सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषै ।
भुञ्जते ते त्वघ पापा ये पचन्त्यात्मकारणात ।। गीता 3/16

अपनी कमाई मिल बाटकर खाने का आदर्श एक अच्छा आदर्श है। इस आश्रम मे इस आदर्श का पालन होता है और इसी से यह श्रेष्ठ है।

(5) **पुरुषार्थ–पूर्ति मे साधक–** चार पुरुषार्थो की पूर्ति की दृष्टि से गृहस्थ आश्रम श्रेष्ठ है क्योकि सभी पुरुषार्थो की पूर्ति गृहस्थ आश्रम मे सम्भव है। ब्रह्मचारी विशेष रूप से धर्म पुरुषार्थ के सेवन से सम्बन्धित है। वानप्रस्थ धर्म और मोक्ष से और सयासी केवल मोक्ष से सबधित है। अर्थ और काम की पूर्ति भी स्वस्थ व्यक्ति और स्वस्थ सामाजिक सगठन के लिए अनिवार्य है। इच्छाओ का अवाछित दमन अच्छा नही क्योकि इच्छाओ के अनुचित दमन से जो प्रतिकिया या ज्वाला उत्पन्न होगी वह हो सकता है समाज को जलाकर राख कर दे। हिन्दू महर्षियो ने इसलिए अर्थ और काम को पुरुषार्थ मे शामिल किया है। यहाँ यह स्मरण रहे कि अर्थ और काम का निरकुश सेवन कदापि अच्छा नही । धर्म के अकुश के साथ अर्थ और काम का सेवन अभीष्ट है।

(6) **ब्राह्मण धर्म का श्रमण धर्म से विरोध–** गृहस्थ आश्रम की

---

9 प्रजन चाप्युतान्यत्र न कथचन विद्यते । शान्तिपर्व 269/ 8

प्राधान्यप्रतिष्ठा का अन्तिम कारण था ब्राह्मणधर्म का श्रमणधर्म से विरोध। श्रमणधर्म नितान्त निवृत्ति मार्गी था। उसकी व्यवस्था मे गृहपति का स्थान नितात गौण था। समस्त सगठन भिक्षु अथवा परिब्राजक को ही दृष्टिकोण मे रखकर किया गया है। बौद्ध और जैन धर्म से प्रभावित होकर अनेक पुरुषो और महिलाओ ने गृह त्यागकर भिक्षुओ का जीवन अगीकार कर लिया। इससे ब्राह्मण व्यवस्थाकार बहुत दु खी हुए। ब्राह्मणो ने सूत्र—साहित्य के रूप मे अपनी व्यवस्था का फिर से सगठन किया और वानप्रस्थ और सयास आश्रम की अपेक्षा गृहस्थ आश्रम को ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घोषित किया। महाभारत मे कपिल मुनि ने इस मत का खण्डन किया कि गृहस्थाश्रम के द्वारा मोक्ष नही प्राप्त हो सकती है[10]।

वानप्रस्थ (वैखानस)

वैखानस आश्रम मे व्यक्ति अपनी आयु का तृतीय भाग बिताये। इसे जगल मे निवास की अवस्था भी कह सकते है। गृहस्थ धर्म का विधिवत पालन करक जब बाल सफेद हो जाये शरीर का चर्म सिकुड जाये पुत्र के पुत्र को भी देख ले तो कुल घर और ग्राम छोडकर पत्नी सहित या पत्नी को पुत्रो के उत्तरदायित्व मे सौंपकर जीवन के तीसरे भाग को बिताने के लिए अरण्यवासी बने[11] क्योकि मनुष्य के अस्तित्व मे उसका पैदा होना, बडा होना विवाह करना परिवार की स्थापना करके दिवगत हो जाना ही सब कुछ नही है[12]। मनुष्य का जामा पाकर उसे अपना उद्धार करना है जन्ममृत्यु के चक्र से छूटना है। मोक्ष प्राप्ति हेतु तप साधना करने के लिए वह वन चला जाय और वनवासी मुनियो का जो धर्म है उसका पालन करे।

कर्त्त्व्य— वैखानस आश्रम कर्त्तव्यो की दृष्टि से गृहस्थ के समान होते हुए भी अनुशासन (Discipline) की दृष्टि से भिन्न था। अध्ययन और यज्ञादि ऐसे काम हैं जिनका सम्पादन मनुष्य को जीवन पर्यन्त करते रहना चाहिए और इसीलिए अध्ययन और यज्ञ के कर्त्तव्य वानप्रस्थ के लिए भी अनिवार्य है। इस आश्रम मे व्यक्ति नियम और अनुशासन का जीवन व्यतीत कर परिवार और समाज के बन्धनो से ऊपर उठकर वैराग्य के लिए अपने को तैयार करता है।

वानप्रस्थ पुरुष नियम के साथ रहे नियम से भोजन करे तीसरे पहर मे एक बार अन्न ग्रहण करे और प्रमाद से दूर रहे। गृहस्थाश्रम की ही भॉति अग्निहोत्र वैसी ही गोसेवा तथा उसी प्रकार यज्ञ के सम्पूर्ण अगो का सम्पादन करना वानप्रस्थ का धर्म है। वानप्रस्थ अपनी भूख जगल मे प्राप्त कदमूल और फलो से मिटाये। वनवासी मुनि बिना जुती हुई पृथ्वी से उत्पन्न धान जौ नीवार

---

10 शान्तिपर्व 270 /10–11।

11 मनुस्मृति 6/2–3।

12 राधाकृष्णन सर्वपल्ली प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली 1967 पृ 415।

विघस (अतिथियो को देने से बचे हुए) अन्न से जीवन निर्वाह करे[13]।

वानप्रस्थ अपने शरीर को ढकने के लिए मृगचर्म और वल्कल (पेडो की छाल) धारण करे तथा क्षौर कर्म न करावे अर्थात सर्वदा जटा दाढी एव नख को धारण करे (मनुस्मृति 6/6)। वह सदा वेदाभ्यास मे लगा रहे ठडा–गर्म सुख–दु ख माना पमान आदि द्वन्द्वो को सहन करे सबसे मित्रभाव रखे दान दे परन्तु दान न ले और सब जीवो पर दया करे (मनुस्मृति 6/8)। उसे अन्य अनेक प्रकार के कठोर तपो और शरीरिक कष्टो को सहना पडता था। इन तपो और कष्टो का उददेश्य सभी प्रकार के शारीरिक सुखो का त्याग और शरीर के प्रति उदासीनता को जन्म देना था। शारीरिक अनुशासन के अतिरिक्त वानप्रस्थ के लिए यह आवश्यक था कि वह अपनी सहानुभूतियो को परिवार की सकुचित परिधि से बाहर सम्पूर्ण मानवता के लिए विस्तृत कर दे।

सय्रास

यह पूर्ण वैराग्य (Total Renunciation) का आश्रम है। अपनी आयु का तीसरा भाग उपरोक्त बताये गये ढग से वन मे बिताकर सब विषय सगो का त्याग कर चौथे आश्रम सन्यास मे व्यक्ति प्रवेश करे। तीन ऋणो को चुकाकर मन को मोक्ष मे लगावे (सयास ग्रहण करे) ऐसी मनु की आज्ञा है क्योकि ऋणो को बिना अदा किये सन्यास का पालन करने वाला नरकगामी होता है[14]। निस्पृह (निरीह) होकर ही सन्यास ग्रहण करे[15]।

सयासी एकाकी और आत्मनिर्भर होता है। उसका कर्त्तव्य है कि वह दिन मे एक बार भिक्षा याचना करे न मिलने पर मन मे कष्ट न होने दे। इन्द्रियसयम घृणा तथा सासारिकता से विरक्ति जीवो के प्रति दया तथा समता का भाव (समत्व बुद्धि) सन्यासी को जीवन मुक्त की अवस्था मे पहुँचा देता है और वह अनश्वरता को प्राप्त होता है। इसी स्थिति को कुल्लूक भटट ने मोक्ष प्राप्त करने की सज्ञा दी है। सन्यासी अपनी इन्द्रियो तथा बुद्धि को ब्रह्मचितन मे लगावे। चित्त की वक्तियो का निरोध कर अन्तर्यामी भाव से सभी ऊँच–नीच देव–पशु आदि शरीरो मे उसी परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करे। इस प्रकार के कर्मो मे सलग्न व्यक्ति कार्यो की सीमा से ऊपर उठकर मरने के पश्चात् तेजोमय लोक मे जाता है और अन्त मे मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

आश्रम व्यवस्था का महत्त्व

आश्रम व्यवस्था का महत्त्व सिद्ध करने वाली प्रमुख बातो का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है।

(1) **जीवन–मूल्यो से सगत व्यवस्था–** जिन उद्देश्यो की प्राप्ति हेतु

आश्रम व्यवस्था बनाई गयी उनकी पूर्ति मे जिस सीमा तक यह सहायक है उसी सीमा तक हम इसका महत्त्व स्वीकार करने के लिए बाध्य है। आश्रम व्यवस्थाकारो ने जीवन के उद्देश्यो को दो श्रेणियो मे बॉटकर तदनुरूप आश्रम व्यवस्था निर्देशित की। प्रथम श्रेणी के उद्देश्य तात्कालिक उद्देश्य कहे जा सकते है। जीवन के तात्कालिक उद्देश्य के रूप मे लौकिक आनन्द (सासारिक सुख) को चुना गया। दूसरी श्रेणी मे चरम उद्देश्य को रखा गया। आध्यात्मिक स्वतन्त्रता (मोक्ष) को दूसरे उद्देश्य की कोटि मे रखा गया। आश्रमो को इस प्रकार व्यवस्थित किया गया जिससे उक्त दोनो उद्देश्यो की पूर्ति निर्विघ्न हो सके। यह इस व्यवस्था की महत्ता की पहली परख है।

(2) **सुखी जीवन का आधार—** जीवन बिताने की दो शैलियॉ है। (1) नियोजित जीवन शैली और (2) अनियोजित जीवन शैली। दूसरी शैली के अनुसार जीवन व्यतीत करने पर सुखमय एव शान्त जीवन की सम्भावना या तो समाप्त हो जाती है और या फिर कम रहती है। नियोजित जीवन जीने से जीवन मे सुख तथा आनन्द की सरिता अपने आप प्रवाहित होती रहती है। आश्रम व्यवस्था नियोजित जीवन बिताने की पक्षपाती है। इसलिए यह निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। जो लोग अपने जीवन की उचित योजना नही बनाते है उनके जीवन का उत्तरार्द्ध दु खमय रहता है। मेरी समझ मे जीवन की योजना दो स्तरो पर बननी चाहिए एक तो व्यक्ति के स्तर पर और दूसरे समाज के स्तर पर। यदि समाज व्यक्ति के जीने की उचित योजना नही बनाता तो कम से कम व्यक्ति को तो अपने जीवन की योजना बनाकर तदनुसार जीवन बिताना चाहिए क्योकि इसी मे उसका कल्याण निहित है।

(3) **मानव के समुचित विकास मे सहायक—** मानव के यथोचित एव सर्वांगीण विकास मे सहायक होने के कारण इस व्यवस्था का मूल्य और अधिक बढ जाता है। इसका सबसे बडा प्रमाण यह है कि शिक्षा को जीवन के पहले चरण के साथ जोडा गया है। यदि शिक्षा का सम्बन्ध प्रथम आश्रम से न होता तो इस व्यवस्था का जो महत्त्व है वह न रह पाता। मानव विकास के सिद्धान्तो से सगत होने के कारण इसकी उपयोगिता मे सन्देह के लिए स्थान नही है। शिक्षा का महत्त्व मानव जीवन मे सर्वोपरि है। शिक्षा ही मनुष्य को मनुष्यत्व (मानवता) प्रदान करती है और उसे सच्चे अर्थो मे मानव बनाती है। उसमे विद्यमान पाशविक एव दावी प्रवृतियो का निराकरण एव दमन शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। शिक्षा मनुष्य की बौद्धिक क्षमता (विवेक) का पूर्ण विकास करती है। यदि उसे शिक्षा न दी जाय तो उसमे सुप्त क्षमताऍ जाग्रत ही न हो सके। विशेषरूप से जब शिक्षा बचपन मे दी जाती है तो उसका आनन्द और लाभ ही दूसरा होता है। अपने जीवन के आरम्भिक काल मे मानव शिशु सामाजिक दृष्टि से रिक्त होता है इसलिए उस पर मनचाही छाप डाली जा सकती है। बचपन का जीवन उतना उत्तरदायित्वो से भरा नही होता है जितना कि बाद का

जीवन। बाद के जीवन के उत्तरदायित्वा का निर्वाह ढग से हा इसके लिए आरम्भिक जीवन मे शिक्षा की व्यवस्था का होना बाद के जीवन मे शिक्षा का प्रबध होने से कई गुना अधिक गुणकारी एव लाभदायक है। सही–गलत, अच्छे–बुरे उपयोगिता और अनुपयोगिता का ज्ञान शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। ब्रह्मचर्याश्रम मे आध्यात्मिक एव सासारिक दोनो प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था है। शिक्षित होने के उपरान्त ही इस व्यवस्था मे व्यक्ति को परिवार (गृहस्थाश्रम) की जिम्मेदारियॉ सौपी जाती है। परिवार मे जिम्मेदारियॉ निभाने के लिए गृहपति के कर्त्तव्यो की सुन्दर एव समुचित व्यवस्था है।

(4) **परोपकारी व्यवस्था–** गृहस्थाश्रम के बाद वह महाप्रस्थान की तैयारी मे लग जाता है। जब एक मनुष्य महाप्रस्थान की तैयारी करता है तो वह अपना स्थान दूसरे के लिए छोड देता है और स्वय जगल मे चला जाता है। आज के जीवन जीने की व्यवस्था मे स्थान (पद) से चिपके रहने की चेष्टा अधिक है उसे छोडने का तो कोई नाम नही लेता। आश्रम व्यवस्था मे जिओ और जीने दो' का आदर्श साकार रूप मे विद्यमान है। आजकल नौकरी मे लगे लोग सेवा–विस्तार के लिए कोशिश करते है सेवाएँ समाप्त होने पर वे दुखी होते हैं। उन्हे दुखी नही होना चाहिए और दूसरे के लिए अपना स्थान खुशी–खुशी छोड देना चाहिए। आज जब बेरोजगारी की विकट समस्या देश के सामने है तब तो 50 वर्ष पर लोगो को रिटायर कर देने से युवको को जल्दी ही रोजगार के अवसर मिलने मे आशिक सहायता अवश्य मिलेगी। गृहस्थ के कर्त्तव्यो से स्पष्ट हो जाता है कि यह व्यवस्था परहित प्रधान है। गृहस्थ असहायो विकलांगो पशु पक्षियो कीडे–मकोडे एव अन्य आश्रम के लोगो की सहायता करे ऐसी आज्ञा शास्त्रो ने उसे दी है। यही नही देवताओ एव पितरो को सतुष्ट करना भी उसका कर्त्तव्य है।

(5) **व्यक्ति तथा समाज के सबधो मे समन्वय–** आश्रम व्यवस्था मे व्यक्ति एव समाज के हितो मे सघर्ष के बजाय तालमेल का प्राविधान है। प्रथम आश्रम मे समाज व्यक्ति की आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। गृहस्थाश्रम मे व्यक्ति सामाजिक कल्याण के कार्यो को करता है। सभी के पोषण की व्यवस्था करना गृहपति का कार्य है। वानप्रस्थ अपनी जीविका के लिए समाज पर आश्रित है पर साथ ही वह समाज कल्याण के प्रति चाहे तो सचेष्ट रह सकता है। सन्यास आश्रम मे वह समत्व बुद्धि से शुभ सामाजिक कार्यों मे लगा रहता है। व्यक्ति तथा समाज के हितो मे कही कोई परस्पर विरोध नही है। व्यक्ति और समाज दोनो एक दूसरे के पूरक हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से आश्रम व्यवस्था की यह एक बहुत बडी उपलब्धि है।

आश्रम व्यवस्था का पालन क्यों नहीं हुआ– मानव जीवन की एक सुन्दर व्यवस्था (योजना) होने के बावजूद भी आश्रम व्यवस्था अव्यावहारिक बनी रही। वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण से सबंधित यह व्यवस्था कुछ दोषो से

युक्त होने के कारण अपने पुराने रूप मे न चल सकी। वर्तमान समय मे तो अपने पुराने रूप मे आश्रम व्यवस्था चल ही नही सकती क्योकि आजकल जो शिक्षण सस्थाएँ हैं वे नगरो मे है वनो मे नही है। माता पिता अब अपने कोमल बच्चो को वन स्थित गुरु के आश्रम मे भेजना उचित नही समझते। आज शिक्षक राजाओं और सेठो के महलो मे जाकर वही उनके कुमारो को शिक्षा देने लगे हैं। आज का विद्यार्थी ब्रह्मचारी कैसे बन सकता है क्योकि सिनेमा वह देखता है बीडी व सिगरेट आदि वह पीता है उत्तेजक खाद्य पदार्थो जैसे मास मछली और अडा आदि का सेवन करता है। पढना या स्वाध्याय ही उसका अकेला काम नही है। पढने के साथ–साथ राजनीति खेलकूद नाटक और वाद–विवाद मे वह भाग लेता है। अत पुराने चाल के ब्रह्मचर्य आश्रम की सम्भावना आज नहीं है और न आवश्यकता ही है।

गृहस्थ के लिए यद्यपि शास्त्रो मे यह आज्ञा है कि वह 50 वर्ष की आयु पूरी होने पर घर छोड दे और वानप्रस्थ बन जाय लेकिन अर्थ और काम सेवन की प्रधानता मे वृद्धि के साथ लोगो ने घर मे ही रहना उचित समझा और जो लोग 50 वर्ष के बाद घर नही छोडते थे उनकी निदा नही होती थी जिसका फल यह हुआ कि लोग जीवन भर गृहस्थ बने रहने लगे। सन्यास या त्याग का नितान्त अभाव रहा। मजबूरी के कारण तो लोग सन्यासी बनते रहे अर्थात् जिनकी पत्नी मर गयी या जिनकी सम्पत्ति नष्ट हो गयी वे तो मूड–मुडाकर व कपडे रग कर सन्यासी बने[16]। वास्तविक सन्यासियो का अभाव ही रहा। आज जब सबको वर्तमान साज सज्जा से युक्त मकान और अन्य आराम की चीजो तथा धन व सम्पत्ति की आवश्यकता है तो फिर वानप्रस्थ और सन्यासी कहॉ से मिलेगे। ऐसे त्यागी लोग आज नही हैं जो ५० वर्ष की उम्र मे रिटायर होना पसन्द करते हो। रिटायर होने की आयु बढ जाय इसके लिए लोग प्रयत्नशील रहते हैं। अपनी व्यक्तिगत नौकरी की अवधि बढवाने के लिए तो उचित अनुचित उपायो का आश्रय भी लेते हैं।

आश्रम व्यवस्था मे मानव स्वभाव के प्रतिकूल बातो की व्यवस्था है। इसलिए इस व्यवस्था का पालन और नही हुआ। वानप्रस्थ जाडे मे गीले कपडे पहने गर्मियो मे आग तापे बरसात मे खुले आसमान के नीचे रहे। गृहस्थ की जब इन्द्रियाँ शिथिल पड जाये, परहेजी भोजन की उसे आवश्यकता हो, दूसरे के सहारे की उसे जरूरत हो तो वह घर–बार छोडकर जगल चला जाय। वानप्रस्थ और गृहस्थ के लिए ये आज्ञाएँ बहुत सख्त है। इसलिए इनका पालन भी न हो सका और आश्रम व्यवस्था व्यावहारिक रूप न ले सकी।

अपवाद स्वरूप कुछ मनुष्य भले ही आश्रमो मे विधिवत प्रवेश करते रहे हो नही तो आश्रमो के पालन की बात शास्त्रो तक ही सीमित रही और उपरोक्त कमियो के कारण आश्रमो के पालन की आवश्यकता नहीं समझी गयी।

---

16 मुई नारि गृह सम्पति नाशी । मूड मुडाई होहि सन्यासी ।। तुलसीदास

आश्रम व्यवस्था के सबध मे कुछ सुझाव

आश्रम व्यवस्था एक जीवन योजना है अत समाज को चाहिए कि आश्रम व्यवस्था के अनुसार जीवन योजना बनाने मे व्यक्ति की सहायता करे। व्यक्ति अपने जीवन की योजना ऐसी बना ले जिससे कम से कम वह अपने जीवन मे चार काम जरूर कर सके[17] – (1) जीवन के लिए अधिकाधिक तैयारी। (2) नैतिक नियमो के द्वारा आवश्यकतानुसार धन अर्जित कर दाम्पत्य जीवन बिताना। (३) धर्मानुकूल दाम्पत्य सुख भोगने के बाद दाम्पत्य जीवन के उत्तरदायित्वो से निवृत्त होकर अपनी पत्नी लेकर बाल बच्चो से अलग रहकर समाज कल्याण के कार्यों मे लग जाना और (४) पत्नी के मर जाने पर और शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाने पर आध्यात्मिक ग्रन्थो के अध्ययन मे लग जाना। यदि मानव जीवन मे सुख चाहता है तो उसे ऊपर बताये गये ढग से जीवन की योजना बनानी चाहिए।

डा भीखनलाल आत्रेय का मत है कि जो व्यक्ति विषय–सुखो मे अपनी मानसिक व शारीरिक शक्ति का अपव्यय करते है भविष्य का ध्यान न रखकर बिना सोचे समझे धन का उपभोग करते है उनके जीवन का उत्तरार्द्ध कष्टमय होता है। 50 वर्ष के भीतर ही बाल बच्चो के उत्तरदायित्व से मनुष्य को मुक्त हो जाना चाहिए। यदि रिटायर होने की आयु 50 वर्ष कर दी जाये तो रोजगार की समस्या का आशिक समाधान भी हो सकता है। गृहस्थ के उत्तरदायित्व से मुक्त होने पर उसे नि स्वार्थ समाज की सेवा करनी चाहिए।

जब बुढापा आ जाय और इन्द्रियॉ शिथिल पड जायॅ तो शान्त वातावरण मे रहकर भगवान का भजन करे और समय आने पर सहर्ष शरीर छोड दे। इस तरह की आश्रम व्यवस्था आज चल सकती है और इसे चलाने का प्रयत्न करना चाहिए। आत्रेय जी का कथन है कि समाज को चाहिए कि वह रिटायर हुए व्यक्तियो को अवैतनिक सेवाएँ करने का अवसर प्रदान करे और उनके लिए आवास की व्यवस्था करावे। आध्यात्मिक साधना करने वालो के लिए समाज कुटियॉ बनवाये। जो बुढापे के लिए अधिक नही बचा सके हैं वे भी अपना बुढापा सुख से बिता सके, इस हेतु उनके लिए आवश्यक खाना–कपडा का प्रबन्ध समाज को करा देना चाहिए।

अध्याय 5

कर्म–सिद्धान्त

Doctrine of Karma

वर्ण और आश्रम की ही भाँति कर्म का सिद्धान्त मनीषियो की प्रखर प्रतिभा और चितन का परिणाम है। हिन्दू समाज के हर क्षेत्र मे कर्म का सिद्धान्त व्याप्त है। हिन्दुओ की वर्ण और आश्रम की व्यवस्थाएँ तो कर्म–सिद्धान्त की नीव पर खडी हुयी हैं। कर्म का सिद्धान्त इसका ढिढोरा पीटता है कि मानव प्रयत्न (पुरुषकार) सबसे महत्त्वपूर्ण है। आलसी पुरुषो को उद्यम या पुरुषार्थ करने के लिये कर्म का सिद्धान्त शिक्षा देता है।

कर्म शब्द का अर्थ– कर्म सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना करने के पूर्व कर्म शब्द के अर्थ पर विचार कर लेना अधिक उपयुक्त होगा। कर्म शब्द अनेक अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। भारत की सामान्य जनता मे यह धारण फैली हुई है कि कर्म (करम) का अर्थ भाग्य या तकदीर है। करम मे जैसा लिखा होगा वही होगा – इस वाक्य मे कर्म का उपरोक्त अर्थ ही इगित है। कर्म का दूसरा अर्थ धन्धा है। कर्म तीसरे अर्थ मे मनुष्य जो कुछ करता है उस सबका द्योतन करता है। कर्म का चौथा अर्थ आचरण है। कर्म शब्द का पाँचवाँ अर्थ है स्वतत्रतापूर्वक निश्चित करके किया हुआ काम जिसका परिणाम भुगतना पडे[1]। व्युत्पत्ति के विचार से कर्म शब्द डुकृञ धातु मे मनिन प्रत्यय लगाने से बनता है जिसका अर्थ है काम करना (to do)। इस अर्थ मे मनुष्य की सभी चेष्टाएँ कर्म मे शामिल की जा सकती है। हर मनुष्य हर क्षण कुछ न कुछ करता रहता है। यदि कर्म का व्यापक अर्थ लिया जाय तो उठना बैठना, हँसना खेलना लिखना आदि सभी कर्म हैं। कर्म सिद्धान्त मे प्रयुक्त कर्म शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ का सूचक नही है। यह एक विशेष अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। यहाँ कर्म से अभिप्राय मानव के चेतन प्रयत्नो (Conscious efforts) से है। मानवेतर प्राणियो की क्रियाओ को सूचित करने के लिए कर्म शब्द व्यवहृत नही हुआ है। कर्म–सिद्धान्त के प्रसग मे कर्म का ऊपर बताया गया पाँचवाँ अर्थ भी ठीक है। पाश्चात्य विद्वान मैक्स वेबर ने भी (Action) शब्द का प्रयोग मानवीय चेष्टाओ को सूचित करने के लिए किया है मानवेतर प्राणियो की क्रियाओ को कर्म नही माना है[2]।

कर्म का सिद्धान्त–यह सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि हर काम का

---

१ आत्रेय डा० भीखन लाल भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास पृ–७२५।

2–Parsons, Talcott The Structure of Social Action Page 640

परिणाम या फल भी यह होता है। किये हुए कर्म का परिणाम कैसा हागा यह निर्भर करेगा किए हुए कर्म के नैतिक या अनैतिक स्वरूप पर। वह क्रिया जिसका कोई उद्देश्य न हो ओर परिणाम न हो उसे कर्म नही कहा जायगा। कर्म का सिद्धान्त बताता है कि किया हुआ कर्म कभी नष्ट नही होता और कर्मों का फल अमिट होता है। कर्मफल कर्म की प्रकृति के अनुसार अच्छा या बुरा हो सकता है। अच्छे कर्म करने से अच्छा फल मिलेगा सुख समृद्धि प्राप्त होगे । पाप कर्म का फल भी अशुभ और दु खमय होगा। मानसकार ने कर्म–सिद्धान्त की निम्नलिखित शब्दो मे बहुत सुन्दर व्याख्या की है।

कर्म प्रधान विश्व रचि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा।।

As you sow, so you reap अग्रेजी की इस कहावत में भी कर्म- सिद्धान्त की अच्छी अभिव्यक्ति हुयी है। बोया पेड बबूल का आम कहाँ से खाय कबीर की इस उक्ति मे भी कर्म के सिद्धान्त का सार निहित है।

कर्म और पुनर्जन्म–कर्म और पुनर्जन्म मे घनिष्ठ सबध है। कर्मों के आधार पर ही जीव एक योनि से दूसरी योनि मे भटकता फिरता है।

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अविनाशी।।
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा।। उत्तरकाण्ड 43/4–5

इन चौरासी लाख योनियो मे मनुष्य योनि ही कर्म–योनि है बाकी सभी योनियाँ भोग योनियाँ है। मनुष्य अपने सत् या असत् कर्मों द्वारा अपने भावी जीवन को बना या बिगाड सकता है। पाप कर्मों का फल मनुष्य से नीची तिर्यक योनियो मे भोगा जाता है। पुण्य कर्मों के क्षीण होने पर पुन मृत्यु लोक मे आना पडता ह[3]। अतएव मानव शरीर पाने पर ही मनुष्य अपना भाग्य सुधार सकता है। मनुष्य योनि यद्यपि देव योनि से भिन्न है फिर भी इसे इसी आधार पर अभीष्ट माना गया है कि इसे पाकर मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मानस रचयिता का कथन है–

बडे भाग्य मानुस तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा।।
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सवाँरा।। उत्तरकाण्ड 42/7–8

कहा जाता है कि कुछ कर्मो के फल हम यहाँ भोगते हैं और कुछ कर्मो का फल परलोक मे भोगते है तथा कुछ पाप और पुण्य कर्मो के फल भोगने के लिए शेष रह जाते हैं इसलिए इन्हें भोगने के लिए हमें फिर जन्म लेना पडता है। कर्मफल और पुनर्जन्म मे घनिष्ट सबध है। ईश्वर कर्माध्यक्ष है। वह प्रत्येक व्यक्ति के शुभ और अशुभ कर्मो का लेखा जोखा रखता है और इस अर्थ मे वह सुपर जज है। समाज में अथवा इस लोक मे अन्याय को पनपने की सम्भावना है लेकिन ईश्वर के यहाँ अन्याय नहीं होता है।

सभी कर्म जन्म मृत्यु और पुनर्जन्म के बन्धन मे बाँधने नहीं वाले नही होते है । केवल सोद्देश्य कर्मो के कारण जन्म और पुनर्जन्म होता है। निष्काम

कर्म मोक्ष दिलाने वाले माने गये है । कर्मफल के आधार पर पुनर्जन्म की व्याख्या करने के लिए आत्मा की अमरता को स्वीकार करना पडेगा और यह भी मानना होगा कि आत्मा सुख दुख भोगने वाला है। हिन्दू दर्शन मे आत्मा को अमर माना गया। शरीर नाशवान है। आत्मा (जीवात्मा) शरीर त्यागता रहता है। गीता का कथन है कि जैसे मनुष्य फटे पुराने वस्त्र छोडकर नये–नये वस्त्र धारण करता है वैसे ही जीवात्मा जीर्ण शरीर छोडकर नवीन शरीर धारण करता है।[4]

बृहदारण्यक उपनिषद् का कथन है कि मृत्यु के समय आत्मा बाहर निकल आता है और जीवन पर्यन्त किये गये कर्म आत्मा के साथ हो लेते हैं और ये सम्पूर्ण जीवन के सञ्चित कर्म उस रूप को निश्चिति करते हैं जिसे दूसरे जन्म में आत्मा को धारण करना पडता है। मरणशील प्राणी एक बीज की भॉति नष्ट होकर पुन पैदा होता है। मनुष्य के कर्मों के आधार पर उसकी योनि का निर्धारण होता है ऐसी बात कर्म सिद्धान्त से स्पष्ट होती है। कर्म सिद्धात मे कर्मों का फल दूसरे जन्म मे भोगने की बात कही गयी है। दूसरे जन्म मे आत्मा दूसरा शरीर धारण करता है और पहले शरीर को (जिससे अच्छे या बुरे कर्म हुए थे) त्याग देता है। यह कहॉ का न्याय है कि जिस शरीर से अच्छे या बुरे काम किये जाते है उसे अपने अच्छे या बुरे कर्मों का फल न भोगना पडे और दूसरा शरीर जो दूसरे जन्म मे प्राप्त होता है उसके द्वारा किये गये अच्छे या बुरे कर्मों का अच्छा या बुरा फल भोगे । कर्म कोई करे तथा फल कोई भोगे यह अन्याय है। यहॉ पर यह बात उल्लेखनीय है कि शरीर जिससे कर्म किये गये थे नष्ट हो जाता है परन्तु आत्मा तो वही बना रहता है। तो क्या आत्मा सुख–दुख भोगी है? नही क्योकि इसे न तो अस्त्र–शस्त्र काट सकते है न अग्नि ही जला सकती है न पानी गीला कर सकता है और न हवा सुखा सकती है। अत आत्मा निर्विकार है। जब आत्मा सुख–दुख भोगने वाला नही है तो यही निश्चित हुआ कि पुनर्जन्म के रूप मे जो शरीर प्राप्त होता है वही पिछले शरीर के किये हुए कर्मो का फल भोगता है जो न्याय की दृष्टि से सर्वथा अनुचित है।

मनुस्मृति और गीता में वर्णित कर्म–सिद्धान्त– मनुस्मृति के बारहवे अध्याय मे कर्म–सिद्धान्त का ही अधिक वर्णन है। मनु के अनुसार मन वाणी और शरीर समस्त कर्मों के स्रोत (उद्गम स्थल) हैं। प्रत्येक कर्म या तो शुभ फल देने वाला है या अशुभ। मनुष्य के जीवन की विभिन्न अवस्थाओ का कारण कर्म ही है। मानसिक पापो के परिणामस्वरूप एक व्यक्ति दूसरे जन्म अथवा जीवन मे निम्न जाति मे पैदा होता है । वाणी के पापो के कारण दूसरे जन्म मे वह जड वस्तुओ का रूप प्राप्त करता है। दुराचारी व्यक्ति को मृत्यु के बाद यम द्वारा नरक मे यातनाये दी जाती हैं और इन यातनाओ को भोग लेने के बाद वह व्यक्ति पुन मनुष्य योनि मे पैदा होता है। अत कर्म अनिवार्य रूप से पुनर्जन्म से आबद्ध है। कोई भी कर्मफल रहित नही होता है। कर्मों के फल का आनन्द लेने

4–वासासि जीर्णानि यथा विहाय नवानि ग्राह्णाति नरोपराणि।
तथा शरीराण विहाय जीर्णा न्यन्यानि सयति नवानि देही।। गीता 2/22

या कष्ट भोगने के लिए एक व्यक्ति को अनिवाय रूप से बार–बार पैदा होना पडता है।

मनु इस ससार से छुटकारा पाने के साधान के रूप मे आत्मज्ञान का उल्लेख करते हे । तप और विद्या मोक्ष प्राप्त करने के सर्वश्रेष्ठ उपाय है । पुण्य कर्मों से मोक्ष सुलभ नही है क्योकि इनसे तो दूसरे जन्म मे सुख प्राप्त होता है। मोक्ष आत्मज्ञान द्वारा ही मिल सकता है।

गीता के प्रारम्भ का विषय ही कर्म है। मनुष्य को जन्म और मृत्यु की श्रृखला मे बॉधने का कारण कर्म है। तो क्या मोक्ष प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय कर्मों को बन्द कर देना ही हैं? गीता मे इस बात का उल्लेख मिलता है कि कर्म मोक्ष प्राप्ति मे बाधक नही है। इसीलिए गीता कर्म न करने (अकर्मण्यता) अथवा जडता के पक्ष मे नही है। गीता का निचोड यह है कि अपना कर्तव्य करो अपने धर्म का पालन करो और कभी भी निष्क्रय न रहो। भगवद्गीता कर्मनिष्ठ जीवन की प्रशसा करती है तथा निष्क्रिय और जड जीवन की निदक है।

कर्मयोग का अनुकरण कर जनक आदि ने मोक्ष प्राप्त कर लिया । स्वय कृष्ण जी कर्मयोग के अनुयायी बने । गीता मे निष्काम कर्मों की प्रशसा की गयी है। **'कर्मण्येवाधिकारस्ते' मा फलेषु कदाचन्**, कर्म करना हमारा फर्ज है परन्तु कर्मफल से हमारा कोई लगाव नही होना चाहिए। गीता मे यही बतलाया गया है कि मोक्ष उसी व्यक्ति को मिलता है जो बिना किसी फल की इच्छा किए कर्म करता है।

कर्म भाग्य नही है

इस सबध मे हिन्दू चितन मे दो तरह की विचारधाराऍं मिलती हैं।

भाग्यवादी मत– एक विचारधारा भाग्य को प्रबल मानती है। दूसरी विचारधारा प्रयत्न अथवा पुरुषार्थ की प्रधानता स्वीकार करती है। भाग्य के लिये होनहार तकदीर विधि प्रारब्ध भवतव्यता दैव नियति आदि शब्दो का भी प्रयोग होता है । दैव सब कुछ करता है यहॉ। तक कि प्रयत्न को भी निष्फल कर देता है। मैं ही सब कुछ करता हूँ यह मनुष्य का वृथाभिमान है (अहकारी मीति वृथाभिमान)। दैव ईश्वर का नियम है। मनुष्य का इसमे कोई वश नहीं है। हुइहै वहै जो राम रचि राखा।' 'तुलसी जस भवतव्यता तैसेइ मिलिहि सहाय। आपु न आवै ताहि पै ताहि तहॉ लै जाइ।। 'मातु व्यर्थ जनि लेहु कलका। तुम सन मिटहि न विधि के अका।। 'What ıs allotted, can not be blotted', आदि कथनो से तो भाग्य की प्रबलता और मनुष्य की विवशता परवशता सिद्ध होती है। जब मनुष्य कुछ करता ही नही है और न वह कुछ कर सकता है तो फिर वह भाग्य विधाता' जीवन–निर्माता और भविष्य निर्माता कैसे है ? यदि मनुष्य स्वेच्छा से कर्म करने को स्वतत्र नही है तो वह दैव के अधीन है । कहते

हैं कि दैव (ईश्वर) की मर्जी के बगैर पत्ता नही हिल सकता। वही प्रेरणा का स्रोत है। वही सब कुछ कराता है। कुछ लोगो को छाँटकर उनसे अच्छे काम कराता है और उन्हे सद्‌गति दिलाता है। यदि इन बातो को मान लिया जाय तो मनुष्य की कोई अहमियत नही रह जाती है और उसे अच्छे बुरे उचित—अनुचित कर्मों के लिए उत्तरदायी भी नही ठहराया जा सकता है। भाग्यवाद के इस सिद्धात ने हिन्दू जनता का बहुत अहित किया है आलस्य के बढने एव पनपने मे इससे सहायता मिली है। भाग्यवाद ने मनुष्य को आलसी निष्क्रिय और पराध ीन बनाया है।

पुरुषार्थवादी मत—इसके ठीक विपरीत दूसरी विचारधारा पुरुषार्थवादी है। दैव कुछ है ही नही। मनुष्य के प्रयत्न ही सब कुछ हैं । मनुष्य कर्म करने के लिए स्वतत्र है। वह जैसा चाहे बन सकता है। अपना जीवन—सुधार सकता है। वह भाग्य—निर्माता है। बालकृष्ण भटट का यह मत बहुत ही सार्थक है कि **'ईश्वर भी सानुकूल सहायक उन्ही का होता है जो अपनी सहायता अपने आप करते है।** दैव देव आलसी पुकारा। मत्र महामनि विषय व्याल के । मेटत कठिन कुअक भाल के।। उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथै । नहि सुप्तस्य सिहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगा ।। आदि कथन कर्म की प्रधानता एव मनुष्य के स्वतत्र कर्त्ता होने की बात पर जोर देते हैं।

उक्त दोनो मतो मे समन्वय आवश्यक— ऊपर कही गई दो परस्पर विरोधी विचारधाराओ मे समन्वय और सामजस्य बैठाने की चेष्टा की गयी है। इस सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि पूर्वकृत कर्मों के अवश्यभावी फल का नाम भाग्य अथवा दैव है। इसके अतिरिक्त दैव कुछ नही है। वर्तमान—कृत कर्म पुरुषार्थ है। पूर्वकृत कर्मों का फल पुरुषार्थ (वर्तमान कृत कर्म) द्वारा बहुत कुछ प्रभावित किया जा सकता है। पुरुषार्थ और भाग्य दो मेढो के समान लडते हैं और जो विजयी होता है उसी का प्रभाव अधिक पडता है। अत मनुष्य को इतना पुरुषार्थ करना चाहिए कि वह पूर्व काल मे किए हुए अपने बुरे कर्मों के फल को बदल सके। पुरुषार्थ और भाग्यवाद दोनो मे आशिक सत्य दिखाई पडता है। न तो भाग्यवाद को ही सब कुछ माना जा सकता है और न पुरुषार्थवाद को सब कुछ क्योकि यदि पुरुषार्थ ही सब कुछ होता तो एक ही प्रकार के प्रयास से अज्ञात शक्तियॉ और सयोग द्वारा भिन्न—भिन्न फल न प्राप्त होते। ऐसी हालत मे दोनो विचारधाराओ मे समन्वय ही अच्छा मार्ग है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भाग्य पूर्वकृत कर्मों का प्रतिफल है। यह विचार गलत है कि फर्म मनुष्यो के भाग्य से निर्धारित होते हैं[5]। सच बात तो यह है कि भाग्य कर्म सचय से बनता है। भाग्य कर्म पर निर्भर है। अच्छे कर्म करके भाग्य सुधारा जा सकता है और बुरे कर्म करके भाग्य बिगाडा जा सकता है।

5—तुलसी जस भवतव्यता तैसइ मिलइ सहाय।
आपु न आवै ताहि पै ताहि तहॉ लै जाय।।—तुलसीदास

बिना कर्म के भाग्य निष्क्रिय और निष्फल हो जाता है। कर्म और भाग्य मे कौन प्रधान है ? युधिष्ठर ने भीष्म से पूछा। भीष्म ने उत्तर दिया कर्म बीज के समान है और भाग्य क्षेत्र (भूमि) के समान । जिस तरह बिना बीज के भूमि फसल नही दे सकती उसी तरह बिना कर्म के भाग्य निष्क्रिय रहता है। कर्म करने से ही सब कुछ मिलता है[6] भाग्य पर निर्भर रहने से कुछ हाथ नही लगता। कर्म न करने वाले आलसी लोग ही भाग्य की दुहाई देते हैं[7]। जिस तरह दीपक मे तेल घटने के साथ दीपक की लौ मन्द पडती जाती है वैसे ही कर्म के अभाव मे भाग्य मन्द पड जाता है। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कर्म भाग्य नही है बल्कि भाग्य कर्मो का प्रतिफल है।

हिन्दू जीवन–क्रम मे कर्म का महत्त्व– (Importance of Karma in Hindu Scheme of Life)-

मनुष्यो मे सत्कर्म के प्रति अटूट श्रृद्धा बनाये रखने मे सहायक– मानव जीवन के लिए कर्म बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। सत्कर्म की भित्ति पर तो समाज का ढॉचा ही अवलम्बित है। जब तक समाज मे व्यक्ति सत् कर्मों मे अनुरक्त रहते हैं समाज मे अपराध और बाल अपराध जैसे विकार पैदा नही होते हैं। कर्म का सिद्धान्त मनुष्यो को सत्कर्म करने के लिए प्रोत्साहित करता है। कर्म का सिद्धान्त मनुष्यो को बताता है कि कुकर्मी नरकगामी होकर नाना प्रकार की यातनाये सहन करता है और सत्कर्मी स्वर्ग मे जाकर सुखो को भोगता है। कर्म का सिद्धान्त मनुष्यो को कष्टो और यातनाओ का भय दिखाकर असत् कर्मों से विरत होने की सलाह देता है। व्यावहारिक जगत मे कुछ मनुष्य शुभ कर्मो को करने के बाद भी असफलताओ और दु खो का शिकार होते देखे जाते हैं और कुछ लोग कुकर्म करने के बाद भी सफलता और सुखो को भोगते हैं। ऐसी स्थिति मे शुभ आचरण करने वाले पुरुष (यह सोचकर कि जब बुरे आचरण मे अनुरक्त व्यक्ति सुख भोग रहे हैं तो क्यो शुभ कर्म किए जावे) कही अशुभ आचरण न करने लगे कर्म का सिद्धान्त इन सदाचारी पुरुषो को सदाचार से यह सान्त्वना देकर डिगने नही देता कि दुराचारी पुरुषो को पिछले जन्मो के सदाचार के कारण इस जन्म मे कुकर्म करने पर भी सुख और समृद्धि प्राप्त हो रहे है जबकि सत्कर्मी लोगो के अतीत के कर्म अशुभ थे इसलिए वे लोग विफलता और दु खो का शिकार हो रहे हैं और उन्हे यह आशा दिलाता है कि बुरे कर्म करने वालो का भावी जीवन दु ख और कष्टों से पूर्ण होगा जब कि सत्कर्मियो का भावी जीवन उज्ज्वल सुखदायी और सफलता प्रदान करने वाला होगा। इस प्रकार कर्म का सिद्धान्त मनुष्यो मे सत्कर्म के प्रति अटूट आस्था बनाये रखने मे सहायक है।

भविष्य–सुधार की गुजाइश पर बल– कर्म के सिद्धान्त के अनुसार

अतीत का जीवन समाप्त हो चुका है। वर्तमान जीवन अतीत के कर्मों का फल है। लेकिन भविष्य का जीवन अब भी शेष है जिसका निर्माण वर्तमान कर्मों के आधार पर होगा। पापियो के लिए निराशा अपराध और कष्ट की स्थिति मे भी आशा का द्वार खुला है[8] ऐसा उल्लेख कर्म का सिद्धात करता है । पापीगण यह न समझे कि पाप कर्म करने के बाद अब उनके लिए शुभ कर्म करने का समय ही नही रहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार शुभ कर्म करने का समय कभी समाप्त नही होता । जब से शुभ कर्म होने लगे तभी से ठीक है।

उद्यम अथवा मेहनत पर बल– यह दुर्भाग्य का विषय है कि जब मनुष्य आलसी हो गया तो कर्म का सिद्धात भाग्यवाद के गलत अर्थ मे समझा जाने लगा। जडता और अकर्मण्यता को कर्म के सिद्धात के आधार पर प्रश्रय दिया जाने लगा। कर्म का सिद्धात निष्क्रियता का पक्ष नही लेता। कुछ लोग मेहनत और परिश्रम से कतरा कर जीवन मे सफल न होने पर अपने भाग्य को कोसते हैं[9]। लेकिन स्मरण रहे ऐसा कथन कापुरुषो का ही होता है। ये हुइहै सोई जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढावै साखा। की दुहाई देते है और इसीलिए ये सोचते है कि इस जन्म मे कुछ करने की आवश्यकता नही है, जो कुछ होना है वह तो होके रहेगा। ऐसा विचार भ्रान्त है। इन्हे यह सोचना चाहिए कि जब कर्मों का ही फल भोगना है और कर्मों द्वारा मुक्ति भी मिल सकती है तो पिछले जन्म मे यदि कर्म करने मे कोई भूल हुई है तो ऐसी भूल आगे न की जाय और इस जन्म मे शुभ और निष्काम कर्म करके क्यो न अपना उद्धार कर लिया जाय।

मैक्स वेबर का मत है कि कर्म के सिद्धात ने ससार को सर्वथा विवेकानुगत एव धर्ममूलक सृष्टि मे परिणत कर दिया है। इस कर्म सम्पृक्त जगत् मे ईश्वर की न्यायोक्ता के समर्थक जितने भी सम्प्रदायो को इतिहास ने जन्म दिया है यह (कर्म का सिद्धात) उनमे सबसे अधिक सगत है[10]।

कर्म भेद

समय के आधार पर कर्मों को तीन[11] कोटियो मे बॉटा जा सकता है।

(1) सचित कर्म–अतीत मे किए गए कर्म।

8–The law of Karma encourages the sinner that it is never too late to mend It does not shut the gates of hope against despair and suffering The Hindu View of Life Page 55

9–उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथै ।
नहि सुप्तस्य सिहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगा ।।

10–Karma doctrine transformed the world into strictly rational ethically determined cosmos it represents the most consistent theodicy ever produced by history Max Weber The Religion of India Page121

११–सचित प्रारब्ध और क्रियमाण–इन तीन कर्मों को K V Rangaswami Aiyangar ने बडे ही सुन्दर ढग से समझाया है।

'We may compare the first (Shanchita Karma) to inherited capital, the second (Prarabdha) to capital that has been accumulated and is destined for use and the third (Kriyamana) to capital-in-use –Some Aspects of the Hindu View of Life According to Dharmashastra'K V Rangaswami Aiyangar Page-37

(2) प्रारब्ध–वह कर्म जिसका प्रभाव प्रारम्भ हो गया है।

(6) क्रियमाण–वह कर्म जो भविष्य मे होगे।

कर्म उद्देश्य की दृष्टि से कर्म के दो भाग किए जा सकते है।

(1) अभ्युदय जनक–अभ्युदय जनक कर्म वे है जो इसलिये किये जाते है जिससे कि इस लोक मे सुख समृद्धि और शान्ति मिले।

(2) नि श्रेयस् जनक–अनासक्त कर्मों को नि श्रेयस कहते हैं। जिन कर्मो से पारलौकिक सुख व समृद्धि मिले निश्रेयस् जनक कर्म कहलाते है।

प्रथम प्रकार के कर्मों को प्रवृत्ति कर्म और दूसरी कोटि के कर्मों को निवृत्ति कर्म कहते हैं।

कर्म–सिद्धात का दुरुपयोग– समस्त हिन्दू सामाजिक सगठन मे व्याप्त कर्म का सिद्धात स्वय दोषपूर्ण नही है। ब्राह्मणो ने कर्म के सिद्धात का गलत प्रयोग किया। इस सिद्धात की गलत ढग से व्याख्या कर ब्राह्मणो ने वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था मे व्याप्त असमानता के औचित्य को सिद्ध किया। वर्ण व्यवस्था मे शूद्रो का स्थान निम्न था । शूद्रो ने जब ब्राह्मणो से यह पूछा होगा कि हमे समाज मे निम्न स्थान क्यो दिया गया? इसका उत्तर ब्राह्मणो ने इस तरह दिया होगा कि हम किसी को निम्न स्थान क्यो देगे। तुम अपने आप निम्न स्थान के पात्र बने क्योकि तुम्हारे पूर्वजन्म के कर्म जरूर खराब रहे होगे। शूद्रो ने कहा 'तुम्हे कैसे मालूम ? ब्राह्मण नियामको ने कहा यदि तुम्हारे अच्छे ही कर्म होते तो शूद्र के यहॉ जन्म न लेते कही ब्राह्मण या क्षत्रिय के घर तुम्हारा जन्म हुआ होता। तुम्हारा शूद्र के यहॉ जन्म लेना ही इस बात का प्रमाण है कि तुम्हारे कर्म खोटे है। पूर्व जन्म के कर्मो का इतिहास तो किसी को स्मरण नही रहता इसलिये शूद्रो ने ब्राह्मणो के इस कुतर्क मे फॅसकर अपने हृदय मे छिपी हुई विद्रोह की आग को शान्त कर लिया और विवश होकर उनकी बात मान ली तथा अन्याय सहन करते रहे। इस प्रकार ब्राह्मण शूद्रो के प्रति जो अन्याय करते रहे उसके औचित्य को कर्म के सिद्धात के आधार पर प्रदर्शित करते रहे। अत कर्म के सिद्धात का प्रयोग ब्राह्मणो ने अन्याय को छिपाने के लिए किया और यही कर्म के सिद्धात का दुरुपयोग है।



अध्याय 6

धर्म की अवधारणा

Concept of Dharma

धर्म और रिलीजन मे भेद— प्राय अग्रेजी के शब्द रिलीजन का हिन्दी मे अनुवाद धर्म के रूप मे किया जाता है जिससे सस्कृत के धर्म शब्द को लोग रिलीजन का समानार्थक समझने की भूल करते हैं। वास्तविक्ता यह है कि धर्म और रिलीजन मे मौलिक भेद है दोनो एक नही हैं। धर्म शब्द हिन्दू परम्परा मे दो अर्थों मे व्यवहृत हुआ है। प्रथम पुरुषार्थ के रूप मे और दूसरे कर्त्तव्यो और दायित्वो के समुच्चय के रूप मे। रिलीजन सम्प्रदाय का द्योतक है और इस अर्थ मे सकुचित है। रिलीजन शब्द ईसाइयत और इस्लाम के लिए अधिक उपयुक्त है न कि हिन्दुत्व के लिए। धर्म शब्द का व्यापक अर्थ है यह तो समस्त मानवता के लिए है। रिलीजन का केन्द्र कोई न कोई अलौकिक शक्ति अथवा समाजोपरि शक्ति है। इस शक्ति मे विश्वास रिलीजन का प्रधान अग है। इस अलौकिक शक्ति की पूजा करने की विधियो का भी रिलीजन मे समावेश है। धर्म का सबध अलौकिक शक्ति से नही है। धर्म तो जीवन यापन का एक तरीका है।

धर्म का अर्थ— भारतीय चितन मे प्रविष्ट होने वाली समस्त धारणाओ मे धर्म का प्रत्यय सबसे प्रमुख है। सस्कृत भाषा का यह शब्द अनेक अर्थों से गुजर चुका है इसलिए यह शब्द व्यापक अर्थों का द्योतक भी है। धर्म का प्रयोग सभी प्रकार की मानव क्रियाओ को निश्चित करने तथा इनके मूल्याकन के लिए किया जाता है। डा राधाकृष्णन् ने धर्म के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए बतलाया है कि धर्म का उद्देश्य हमारे विविध प्रकार के उद्देश्यो, हितो और इच्छाओ मे सामजस्य का सचार करना है। चूकि धर्म नाना प्रकार के स्वार्थों और इच्छाओ के मध्य एकता को जन्म देता है इसे कर्तव्यो और दायित्वो के एक विस्तृत सिद्धान्त के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है। अतएव उचित कर्त्तव्यो को ही डा राधाकृष्णन ने धर्म की सज्ञा दी है।[1] इस सदर्भ मे जिमर ने ठीक कहा है कि धर्म समस्त नैतिक क्रियाओ की विधि अथवा दर्पण है।

धर्मराज युधिष्ठिर सत्यवादन को ही धर्म बतलाते है। महाभारत मे युधिष्ठिर अपने धर्म की परीक्षा मे अपने पिता यक्ष (धर्म) के प्रश्न के उत्तर मे कहते है कि वेद व स्मृतियो मे अनेक प्रकार के विचार है मुनियो के विचारो मे भी वैभिन्य परिलक्षित होता है धर्म का तत्त्व गुफा मे निहित है इसलिए श्रेष्ठ पुरुष (महाजन) जिस मार्ग का अनुसरण करे वही धर्म है।

---

1 राधाकृष्णन सर्वपल्ली दि हिन्दू व्यू आव् लाइफ पृष्ठ 56

साहित्यिक एव धात्वर्थ– साहित्यिक अर्थ के दृष्टिकोण से धर्म धृ धातु से बना है जिसका अर्थ होता है धारण करना आश्रय देना सहारा देना रोके रहना। इसीलिए धर्म वह वस्तु है जो किसी चीज को धारण करती है अथवा जिसमे धारण करने की क्षमता होती है। महाभारत के कर्ण पर्व मे धारण करने की क्षमता के ही कारण इसे धर्म की सज्ञा दी गई है। धर्म प्रजा को धारण करता है। जो धारण के साथ सयुक्त है वह निश्चय ही धर्म है[2]।

समाजशास्त्र मे धर्म शब्द का प्रयोग समाज को धारण करने के अर्थ में हुआ प्रतीत होता है। धर्म एक ऐसा तत्त्व है जो समाज को थामे हुए है, इसे कायम रखे हुए है। धर्म समाज का पालन–पोषण करता है। नैतिक आदर्शों को उपस्थित कर समाज की जडो को मजबूत बनाता है। समाज में होने वाली अव्यवस्थाओ को कम करता है। उन सामाजिक शक्तियो में सतुलन बनाये रखता है जो पुष्ट समाज के लिए आवश्यक हैं। अतएव समाज के सुसगठन के लिए धर्म एक अनिवार्य वस्तु है। हिन्दुओ का मत है कि धर्म के ह्रास के साथ अधर्म (पापो) मे वृद्धि होती है। पापो की वृद्धि के साथ–साथ समाज में विकार आने लगते हैं। समाज मे उत्पन्न होने वाले इन विकारों को रोकने के लिए तथा धर्म के उत्थान और अभ्युदय के लिए ही अवतार होता है। यहाँ पर धर्म सद्गुण (पुण्य) के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

डा भगवानदास के शब्दों मे साहित्यिक दृष्टिकोण से धर्म वह है जो किसी वस्तु को धारण करता है और उस वस्तु को वस्तु बनाये रखता है। उसमे उत्पन्न होने वाले विकारो को रोकता है। सर्वसाधारण ढग से धर्म को मानव कर्तव्यो पारिवारिक कर्त्तव्यो सामाजिक कर्त्तव्यो आध्यात्मिक सास्कृतिक और राजनैतिक कर्त्तव्यो के रूप मे समझा जा सकता है। वस्तुत धर्म का अर्थ मानव समाजों के सुदृढ सगठन के लिए अनिवार्य कर्त्तव्यो के समूह अथवा समुच्चय से होगा। इसके अतिरिक्त धर्म को एक ऐसी रहस्यमयी शक्ति के रूप मे भी समझा जा सकता है जो मनुष्यो को पुरस्कृत करने और दण्ड देने के योग्य है। इस प्रस्तुत अर्थ मे धर्म न्याय के अलावा और कुछ नही है।

धर्म एव न्याय– धर्म का प्रत्यय प्लेटो के न्याय के प्रत्यय के समकक्ष है क्योकि दोनो औचित्य पर बल देते हैं।

ऋत एव धर्म– कतिपय मनीषियो का कहना है कि वैदिक 'ऋत' की धारणा धर्म के प्रत्यय के समकक्ष है। ऋत' को ससार की उचित व्यवस्था के रूप मे परिभाषित किया गया है। ऋत सत्य अथवा वस्तुओ के सत्य और धर्म अथवा उद्विकास के नियम दोनो का परिचायक है। डा राधाकृष्णन् का कहना है कि धर्म वस्तुओ के सत्य के समरूप है। अधर्म उसका उल्टा है। नैतिक अनिष्ट सत्य के समरूप नही है।[1] सत्य ससार को घेरे हुए है और विश्व को नियन्त्रित

---

2 धारणात्धर्ममित्याहुधर्मो धारयते प्रजा।

करता है। कीथ ने ऋत को ब्रह्माण्ड की व्यवस्था कहकर पुकारा है और यह अनृत के विरुद्ध नैतिक व्यवस्था का सूचक भी है। ऋत एक विश्व शक्ति है और ईश्वर भी उसके नियमो के अधीन है। यज्ञ के साथ ऋत समस्त प्राचीन भारतीय सामाजिक और नैतिक चिन्तन मे व्याप्त रहा है। कीथ ने बतलाया कि धीरे–धीरे ऋत' के प्रत्यय का स्थान धर्म के प्रत्यय ने ले लिया क्योकि ऋत का प्रत्यय विकसित स्थिति की सम्पूर्ण आवश्यकताओ का समाधान न कर सका जबकि इन आवश्यकताओ का उत्तर देना सामाजिक सगठन की जटिलता मे वृद्धि के साथ आवश्यक था। P V Kane का भी कहना है कि वैदिक ऋत की धारणा काफी उच्च और श्रेष्ठ है और बाद के धर्म सिद्धान्त का यह बीज है।

आचार सहिता के रूप मे धर्म– इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म का प्रत्यय काफी व्यापक है और यह मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन का आलिगन करता है। धर्म शास्त्र के लेखको ने धर्म को विश्वास और रिलीजन के अर्थ मे नही समझा बल्कि उन्होने धर्म को एक ऐसे जीवन के ढग (mode of life) अथवा आचार–सहिता (code of conduct) के रूप मे समझा जिसने एक मनुष्य के कर्म ओर क्रियाओ को समाज के सदस्य के रूप मे तथा व्यक्ति के रूप मे नियत्रित किया और जिसका उद्देश्य व्यक्ति को धीरे–धीरे विकसित करना यथा इस लायक बना देना था कि वह मानव जीवन के चरम उद्देश्य को प्राप्त करे ले[4]।

स्वभाव के अर्थ मे धर्म– धर्म शब्द किसी वस्तु के आन्तरिक गुण अथवा स्वभाव का भी सूचक है। उदाहरणार्थ आग का धर्म जलाना है सॉप का धर्म काटना है। इन उदाहरणो मे धर्म का तात्पर्य स्वभाव अथवा गुण से है।

धर्म की शास्त्रीय परिभाषाऍ– धर्म की परिभाषा देने की चेष्टा कुछ शास्त्रकारो ने भी की है। जैमिनि ने कहा है, धर्म वह है जिसमे प्रेरणा देने का लक्षण पाया जाता है' [5]। वैशेषिक सूत्र के अनुसार धर्म वह है जिससे अभ्युदय और नि श्रेयस् की प्राप्ति होती है [6]। अभ्युदय का मतलब जहॉ लौकिक सुख समृद्धि और सम्पन्नता से होता है वही नि श्रेयस् का सम्बन्ध पारलौकिक उपलब्धियो से है। अत धर्म वह है जिससे इहलोक और परलोक मे सुख प्राप्त होता है। सुख और आनन्द का मूल धर्म है (धर्मे सुखमासीत)[7]।

निष्कर्ष– उपर्युक्त वर्णन इस बात का प्रभाण है कि अर्थ की दृष्टि से धर्म अनेक सक्रमण कालो से होकर गुजरा है अनेक विभिन्नताओं के बावजूद भी धर्म का इस्तेमाल सभी ने सुदृढ़ सामाजिक सगठन के लिए अनिवार्य कर्त्तव्यो और दायित्वो के अर्थ मे किया है। यात्रिक नियमो की भॉति धर्म की धारणा कोई निश्चित सिद्धान्त नही है अपितु एक गतिशील विचार है।

---

4 कणे पी०वी० हिस्ट्री आव् धर्मशास्त्र वाल्यूम 2 भाग1 ।

5 चोदनालक्षणार्थो धर्म । पूर्वमीमासा

6 यतोभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म । वैशेषिक सूत्र।

7 कल्याण हिन्दू–सस्कृति अक पृ 369।

धर्म शब्द पुरुषार्थ के रूप मे — हिन्दुओ ने पुरुषार्थ की सख्या चार मा ी है जो इस प्रकार है। धर्म अर्थ काम और मोक्ष। चारो पुरुषार्थों मे धर्म सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। हिन्दू का जीवन एक महायात्रा है जिसका गन्तव्य है मोक्ष। मनुष्य इस महायात्रा का पथिक है। काम और अर्थ का सेवन उसे प्रिय है। काम और अर्थ का विचार मनुष्य के मस्तिष्क से तभी निकाला जा सकता है जब उसके मस्तिष्क की बनावट को ही परिवर्तित कर दिया जाय। इसलिए मनुष्य काम और अर्थ का सेवन करता हुआ जीवन यात्रा पूरी करना चाहता है लेकिन कही काम और अर्थ का अनुचित सेवन उसे पथभ्रष्ट न कर दे पुरुषार्थों म धर्म का विधान किया गया और धर्मानुकूल काम -तुष्टि और अर्थ प्राप्ति के लिए उसे शास्त्रो मे आदेश दिया गया। पुरुषार्थ के रूप मे धर्म नैतिक नियमो की व्यवस्था है। नैतिक नियम सदाचार पर बल देते है। ये नैतिक नियम व्यक्ति को नियन्त्रित करते है और सामाजिक सतुलन बनाये रखने मे सफल होते हैं। अर्थ और काम सेवन के क्षेत्र मे व्यक्ति को धर्म नियन्त्रित करता है। अत धर्म एक नियमन कर े की (नियत्रक) शक्ति है। इस अर्थ मे धर्म एक गडरिये अथवा चरवाहे के सदृश है। गडरिया (सेफर्ड) जानवरो की देखभाल करता है उन्हे खेतो की हरियाली की तरफ आकृष्ट नही होने देता या हरे- भरे खेतो मे खाने से रोकता है। जिस प्रकार जानवरो को आकर्षित करने वाले हरे—भरे लहलहाते खेत है उसी प्रकार मनुष्य को आकर्षित करने वाली सुरा सगीत सुन्दरी विषय—भोग ओर नाना प्रकार के आर्थिक और राजनीतिक लोभ आदि अनेक सासारिक हरियालियॉ है। मनुष्य इन लौकिक हरियालियो मे फॅसकर कही अपना मार्ग ही न भूल जाय और उसकी महायात्रा अधूरी न रह जाय इसके लिए धर्म रूपी गडरिये का हिन्दुआ मे विधान है जो मनुष्य रूपी पशु को विषय—भोग की हरियालियो मे नही फँस ा देता। महाभारत मे वेदव्यास ने शायद इसीलिए धर्म को सभी पुरुषार्थों से श्रेष्ठ माना है। जब धर्म से ही अर्थ और काम प्राप्त होते हैं तो धर्म का सेवन क्यो न किया जाय।

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्माद् अर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।। स्वर्गारोहण पर्व 5/62

चारो पुरुषार्थों मे धर्म सबसे महत्त्वपूर्ण है इसे सिद्ध करने के लिये कोई--कोई विद्वान धर्म की उपमा एक सारथी से देते हैं । सारथी का कार्य है रथ पर आरूढ व्यक्ति को इष्ट स्थान पर पहुँचाना। यदि धर्म को सारथी माने तो काम को अश्व मानना पड़ेगा और अर्थ को रथ का काष्ठ भाग तथा मुक्ति (परम सेव्य) को व्यक्ति का अभीष्ट। धर्म रूपी सारथी का कार्य अर्थ रूपी उस रथ मे बैठे हुए मनुष्य को जिसमे कामरूपी अश्व जुता हुआ है उसके अभीष्ट मोक्ष को प्राप्त कराना है।

धर्म हमे बताता है कि अर्थ और काम साध्य न होकर साधन मात्र है। वह

जीवन जो अर्थ और काम की अमर्यादित सतुष्टि पर बल दता हे अवाछनीय और खतरनाक है। अत यह आवश्यक है कि जीवन मोक्ष प्राप्ति के आदर्श द्वारा मर्यादित हो और यही वह कार्य है जिसके लिए धर्म की आवश्यकता है। धर्म मनुष्य मे विद्यमान सग्रहवृत्ति और भावनात्मक अभिलाषाओ को दिशा प्रदान कर जीवन के आनन्द और मोक्ष मे समन्वय स्थापित करता है।

सामान्य धर्म और विशिष्ट धर्म—पुरुषार्थ के अलावा धर्म शब्द सस्कृत साहित्य मे कर्तव्यो के समूह के रूप मे इस्तेमाल हुआ है। कर्तव्यो के रूप मे धर्म के दो पक्ष है (1) सार्वभौमिक पक्ष और (2) विशिष्ट पक्ष। कुछ धर्म तो मनुष्य मात्र के लिए है । इन्हे साधारण धम अथवा मानव धर्म की सज्ञा दी गयी है। मानव धर्म के रूप मे साधारण और शाश्वत नियमो को निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है। मानव धर्म का विकास इस धारणा के आधार पर हुआ है कि देश काल, गुण और श्रम के कारको से उत्पन्न विचरणो के होते हुए भी मानव जीवन सर्वत्र समान है और इस कारण कुछ आधारभूत नियमा तथा सिद्धाता से बॅधा हे। यही सवव्यापी आधारभूत नियम तथा सिद्धात मानव धर्म का सार है [8]। धर्म के ये नियम और सिद्धात सुखी मानव जीवन के आधार है। महाभारत मे अक्रोध सत्य वादन सविभाग (न्याय) क्षमा स्व स्त्री मे सतोष शौच अद्रोह आर्जव आश्रित जनो का भरण पोषण—ये नौ सभी वर्णो के धर्म बताये गये है। मनुस्मृति मे सत्य अहिसा अस्तेय शौच और इन्द्रिय निग्रह सभी बर्णो के धर्म बताये गये है। इसके अलावा मनुस्मृति (6/92) मे धर्म के दस नियमो का उल्लेख है। इनके पालन करने से इहलोक और परलोक मे सुख मिलता है और समाज व्यवस्थित रहता है। ये धर्म के दस नियम इस प्रकार है— धैर्य क्षमा दम (सयम) अस्तेय (बिना मॉगे किसी की चीज न लेना अथवा चोरी न करना) शौच (बाहर भीतर की शुद्धि अथवा सब प्रकार की शुद्धि) इन्द्रिय—निग्रह (इन्द्रियो को काबू मे रखना) धी (बुद्धि द्वारा विचार करके कामो को करना) विद्या (सब प्रकार का विशेषकर आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने मे प्रयत्नशील होना) सत्य (सच बोलना) अक्रोध (जहॅा क्रोध करने का अवसर हो वहॅा भी क्रोध न करना)। अपने योग सूत्र मे पतञ्जलि ने पॉच यम और पॉच नियमो के रूप मे धर्म के नियमो के पालन का आदेश दिया है जो इस प्रकार है—

पॉच यम—अहिसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। पॉच नियम—शौच सन्तोष तप स्वाध्याय और ईश प्राणिधान (ईश्वर मे विश्वास और उस पर भरोसा)[9]।

ऊपर कहे गये धर्म के नियम सब मनुष्यो के लिए है चाहे वे किसी देश काल वर्ण जाति या आश्रम के हो।

कुछ धर्म ऐसे होते है जो सबके लिए नही होते। ये धर्म व्यक्ति की भिन्नताओ के आधार पर भिन्न—भिन्न होते है। व्यक्ति एक दूसरे से स्वभाव गुण लिग अथवा किसी स्थान पर नियुक्ति के आधार पर भिन्न होते है और इन

8—भट्ट गौरीशकर भारतीय सस्कृति पृष्ठ113

9—डॉ भीखन लाल आत्रेय की पूस्तक भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास के पृष्ठ 620 से उद्धृत।

भिन्नताओ के कारण उनके लिए अलग–अलग कर्तव्य निर्धारित किय जाते हैं। इन्हे विशिष्ट धर्म कहा जाता है। समाजशास्त्रीय भाषा मे विशिष्ट धर्म को समाज मे व्यक्ति की स्थिति–सकुल से सबधित कर्त्तव्यो के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है। स्थिति–सकुल मोटे तौर से एक व्यक्ति के पदो की व्यवस्था है। समाज मे व्यक्ति अनेक छोटे बडे समूहो का सदस्य होता है और समाज मे वह अनेक पद ग्रहण किये हुए है। इन पदो से सम्बधित करणीय कार्य विशिष्ट धर्म है। उदाहरणार्थ वर्ण धर्म आश्रम धर्म स्त्री धर्म मित्र धर्म और राज धर्म आदि विशिष्ट धर्म की श्रेणी मे आते है।

वर्ण धर्म– हिन्दू समाज चार वर्णों मे विभाजित था। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र – ये चार वर्ण थे। ब्राह्मण का धर्म था पढना और पढाना यज्ञ करना और यज्ञ कराना दान देना और दान लेना। क्षत्रिय का धर्म प्रजा की रक्षा करना दान देना यज्ञ करना और विषय भोगो से दूर रहना था। वैश्य का धर्म था समाज का पालन पोषण करने के लिए गापालन व्यापार और कृषि कार्यों को करना। शूद्र का धर्म था बिना ईर्ष्या अथवा द्वेष के द्विजो की सुश्रूषा (परिचर्या) करना।

आश्रम धर्म– ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ और सन्यास नामक चार आश्रम हैं। ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ और सयास के पृथक्–पृथक विशेष धर्म निम्नलिखित हैं।

ब्रह्मचारी– वेदाध्ययन करना गुरु की सेवा करना उपनयन के समय दी गयी सामग्री (अजिन दण्ड यज्ञोपवीत) न त्यागना और उन सभी चीजो (जैसे गाना बजाना नाचना काम क्रोध और लोभ) से दूर रहना जो अध्ययन के मार्ग मे बाधक हैं।

गृहस्थ– पचमहायज्ञो को प्रतिदिन सम्पन्न करना गृहस्थ का विशेष धर्म है। इन कर्तव्यो को पूरा करने के लिए ही गृहपति की पत्नी की आवश्यकता पडती है।

वानप्रस्थ– इच्छाओ का दमन करना तप द्वारा शरीर को सुखाना जगल मे प्राप्त कदमूल फल आदि से पचमहायज्ञो को करना वानप्रस्थ के विशेष धर्म हैं।

सयासी– इच्छाओ से रहित होकर विचरण करना, सुख–दु ख, मानापमान आदि मे एकसा रहना सयासी के विशेष धर्म हैं।

स्त्री धर्म– स्त्री धर्म को दो भागो मे बॉटा जा सकता है। –(1) सधवा स्त्री के धर्म और (2) विधवा स्त्री के धर्म। पति सेवा और पतिभक्ति सधवा स्त्री के विशेष धर्म हैं। जहॉ तक विधवा स्त्री के धर्म का प्रश्न है अधिकाश धर्मशास्त्र उसे दूसरा विवाह करने की आज्ञा देते हैं। यदि विधवा स्त्री की इच्छा दूसरा विवाह करने की हो तब तो वह दूसरा विवाह करे नहीं तो ब्रह्मचर्य से रहकर वैधव्य के नियमो का पालन करे। ब्रह्मचारिणी विधवा के जीवन के यम और नियम वैसे ही हैं जैसे अन्य नैष्ठिक ब्रह्मचारियो के होते हैं[10]। ब्रह्मचारिणी विधवा सभी तरह के भोग विलासों से दूर रहे और तपस्या का जीवन व्यतीत करे।

मित्र धर्म— सच्चे मित्र का कर्तव्य है कि वह अपने मित्र के दु ख से दुखी हो और उसके सुख से सुखी हो अर्थात अपने मित्र के दु ख व सुख मे भागीदार हो। मित्र धर्म के विषय मे मानसकार का कथन देखिए —

जे न मित्र दु ख होहि दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी।।

जो मित्र अपने मित्र की उसके सामने प्रशसा करे तथा पीठ पीछे बुराई करे वह सच्चा मित्र नही है। उसे तत्काल छोड देना चाहिए।

पोरक्षे कार्यहन्तार प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
बर्जयेत तादृश मित्र विषकुम्भपयोमुखम्।।

राज धर्म— राजा के कर्तव्य सामान्य जनो के कर्तव्यो से भिन्न है। अत राजधर्म भी एक विशिष्ट धर्म है। मनुस्मृति और महाभारत के अनुशासन पर्व मे राजधर्म की विस्तृत विवेचना है। मनु के अनुसार राजा का पहला कर्तव्य यह है कि वह देखे कि लोग धर्म का पालन कर रहे है या नही[11]। प्रजा की रक्षा करना भी राजा का मुख्य धर्म हे। सत्यमित्र दुबे न अपनी पुस्तक मनु की समाज व्यवस्था मे राजा के दो प्रकार के कर्तव्या का उल्लेख किया है[12]।

(1) धर्म सस्थापनार्थ दण्ड का प्रयोग

(2) दण्ड प्रयोग की सामर्थ्य क्षमता तथा योग्यता रखना।

कर्मचारियो के समुचित पोषण की व्यवस्था करना योद्धाओ का आदर करना उद्देश्य सिद्धि के लिए कुटिल नीति का सहारा लेना आदि राजधर्म है[13]।

आपद्धर्म— आपद्धर्म मे हिन्दू समाज की परम उदारता और इस लोक की महत्ता स्पष्ट रूप से झलकती है। कतिपय पाश्चात्य विद्वान हिन्दू समाज मे यह दोष बताते है कि यहॉ जीवन रक्षण (Life affirming) की नीति नही है। बल्कि जीवन त्याग (Life-denying) की नीति है। आपद्धर्म इन पाश्चात्य विचारको का मुहतोड जवाब देता है। जीवन की रक्षा को ध्यान मे रखकर हिन्दुओ ने आपद्धर्म की व्यवस्था की। यहॉ तक कि जीवन रक्षा को धर्म की रक्षा से भी श्रेष्ठ माना गया क्योकि जब जीवन की रक्षा नही होगी तो धर्म का पालन कैसे होगा। मनुस्मृति मे लिखा है कि यदि प्राणो के निकलने की स्थिति हो तो मास खा लेना भी वर्जित नही है। आपद्धर्म के कई उदाहरण भी उपलब्ध है । ऐसा वर्णन है कि धर्म और अधर्म को जानने वाले विश्वामित्र ने कुत्ते का मास खाया था। अत आपद्धर्म से तात्पर्य ऐसे धर्म से है जो मुसीबत या आपत्तिकाल के लिए हो। जीवो को न मारना (अहिसा) एक सामान्य धर्म है लेकिन प्लेग फैल रहा हो तो चूहो को मारना अधर्म न होगा। आपद्धर्म अस्थायी होते है। इसीलिए मनु का कथन है कि आपत्तिकाल मे कहे गए धर्म का जो अनापत्तिकाल मे प्रयोग करते है वे परलोक मे उसका फल नही पाते मनुस्मृति (11—38)।



11—मनुस्मृति 8 / 304

12—दुबे सत्यमित्र मनु की समाज व्यवस्था पृष्ठ143।

13—महाभारत अनुशासनपर्व 145।

अध्याय 7

पुरुषार्थ की धारणा

(Concept of Purushartha)

पुरुषार्थ सिद्धान्त का आविष्कार क्यो ?– हिन्दू चिन्तन मे मनुष्य केवल भौतिक पुतला अथवा जैविक प्राणी नही है। वह इससे बढकर एक आध्यात्मिक प्राणी है। उसका सम्बन्ध मानवेतर शक्ति से है। वह अपूर्ण है। उसे पूर्णता की प्राप्ति करनी है। मनुष्य के जीवन मे पैदा होना बढना नवीन गुण तथा ज्ञान प्राप्त करना और सामाजिक सम्बन्ध बनाना ही सब कुछ नही है। मनुष्य का जामा पाकर उसे अपना उद्धार भी करना है। अपना उद्धार करना जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। इस सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति सामाजिक जीवन के द्वारा (सासारिक कर्तव्यो की पूर्ति द्वारा) सभव है।

हिन्दुत्व की बडी विशेषता यह है कि यह नैसर्गिक इच्छाओ और सामाजिक उद्देश्यो के मानव जगत और आध्यात्मिक जीवन के मध्य सघर्ष मे विश्वास नही करता है। मूल (ब्रह्म) से असम्बद्ध नैसर्गिक जीवन की हिन्दुत्व मे निदा की जाती है। वह जीवन जो इस ससार और यहाँ की अच्छी चीजो पर केन्द्रित है सतोषजनक नही है क्योकि यहॉ की बडी से बडी सफलता का अन्त यही हो जाता है। सभी सामाजिक सबध मिट जाते हैं अन्त को प्राप्त होते हैं लेकिन इसका अर्थ यह नही कि ससार और सासारिक सबधो की उपेक्षा की जाय। सासारिक सबध एव वस्तुएँ सदा रहने वाली नही स्थायी नही है लेकिन इस आधार पर यह मान लेना कि उनका कोई अस्तित्व नही है मुसीबत को आमन्त्रित करना है। शाश्वत (eternal) अपनी अभिव्यक्ति कालिक (temporal) के रूप मे करता है और कालिक ही शाश्वत को प्राप्त करने का मार्ग है। सत्य अपने ससीम (finite) रूप मे असीम (infinite) सत्य की तरफ ले जाता है। वैराग्य ससीम के रूप मे असीम से अलगाव (अनाशक्त रहने) की भावना है और असीम के मूर्तमान रूप के रूप मे ससीम से लगाव की भावना है। असीम और ससीम दोनो एक दूसरे से जुडे हुए हैं और उन्हे अलग करना विनाशकारी है। उपनिषद् का कथन है कि "ससार को पूजने वाले अंधकार मे हैं लेकिन उससे भी अधिक अधकार में वे हैं जो केवल ब्रह्म को पूजते हैं जो दोनो को पूजता है वही अमरत्व को प्राप्त होता है। पुरुषार्थ द्वारा मनुष्य अपने को समाज और समाजेतर आयाम से जोडता है। सासारिक कर्तव्यो का निर्वाह करके मोक्ष प्राप्त करने के लिए ही पुरुषार्थ सिद्धात का आविष्कार हिन्दू मनीषियो ने किया है।

पुरुषार्थ का अर्थ– मनुष्य इस ससार मे और परलोक मे जो कुछ प्राप्त करना चाहता है उस सबकी अभिव्यक्ति ही पुरुषार्थ है। यह मनुष्य के प्रयोजन उसके प्राप्य का द्योतक है। पुरुषार्थ मनुष्य के उद्देश्य अथवा लक्ष्य का विषय है। यह वह मुख्य प्रयोजन है जिसकी प्राप्ति या सिद्धि के लिए प्रयत्न करना मनुष्य के लिए आवश्यक और कर्तव्य हो[1]। धर्म अर्थ काम और मोक्ष की प्राप्ति की दृष्टि से ये चार प्रकार के होते हैं । साख्य दर्शन मे सब प्रकार के दु खो से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न करना ही परम पुरुषार्थ है। परवर्ती पौराणिको ने धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की प्राप्ति या सिद्धि के लिए प्रयत्न करना ही पुरुषार्थ माना है। उक्त चार बातो की गिनती उन मुख्य पदार्थों मे की जाती है जिनकी ओर सदा मनुष्य का ध्यान या लक्ष्य रहना चाहिए।

पुरुषार्थ विवेचन– धर्म अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ माने जाते हैं। प्रथम तीन को मनु ने त्रिवर्ग कहा है। नीचे अलग–अलग चारो का विवेचन प्रस्तुत है।

धर्म– सस्कृति वाडगमय के इस शब्द के अनेकार्थी होने की बात हम पिछले अध्याय मे कह चुके है। वहाँ इसके कई अर्थों की तरफ सकेत भी किया गया है। राधाकृष्णन के मतानुसार उचित क्रिया (right action) को धर्म कहना चाहिए। धात्वर्थ की दृष्टि से धारण करना बनाये रखना अथवा थामे रहने का अर्थ इससे निकलता है। यह भी कहा जा सकता है कि धर्म सभी सृष्ट वस्तुओ की रक्षा करता है। अस्तु धर्म वह सिद्धान्त है जिसमे विश्व की स्थिति बनाये रखने की सामर्थ्य है। पुरुषार्थ के सन्दर्भ मे धर्म से नैतिकता (morality) का बोध होता है। यहाँ धर्म का अर्थ सदाचार है। दुराचार अथवा पाप धर्म का विरोधी है। यहाँ पर सबसे उपयुक्त अर्थ मे एक नियत्रक शक्ति है। मनुष्य को सयम मर्यादा तथा अनुशासन मे रखना धर्म का कार्य है।

अर्थ और काम को धर्म साध्य न बताकर साधन बताता है। वह जीवन जो अर्थ और काम की अमर्यादित सतुष्टि पर बल देता है अवाछनीय और खतरनाक है। अत अन्ततोगत्वा यह आवश्यक है कि जीवन मोक्ष प्राप्ति के आदर्श द्वारा मर्यादित हो और यही वह कार्य है जिसके लिए धर्म की आवश्यकता है। धर्म मनुष्य मे विद्यमान सग्रहवृत्ति और भावनात्मक अभिलाषाओ को दिशा प्रदान कर जीवन के आनन्द और मोक्ष मे समन्वय स्थापित करता है। अत सासारिक हितो और आध्यात्मिक स्वतत्रता के बीच सगति (Harmony) धर्म द्वारा विहित अनुशासन से प्राप्त की जाती है[2]।

---

१ देखे मानक हिन्दी कोश ।

2 " Dharma seems to be the arbiter, the conscience keeper, the director, the interpreter of the properties that govern the right functioning and management of the relations between the inner man and the group Dharma is, therefore, the holder of the balance interms of which Artha and Kama have to be dealt with, weighed practised and apportioned " Prabhu, P H , Hindu Social organisation, Page 82

अर्थ– अर्थ से तात्पर्य मनुष्य के आर्थिक और राजनीतिक जीवन शक्ति और सम्पत्ति की इच्छा से है। सम्पत्ति विषयक इच्छा मानव स्वभाव के लिए मौलिक है। सम्पत्ति के विचार का उन्मूलन मानव मस्तिष्क की बनावट मे परिवर्तन लाने से ही सम्भव है। बहुत से लोगो के लिए सम्पत्ति (धन) वार्तालाप करने और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है। जब धन और सम्पत्ति का अनुसरण मानव की वैधानिक अभिलाषा है तो इनकी प्राप्ति धर्मपरायण ढग से की जानी चाहिए। आध्यात्मिक स्वतत्रता के लिए हिन्दू समाज ने जीवन के अत्यन्त घनिष्ठ विवरणो को नियमित किया है और ये जीवन के विवरण धर्म के नियम हैं। धर्म के ये नियम देश के सभी भागो और हिन्दू इतिहास के सभी कालो में एक से नही रहे। अर्थ से सम्बन्ध सासारिक समृद्धि से है। सासारिक समृद्धि के लिए धन और शक्ति (Power and Wealth) आवश्यक हैं। इसलिए धन और शक्ति अर्थ–सूचक हैं। अर्थशास्त्र मे भी अर्थ से आशय धन से लिया गया है। कपाडिया ने अर्थ को सग्रहीवृत्ति के रूप में परिभाषित किया है।

काम– सकुचित अर्थ में काम से तात्पर्य यौन इच्छाओं की पूर्ति से है। हिन्दू विद्वानो ने यौनेच्छा सतुष्टि को विवाह द्वारा नियमित कर काम को उचित इच्छा के रूप मे स्वीकार किया। विस्तृत अर्थ मे काम से आशय[1] मनुष्य मे विद्यमान उन सभी इच्छाओ (कामनाओं) से है जिनका सबध इन्द्रियो की सतुष्टि और सुख से है और साथ ही इसमे यौन कामना का भी समावेश है। काम से तात्पर्य प्रवृत्यात्मक जीवन (Instinctual Life) से ही नही है बल्कि भावनात्मक और सौन्दर्यात्मक जीवन से भी है। काम क्रोध लोभ, मोह, मद और मत्सर मनुष्य के छ रिपु है। काम इन छ रिपुओ मे से एक है। शुद्ध यौन कामना के रूप मे काम की अभिव्यक्ति उसकी निम्न स्तर पर अभिव्यक्ति है। कुछ भी हो यह सत्य है कि काम के बिना, जो कि मानव प्रजाति को स्थिर बनाये रखने मे सहायता करता है मनुष्य अपने जीवन को सचालित नहीं कर सकता है। अत यह आवश्यक है कि काम की तुष्टि धर्म द्वारा नियमित हो।

मोक्ष– हिन्दू मनीषियो ने मोक्ष को चरम लक्ष्य माना है। धर्म, अर्थ और काम तो क्रियाये है साधन हैं। मोक्ष साध्य है। मोक्ष किसी उच्चतर उद्देश्य की प्राप्ति का साधन नही है। इसीलिए मोक्ष को हिन्दुओं ने चरम लक्ष्य के रूप मे स्वीकार किया है। जब कोई व्यक्ति मोक्ष अथवा मुक्ति की बात करता है तो उससे यह इगित होता है कि वह बँधा हुआ है, जकड़ा हुआ है। क्या हिन्दू कुछ बन्धनों से बँधा हुआ है ? हॉ कुछ क्यो वह तो अनेक बन्धनो से बँधा है जैसे पारिवारिक बन्धन जातीय बन्धन, सामाजिक बन्धन आदि। इनके भी अलावा वह जन्म मृत्यु के बन्धन (आवागमन के बन्धनों) से अपने को बँधा हुआ मानता है। हिन्दू इस भव बन्धनो (जन्म मृत्यु के चक्र) से छूटना चाहता है और इस बन्धन से छुटकारा को मोक्ष कहते हैं। 'मुक्ति' 'निर्वाण', 'कैवल्य' 'परमपद' और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता' आदि शब्द

मोक्ष के पर्यायवाची है। मोक्ष ही मनुष्य को अन्तिम सन्तोष देता है और सभी क्रियाएँ इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निर्देशित की जाती हैं।

चारो पुरुषार्थो मे कौन सा सर्वश्रेष्ठ है?— 'त्रिवर्ग' में धर्म की श्रेष्ठता का उल्लेख शास्त्र करते हैं। पिछले अध्याय मे धर्म की महत्ता का वर्णन किया गया है। यहाँ चारो पुरुषार्थों मे से कौन सा परम पुरुषार्थ है इस पर विचार करना है।

क्या काम मूल्यवान है ?— काम को श्रेष्ठ मानने की बात की जाती है। चावाक दर्शन के अनुयायी जिनका आदर्श खाओ पीओ और मौज उड़ाओ' है विषय भोग को सबसे उच्च मानते हैं। उन्हे विषयो के भोगो में ही सुख व आनन्द मिलते दिखाई देते हैं। ये पुनर्जन्म को नही मानते हैं इसलिए यावज्जीवेत सुख जीवेत इनका प्रधान लक्ष्य है। कामी पुरुष काम को ही उच्च मूल्य मानते हैं। काम अपने सकुचित एव व्यापक दोनों अर्थों में महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य की कामनाएँ एव इच्छाएँ अनन्त हैं इसलिए सब की सब इच्छाएँ पूरी नही हो पाती हैं। इच्छाओ की पूर्ति न होने पर निराशा तथा अशान्ति का शिकार मनुष्य को होना पडता है। उसे सघर्ष पथ का भी अनुसरण करना पडता है। ऐसी स्थिति म काम दु ख का कारण बनता है। दु ख का कारण होने से काम को श्रेष्ठ मूल्य मानने मे आपत्ति है। कई और कारण हैं जिससे काम को परम पुरुषार्थ मानने मे कठिनाई है। काम वासनाओ भोगो, इन्द्रिय–सुखो को प्राप्त करने के लिए धन आवश्यक है। भोग भोगने से भोगने की शक्ति मे ह्रास आता है। अति भोगी अत्यल्प समय मे ही भोग भोगने की अपनी क्षमता नष्ट कर लेता है। विषय–भोगों से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। भोगी रोगो का शिकार हो जाते हैं। विषय–सुख क्षणिक होता है और जल्द ही दु ख मे बदल जाता है। अति कामी पुरुष का बुढापे का जीवन दु ख से व्यतीत होता है।

क्या अर्थ मूल्यवान है ?— जब काम पुरुषार्थ नही हो सकता तो अर्थ को इस श्रेणी मे रखने का प्रयास कुछ लोग करते हैं, आजकल तो अर्थ युग है। भौतिकवादी ससार मे भौतिक सुख अर्थ पर ही आधारित है। समस्त भोग्य वस्तुएँ धन से प्राप्त होती हैं। रुपया–पैसा से प्रतिष्ठा मिलती है, ऊँचा स्थान प्राप्त होता है। आजकल जब मनुष्य के लिए आराम व मनोरजन की कीमती चीजें आविष्कृत हो चुकी हैं और मनुष्य उन्हें चाहता है तो फिर रुपया–पैसा के बिना काम नहीं चल सकेगा। कार, टेलीफोन रेफ्रीजरेटर, टेलीविजन अच्छे महल, उत्तम भोजन एवं वस्त्र, उत्तम शिक्षा और अलकरण के श्रेष्ठ प्रसाधनो को भी चाहते हैं तो फिर ये चीजें धन के बिना कैसे मिल सकेगी। आजकल द्रव्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। 'दादा बड़े न भइया, सबसे बडा रुपहिया' की कहावत में जान है। अंग्रेजी की 'Money makes the mare go' की उक्ति का भी यही आशय है। 'सर्वे गुणा काचना मा श्रयन्ते' भर्तृहरिजी का यह कथन अक्षरश सत्य लगता है। धन को परम पुरुषार्थ मानने मे कुछ कठिनाइयाँ हैं जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

(1) धन स्वय मे कोई मूल्यवान वस्तु नही है क्योकि यह तो साध्य न

होकर साधन मात्र है। धन के लिए धन एकत्रण करने वाल आदमी को धन से मिलने वाले सुख भी नही मिल पाते क्योकि वह धन सचय मे ही जीवन समाप्त कर देता है। धन का भोग नही कर पाता है। धन की तीन दशाओ का उल्लेख मिलता है–1 दान 2 भोग और ३ नाश जो न दान देता है न भोगता है उसके धन की तीसरी गति होती है। जैसे जब नौका मे पानी भरने लगता है तो दोनो हाथ उलीचने से ही लाभ होता है वैसे ही सज्जन पुरुष जब घर मे दाम बढता है तो दोनो हाथ से उलीचते है अर्थात् खूब खर्च करते है।

(2) रुपया–पैसा मनुष्य को मुसीबत कष्ट एव जजाल मे फसाता है। अधिक धन दु ख का हेतु बनता है धन होने पर रिश्तेदार मित्र सरकार दुश्मनो चोर डाकुओ का भय बना रहता है। चोरी डाके के भय से न रात मे नीद आती है और न दिन मे चैन। धन अशान्ति का कारण बनता है क्योकि धन एकत्रण की कोई सीमा नही है। धन एकत्रण मे आदमी को अनुचित साधनो जैसे धोखा धडी छल कपट बेईमानी दगाबाजी विश्वासघात तथा खुशामद आदि दुर्गुणो का आश्रय लेना पडता है।

(३) धन होने पर धन की रक्षा के लिए भी धन व्यय करना पडता है। ध ानी लोग अधिक दु खी रोगी एव अशान्त देखे जाते है। उक्त कमियो के कारण धन जीवन का सबसे श्रेष्ठ मूल्य नही बन सकता।

क्या धर्म मूल्यवान है ?– फिर कौन सा पुरुषार्थ श्रेष्ठ माना जाय? मनुष्य सुख से रह सके इसके लिए यह अत्यावश्यक है कि वह सबका हो और सब उसके हो। वह सबकी सहायता करे और सब उसके सहायक रहे। वह अपनी इच्छाओ की पूर्ति करे और दूसरो की इच्छाओ को भी पूरा होने दे इसके लिए कुछ नियमो पर चलना पडेगा। इन नियमो का नाम ही धर्म है। धर्म से इस लोक तथा परलोक मे सुख मिल सकता है तो फिर धर्म सर्वश्रेष्ठ मूल्य है। धर्म के नियमो का पालन करने से व्यवस्था कायम रहती है। ध्यान रहे ये नियम लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण ला सकते हैं परन्तु ये स्वय उद्देश्य नही बन सकते।

क्या मोक्ष मूल्यवान है ?– जब काम अर्थ तथा धर्म श्रेष्ठ नही है तो मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ होना निश्चित सा जान पडता है। भारतीय चितन मे मनुष्य क्या बनना चाहता है ? उसका मुख्य प्रयोजन क्या है ? इसकी अच्छी तरह खोज की गयी है। मनुष्य अजर अमर होना चाहता है। उसका वास्तविक निवास स्थान ससार न होकर ईश्वर है। जब ईश्वर मनुष्य के लिए अन्तिम स्थान (last abode) है तो मोक्ष उसका गन्तव्य है। शाश्वत शान्ति मोक्ष द्वारा सम्भव है, अत मोक्ष सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है।

स्मरण रहे मुमुक्षु पुरुष के लिए मोक्ष सबसे उच्च मूल्य है लेकिन बुभुक्षु के लिए काम अर्थ और धर्म तीनो का महत्त्व है। तीनो मे धर्म श्रेष्ठ है क्योकि धर्मानुकूल अर्थ और काम सेवन की प्रशसा की जाती है और धर्म से कल्याण होता है।

अध्याय 8

जाति व्यवस्था

(Caste System)

जाति का अर्थ और परिभाषा– जाति हिन्दू समाज की एक रोचक सस्था है। देश तथा विदेश के विद्वानो ने इसे हिन्दू समाज की अप्रतिम देन के रूप मे स्वीकार किया है। भारत मे जाति–श्रेणीकरण को स्पष्ट करने के लिए सर्वप्रथम पुर्तगालियो ने 'कास्टा (Casta) शब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ नस्ल अथवा प्रजाति से लिया जाता है। जाति शब्द का सस्कृत की 'जन धातु से सबध है। जन का अर्थ है जन्म लेना। अत जाति वह वर्ग है जिसकी सदस्यता जन्म से निश्चित हो। जिस वर्ग की सदस्यता जन्म से निश्चित होती है वह आवृत (Closed) वर्ग बन जाता है। अतएव हम जाति को एक आवृत (बद) वर्ग के रूप मे परिभाषित कर सकते हैं। चार्ल्स कूले ने अपनी परिभाषा मे जाति के इस लक्षण का उल्लेख किया है। आप की परिभाषा इस प्रकार है–

"When a class is somewhat strictly hereditary, we may call it a caste "

जन्म ही जाति का प्रमुख तत्त्व नही है। अन्तर्विवाह (Endogamy) पितृगत व्यवसाय ऊँच–नीच का भाव (Hierarchy) स्पर्श मिलन–जुलन और भोजन सबधी निषेध भी जाति के अनिवार्य तत्त्व है। अत हम जाति की उस परिभाषा को श्रेष्ठ नही मानेगे जिसमे जाति के एक या दो लक्षणो का ही उल्लेख हो। जाति की वही परिभाषा सर्वोत्तम होगी जिसमे जाति के अधिकाश लक्षण विद्यमान हो। यहाँ हम जाति की कतिपय परिभाषाओ का उल्लेख कर रहे हैं।

1 "Caste is collection of families or groups of families bearing a common name, claiming a common descent from a mythical ancestor, human or divine, professing to follow the same hereditary calling, and generally regarded by those who are competent to give an opinion as forming a single homogeneous community "-Risley

2 "A caste is an endogamous group or collection of endogamous groups, bearing a common name, membership of which is hereditary imposing on its members certain restrictions in the matter of social intercourse, either (i) following a common tradi-

tional occupation, or (ii) Claiming a common origin, and regarded as forming a single homogenous community "- Blunt The Caste System in Northern India, P 5

3 Caste is a social group having two characteristics (i) membership is confined to those who are born of members and includes all persons so born, (ii) the members are forbidden by an inexorable social law to marry outside the group "- S V Ketkar, History of Caste in India, P 15

उपरोक्त परिभाषाओ मे ब्लट महोदय की परिभाषा सबसे अच्छी है। रिसले की परिभाषा मे जाति का पैतृक–व्यवसाय होता है केवल इसी एक लक्षण का उल्लेख है जबकि केतकर की परिभाषा मे जाति के दो लक्षणो (वशानुगत सदस्यता और अन्तर्विवाह) का वर्णन है लेकिन ब्लन्ट की परिभाषा मे खान–पान सबधी प्रतिबन्धो के अलावा जाति की सभी विशेषताओ का उल्लेख है। सामाजिक मिलन–जुलन पर प्रतिबन्ध परम्परागत व्यवसाय समान उद्‌गम आदि लक्षण ब्लट की परिभाषा मे शामिल है।

जाति के प्रमुख लक्षण (Main features of caste)

(1) **जाति का आधार जन्म–** जाति की सदस्यता जन्म से प्राप्त होती है। जिस जाति के माता पिता किसी व्यक्ति के होगे वही उसकी जाति होगी। एक जाति के सदस्य वही लोग हो सकते है जो उस जाति मे जन्मे हो अन्यत्र जन्म लेने वाले लोगो के लिए जाति की सदस्यता खुली नही रहती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि व्यक्ति की जाति का निर्धारण जीवन भर के लिए हो जाता है। कोई भी व्यक्ति अपनी जाति नही बदल सकता। ऊँची जाति का व्यक्ति नीची जाति का सदस्य नही बन सकता और निम्न जाति का व्यक्ति ऊँची जाति की सदस्यता नही ग्रहण कर सकता। व्यक्ति को जन्म से ही जाति एक ऐसा पर्यावरण प्रदान करती है जिससे उसे न तो धनाढ्यता ही विलग कर सकती है और न व्यक्तिगत उपलब्धि। इसी अर्थ मे 'जाति एक बन्द वर्ग है'।

(2) **ऊँच–नीच का भाव (Hierarchy) –** जातियों मे ऊँच–नीच का भाव पाया जाता है। ऊँच–नीच के भाव से तात्पर्य यह है कि सभी जातियो की सामाजिक स्थिति समान नही होती है। एक जाति का स्थान दूसरी जाति की तुलना मे या तो ऊँचा होता है या नीचा। ऊँच–नीच की इस व्यवस्था मे ब्राह्मणो का स्थान सर्वोच्च है। जातियो मे व्याप्त इस ऊँच–नीच की व्यवस्था को पदसोपानत्व की व्यवस्था भी कहा जाता है।

(3) अन्तर्विवाह (Endogamy)– जातियो मे परस्पर अनेक प्रकार के प्रतिबध पाये जाते है जिनमें विवाह सबधी प्रतिबन्ध सबसे कठोर हैं। एक जाति के सदस्य अपनी जाति के ही अन्दर विवाह करते हैं। अपने से भिन्न जाति में

उन्हे विवाह करने की अनुमति नहीं प्राप्त है। किसी निश्चित क्षेत्र अथवा वर्ग के अन्दर विवाह करना अन्तर्विवाह (Endogamy) है। जातियो के अन्तर्विवाह का प्रचलन रक्त की पवित्रता बनाये रखने के लिए तथा जातिगत सकरण (मिश्रण) को रोककर उपजातियो की सख्या मे होने वाली वृद्धि को रोकने के लिए था। कुछ विद्वानो ने जाति अन्तर्विवाह को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि उन्होंने अन्तर्विवाह को जाति व्यवस्था का सार कहा है जाति के सभी तत्त्व लगभग ध्वस्त हो गये हैं परन्तु जाति का यह लक्षण आज भी विद्यमान है।

(4) **खान–पान प्रतिबन्ध** (Restriction on eating and drinking) - हटन खान–पान सबधी प्रतिबन्धो को जाति व्यवस्था का अनूठा लक्षण मानते हैं। खाने पीने के सबध मे जातियों मे अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध पाये जाते हैं। इनमे मुख्य निम्नलिखित हैं –

(1) पाक निषेध (2) पगत निषेध (3) जल निषेध (4) पात्र निषेध

पाक निषेध – एक जाति के सदस्य सबके हाथ का बनाया भोजन स्वीकार नहीं करते हैं। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में तो 'तीन कनौजिया तेरह चूल्हे' की कहावत प्रसिद्ध ही है। इस सबध मे उल्लेखनीय बात यह है कि ब्राह्मणों द्वारा बनाया भोजन लगभग सभी जाति के लोग ग्रहण कर लेते हैं।

पगत निषेध – किसके साथ बैठकर भोजन किया जाय यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक जाति के लोग प्राय उन्हीं लोगो के साथ भोजन करते हैं जिनसे रक्त सबध हो अथवा जिनसे विवाह सबधों द्वारा बँधे हों।

जल निषेध – सभी जातियो के हाथ का जल कुलीन जाति के लोग ग्रहण नही करते हैं।

पात्र निषेध – कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनका पात्र ब्राह्मण ग्रहण कर लेते हैं परन्तु सभी जातियो के पात्र ग्रहण नहीं किये जाते हैं। ब्राह्मणो का पात्र अगर निम्न जाति के लोग स्पर्श कर लें तो वे उस पात्र का त्याग कर देते हैं क्योकि ऐसा पात्र अपवित्र हो जाता है।

इसके अलावा कच्चे और पक्के भोजन के सबध में भी प्रतिबन्ध पाये जाते हैं। कच्चे भोजन (जलसिद्ध भोजन) को पक्के भोजन (घी तेल में पकाया हुआ भोजन) की तुलना मे अधिक आसानी से अपवित्र होने वाला माना गया इसलिए पक्के भोजन पर उतने कठोर प्रतिबन्ध नही थे जितने कि कच्चे भोजन पर।

(5) **मिलन–जुलन सबंधी प्रतिबध** (Restriction on social intercourse) -निम्न जातियो के स्पर्श से कहीं उच्च जातियाँ अपवित्र न हो जायँ इसलिए सामाजिक मिलन–जुलन संबंधी प्रतिबध भी जातियों में मिलते हैं। कहीं कहीं तो अस्पृश्यों और अछूतों के बीच दूरी का भी निर्धारण कर दिया गया। उदाहरणार्थ केरल के लोगों में ऐसी व्यवस्था है कि एक तियन ब्राह्मण से 36 कदम दूर रहे और एक पुलयन उससे 96 कदम दूर रहे। एक तियन नायर से12 कदम दूर रहे[2]। सिद्धान्त रूप से अपने से निम्न जाति के पुरुष

2- घुर्ये जी०एस० कास्ट, क्लास एण्ड अकूपेशन पृ 9।

के स्पर्श से ऊँची जाति का व्यक्ति अपवित्र हो जाता है परन्तु व्यवहार मे इस नियम का कठोरता के साथ पालन नही होता है। मराठा देश मे तो अस्पृश्य की छाया अगर ऊँची जाति के सदस्य पर पड जाये तो इतना उसके अपवित्र (छूत) होने के लिए पर्याप्त है[3]। सामान्यतौर पर गॉव मे सामान्य जनो की सेवा करने वाले नाई और धोबी अपनी सेवाएँ अछूतो और अपवित्रो के प्रति अर्पित नही करते हैं।

(6) **भिन्न–भिन्न जातियो के नागरिक और धार्मिक विशेषाधिकार तथा निर्योग्यताएँ** (Civil and Religious disabilities and privileges of the different sections of socity)— एक गॉव मे जातीय समूहो का पृथक्करण (Segregation) सामाजिक विशेषाधिकारो और निर्योग्यताओ का स्पष्ट और प्रत्यक्ष चिह्न है। जातीय पृथक्करण का यह विचार न्यूनाधिक रूप से समस्त भारत वर्ष में व्याप्त है। सामान्य रूप से दक्षिण भारत मराठा देश और कभी कन्नड और तेलुगु क्षेत्रों में केवल अपवित्र जातियाँ ही पृथक् की जाती हैं और गॉव की सीमा पर बसायी जाती हैं।

तामिल और मलयालम क्षेत्रो मे प्राय विभिन्न स्थानों पर अलग–अलग जातियो का कब्जा या अधिकार पाया जाता है और कभी–कभी गॉव को तीन हिस्सों में बॉट दिया जाता है – वह भाग जो प्रमुख जाति अथवा ब्राह्मणो द्वारा अधिकृत है वह भाग जो शूद्रो द्वारा अधिकृत है और वह भाग जो अछूतो के लिए सुरक्षित है।

दक्षिण भारत वर्ष मे गॉव अथवा शहर के कुछ भाग कुछ जातियों के लिए अगम्य हैं अर्थात वहॉ उनका प्रवेश वर्जित है। ऐसा उल्लेख मिलता है कि मराठा और पेशवाओं के राज्य मे महर और मॉग जातियो के लोग सुबह 9 बजे से पूर्व और शाम को तीन बजे के बाद पूना के फाटक से नही गुजर सकते थे क्योकि इस अवधि मे छायाय लम्बी हो जाती हैं जो ब्राह्मण अथवा उच्च जाति के व्यक्तियो पर पडकर उन्हे अपवित्र कर सकती है। मैसूर मे अगर ब्राह्मण होलेया (अछूत) की गली से गुजर जाय और अपमानित हुए बिना लौट आये तो यह उसका सौभाग्य ही है। मराठा प्रदेश मे एक महर (अछूत) को सडक पर इसलिए थूकने की अनुमति नहीं थी कि कहीं उसकी थूक के स्पर्श से ब्राह्मण अपवित्र न हो जायॅ। उसे गले में मिटटी का पात्र लटकाये रहना पडता था जिसमें वह थूकता था।

समस्त भारतवर्ष मे अशुद्ध जातियों को उस कुंए से जल खींचने की मनाही थी जिसे ऊँची जाति के लोग प्रयोग मे लाते थे।

ब्राह्मणो के सस्कार अनुष्ठानो (Rituals) की सहायता से सम्पन्न किये जाते हैं और दो तरह के अनुष्ठान विकसित किए गये हैं– (1) वैदिक और (2) पौराणिक । वैदिक अनुष्ठान वैदिक मत्रों पर आश्रित हैं और अधिक पवित्र माने जाते हैं जबकि पौराणिक अनुष्ठान कम पवित्र सूत्रों पर आधारित हैं । कुछ सस्कार ऐसे हैं जो ब्राह्मण जातियों के अतिरिक्त अन्य जातियों के लिये नहीं हैं। सर्वाधिक पवित्र ग्रन्थों का अध्ययन शूद्र नहीं कर सकते हैं। मन्दिरों में केवल

3 वही पृ 9।

ब्राह्मण ही प्रवेश पा सकते है। अपवित्र जातियो विशेषकर अछूतो का प्रवेश मन्दिरो के बाहरी भागो मे भी वर्जित है लेकिन मन्दिर के ऑगन मे जाने की इन्हे अनुमति प्राप्त है।

ब्राह्मण किसी ऐसे व्यक्ति को प्रणाम अथवा नमस्कार नही करता है जो ब्राह्मण नही है लेकिन इस बात की आवश्यकता समझता है कि अन्य उसे प्रणाम करे। कुछ जाति के लोग ब्राह्मण को इतना सम्मान देते हैं कि वे उसकी छाया तक नही लाघते और कभी कभी ऐसे जल का जिसमे उसका पैर का अँगूठा डुबो दिया गया हो आचमन किए बिना भोजन नही करते हैं।

(6) **पैतृक व्यवसाय–** जाति व्यवस्था के नियमो के अन्तर्गत एक व्यक्ति अपनी जाति का ही पेशा करने के लिए स्वतन्त्र था, अर्थात् जातियो के पेशे पूर्व निर्धारित थे। उदाहरणार्थ जुलाहा कपडे बुनने का ही पेशा कर सकता था और तेली तेल निकालने का पेशा कर सकता था। परम्परागत व्यवसाय अपनाने का आधार यह था कि पुरखो या जाति के पेशे अपनाने की जितनी भी गुत्थियॉ होती है उन्हे सुलझाना नही पडता है, वे सुलझी हुई मिल जाती है। इसके अलावा कम उम्र मे ही व्यवसाय मे हाथ बँटाया जा सकता है। वर्तमान समय मे व्यवसायगत प्रतिबन्ध समाप्त हो चुके हैं। आज किसी भी जाति का व्यक्ति मनचाहा व्यवसाय अपनाने के लिए स्वतन्त्र है।

जाति और वर्ग मे अन्तर

जाति और वर्ग श्रेणीकरण के दो रूप है। श्रेणीकरण के इन दोनो रूपो मे पर्याप्त भिन्नता है।

(1) वर्ग का आधार अर्थ अथवा धन है जबकि जाति का आधार जन्म है।

(2) वर्गों की दीवारे दुर्लंघ्य नहीं हैं। एक वर्ग से दूसरे वर्ग मे आने जाने पर कोई प्रतिबन्ध वर्ग व्यवस्था मे नही पाया जाता है। अत वर्ग परिवर्तन सम्भव है। जाति मे सदस्यता जीवन भर के लिए निश्चित होती है जबकि वर्ग व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति एक जन्म में कई वर्गों की सदस्यता प्राप्त कर सकता है। वर्गों में गतिशीलता (mobility) सम्भव है जातियो मे नहीं। वर्ग मुक्त होते हैं जबकि जातियॉ बन्द होती है।

(3) जाति की सदस्यता आरोपित (ascribed) होती है जबकि वर्ग की सदस्यता अर्जित (achieved) होती है। अपने से उच्च वर्ग की सदस्यता प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को प्रत्यन्त करना पडता है जबकि जाति की सदस्यता पाने के लिये व्यक्तिगत उपलब्धि और चारित्रिक गुणो का कोई महत्त्व नही है, यह तो जन्म से प्राप्त होती है। सामाजिक स्थिति और योग्यता मे परिवर्तन करके व्यक्ति अपना वर्ग बदल सकता है। इसी अर्थ में वर्ग की सदस्यता अर्जित है।

(4) वर्ग व्यवस्था में वर्ग के सदस्यों के आचरण को नियमित और उनकी नैतिकता का मार्गदर्शन करने वाली किसी पंचायत का अभाव पाया जाता है।

जातियो मे जाति पचायत होती है जो जातीय नियमो का सरक्षण करती है। जाति पचायत जाति के छोटे–मोटे झगडो और अपराधो का निपटारा भी करती है। जाति पचायत को कुछ दण्ड देने का भी अधिकार था जैसे– (1) अल्पकालीन या दीर्घकालीन बहिष्कार (2) जुर्माने (3) जाति के लोगो को भोज देने का दण्ड और (4) शारीरिक दण्ड ।

(5) इसके अतिरिक्त जाति का परम्परागत पेशा होता है। वर्ग व्यवस्था मे व्यवसाय पूर्व निर्धारित न होकर व्यक्ति की अपनी योग्यता और रुचि पर निर्भर है। वर्ग व्यवस्था मे व्यवसाय चयन की स्वतत्रता है जबकि व्यवस्था के अन्तर्गत व्यवसाय चुनने की स्वतत्रता का अभाव है।

(6) भोजन व विवाह सबधी निषेध जाति व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। वर्ग व्यवस्था मे भोजन और विवाह सबधी प्रतिबन्ध नही पाये जाते हैं।

(7) जाति के सदस्यो मे जाति चेतना होती है। वर्ग के सदस्यो मे वर्ग चेतना होती है।

(8) जाति व्यवस्था प्रजातत्र मे बाधक है पर कार्य व्यवस्था प्रजातत्र में बाधक नही है।

(9) जातियो के बीच सामाजिक दूरी अधिक होती है पर वर्गों में सामाजिक दूरी कम होती है।

जाति के कार्य (Functions of caste)

(1) **व्यक्ति के लिए कार्य**– जाति अपने सदस्य को जन्म से ही एक पूर्व निर्धारित सामाजिक वातावरण प्रदान करती है जिससे उसे सम्पत्ति अथवा गरीबी सफलता अथवा विपत्ति पृथक् नही कर सकती है यदि वह जातीय नियमो का उल्लघन न करे। जाति व्यक्ति के विवाह सबधी विषयो पर प्रतिबन्ध लगाती है व्यक्ति के लिए ट्रेड यूनियन के रूप मे कार्य करती है। जाति व्यक्ति के लिए अनाथालय (Orphanage) का कार्य करती है। जाति व्यक्ति का स्वास्थ्य बीमा (Health insurance) है। यदि आवश्यकता पडे तो जाति व्यक्ति की अन्त्येष्टि क्रिया का भी प्रबन्ध करती है। व्यक्ति के व्यवसाय का निर्धारण करना जाति का ही कार्य है।

भोजन के सबध मे पालन की जाने वाली प्रथाओ जाति का सदस्य विधवा के साथ विवाह कर सकता है या नही आदि का निर्धारण जाति द्वारा होता है। जन्म उपनयन विवाह और मृत्यु के समय सम्पन्न होने वाले कर्मकाण्डो को निर्धारित करना जाति का कार्य है। उदाहरणार्थ व्यक्ति के कान छेदे जायेगे या नही और यदि छेदे जायेंगे तो कितनी जगह आदि सब बातों का निर्धारण करना जाति का कार्य है। सक्षेप मे एक व्यक्ति के सबध मे जाति का कार्य इस लोक मे उसके व्यवहार–प्रतिमानो को पहले से ही निर्धारित कर देना है और व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कार्य करने का बहुत ही कम स्थान छोड़ना है।

जाति विहीन समाज मे व्यक्ति की इच्छा (Choice) को प्रमुख स्थान दिया जाता है जबकि जाति आबद्ध समाज व्यक्ति के चुनाव (Choice) को स्थान न देकर उसके व्यवहार–प्रतिमानो को जन्म के पूर्व ही निश्चित कर देता है।

(2) **समाज के लिए कार्य** – व्यक्ति के सबध मे उपर्युक्त कार्यों को सम्पन्न करने के अतिरिक्त जाति सम्पूर्ण समाज के लिए भी महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करती है। जाति के ही कारण भारतवर्ष मे प्ल्यूरल समाज स्थिर रहा है। समाज के सन्दर्भ मे जाति का प्रथम और महत्त्वपूर्ण कार्य है भारतीय समाज को एकीकृत करना भारतीय समाज के विभिन्न प्रतियोगी समूहो को एक समुदाय मे जोडना। Sherring इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि जाति स्वच्छता और व्यवस्था को बढाती है और एक अर्थ मे हिन्दू समुदाय के विभिन्न वर्गों मे समन्वय स्थापित करने की एक कडी है।

(3) **राजनैतिक एव सस्कृति के स्थायित्व का कार्य** – राजनैतिक शान्ति स्थापक के रूप मे कार्य करना जाति का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रकार्य है। (A Second very important function of caste has been to act as a political stabilizer)। जाति क इसी प्रकार्य से प्रभावित होकर अबे डुबाय ने हिन्दुओ की जाति व्यवस्था को 'The happiest effort of their legislation' कहा है।

अबे डुबाय के मतानुसार भारतवर्ष जाति व्यवस्था के ही कारण बर्बरता से सुरक्षित रह सका। जाति व्यवस्था व्यवस्थित सरकार (Orderly Government) की अचूक आधार–शिला है अनियत्रित राजक्रम अथवा निरकुशता के विरुद्ध सुरक्षा है कला को स्थिर रखने का साधन है और विदेशी विजेताओ की टुकडी के अन्तर्गत सस्कृति के हिन्दू प्रतिमान को सुरक्षित रखने का आवश्यक साधन है।

अबे डुबाय की यह प्रशसा न्याय सगत है। समाज को स्थिरता प्रदान करने के साधन के रूप में जाति व्यवस्था के मूल्य की तरफ ध्यान दिलाने वाले केवल अबे डुबाय ही नही हैं। एस सी मिल के विचार भी अबे डुबाय से मिलते जुलते हैं।

अध्याय 9

जाति व्यवस्था की उत्पत्ति

(Origin of Caste System)

कारणो की अनेकता क्यो? – हिन्दू जाति व्यवस्था अनेक प्रकार के तत्त्वो के सयोग से बनी है और इस प्रकार बहुत ही जटिल और सश्लिष्ट हो गई है। इतिहास क्रम से भारत पर अनेक आक्रमण हुए और कितनी ही प्रजातियाँ यहाँ आयी। विभिन्न युगो मे विभिन्न प्रकार की सस्थाएँ बनी तरह-तरह की सरकारे बनी और इन सबकी छाप भारतीय समाज पर पडी[1]। अत स्पष्ट है कि जाति कई तत्त्वो के सयोग से बनी है। काल–क्रम से इसमे नए–नए तत्त्व जुडते रहे। फलस्वरूप जाति की उत्पत्ति के बारे मे कोई सर्वस्वीकृत कारण निश्चित नही किया जा सका। अगर जाति किसी एक तत्त्व से बनी होती तो उसकी उत्पत्ति का कोई एक कारण होता। पर जाति मे जैसा सकेत किया जा चुका है अनेक तत्त्व विद्यमान है इसलिए जाति की उत्पत्ति के विषय मे अनेक मत भी प्रचलित है। जाति की उत्पत्ति की व्याख्या करने वाले प्रमुख मत (सिद्धान्त) इस प्रकार है–

(1) परम्परागत सिद्धान्त (Traditional Theory)
(2) राजनैतिक सिद्धान्त (Political Theory)
(3) व्यावसायिक सिद्धान्त (Occupational Theory)
(4) धार्मिक सिद्धान्त (Religious Theory)
(5) प्रजातीय सिद्धान्त (Racial Theory)
(6) हटन का सिद्धान्त (Thory of 'mana')
(7) अन्य सिद्धान्त (Other Theories)

परम्परागत सिद्धान्त – इस सिद्धान्त का उल्लेख धर्मशास्त्रो (स्मृतियो) और महाभारत मे मिलता है। महाभारत और मनुस्मृति के अनुसार पहले चार वर्ण बने (चार वर्णो की उत्पत्ति किस प्रकार हुई उसका उल्लेख 'वर्ण व्यवस्था' नामक अध्याय मे किया जा चुका है) और इन वर्णो से जातियाँ बनी। प्रश्न यह है कि इन चार वर्णो से जातियाँ कैसे बनी ? मिश्रित विवाह (mixed marriages) अथवा सकर विवाह के द्वारा वर्णो से जातियाँ बनी। वर्ण सकर सम्बन्ध (विवाह) क्या है ? जब एक वर्ण का पुरुष अपने से भिन्न वर्ण की कन्या से विवाह करता है तो ऐसा सबध वर्ण सस्कार कहलाता है। वर्ण सकर विवाह

के दो रूप है (1) अनुलोम वर्ण सकर विवाह और (2) प्रतिलोम वर्ण सकर विवाह। अनुलोम वर्ण सकर विवाह विवाह का वह स्थापित रूप है जिसमे उच्च वर्ण का वर अपने से भिन्न निम्न वर्ण की कन्या के साथ विवाह सम्बन्ध करता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय कन्या अथवा ब्राह्मण और वैश्य कन्या का विवाह अनुलाम वर्ण सकर विवाह का उदाहरण है। प्रतिलोम वर्ण सकर विवाह अनुलोम वर्ण सकर विवाह का उल्टा है। इस विवाह मे उच्च वर्ण की कन्या अपनी शादी अपने से भिन्न निम्न वर्ण के पुरूष के साथ करती है। ब्राह्मणी और शूद्र का विवाह प्रतिलोम वर्ण सकर का एक उदाहरण है। अत स्पष्ट है कि अनुलोम और प्रतिलोम रीति से हुए वर्ण सकर द्वारा जातियॉ अस्तित्व मे आयी। भीष्म और मनु का कथन है कि ब्राह्मण के चारो वर्णों मे विवाह और क्षत्रिय को ब्राह्मण वर्ण छोडकर बाकी तीन वर्णों तथा वैश्य को उपरोक्त दो वर्णों तथा शूद्र को अपने वर्ण मे ही विवाह करने की अनुमति प्राप्त थी। यहॉ पर उल्लेखनीय बात यह है कि सभी प्रकार के वर्ण सकर सम्बन्धो से जातियॉ नही बनती। उदाहरणार्थ ब्राह्मण और क्षत्रियो के सम्बन्ध से कोई जाति नही बनेगी क्योकि वर्ण सकर सम्बन्ध से उत्पन्न सतानो के वर्ण–निर्धारण मे नियम यह है कि अपने वर्ण और अपने से ठीक एक दर्जा नीचे वाले वर्ण की कन्या से उत्पन्न सतान के वर्ण का निश्चय पिता के वर्ण से होगा और इससे नीचे वर्ण की कन्या से विवाह करने पर उत्पन्न सतान माता के वर्ण की होगी यद्यपि मातृ दोष के कारण ऐसी सतान को समाज मे नीचा दर्जा प्राप्त होगा। अनुलोम नीति से विवाह करके ब्राह्मण केवल 'पारशव' जाति उत्पन्न कर सकेगा क्योकि ब्राह्मण की ब्राह्मण और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न सतान ब्राह्मण होगी और वैश्य स्त्री से उत्पन्न सतान वैश्य होगी तथा ब्राह्मण की शूद्र स्त्री से भीष्म के अनुसार पारशव नामक शूद्र उत्पन्न होगा। क्षत्रिय की वैश्य और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न सतान क्षत्री होगी लेकिन उसकी शूद्र भार्या से भीष्म के अनुसार 'उग्र नामक शूद्र सतान उत्पन्न होगी। इस प्रकार अनुलोम वर्ण सकर सम्बन्ध से पारशव' और 'उग्र नामक दो जातियो की उत्पत्ति का उल्लेख भीष्म ने किया है। प्रतिलोम सम्बन्ध से मनु और भीष्म ने छ जातियो की उत्पत्ति का वर्णन किया है।

प्रतिलोम सबध से उत्पन्न जातियॉ[2]

प्रतिलोम वर्ण सकर सबध	उत्पन्न सतान
ब्राह्मणी और क्षत्रिय सबध से	'सूत
ब्राह्मणी और वैश्य सबध से	वैदेहक
ब्राह्मणी और शूद्र सबध से	चाडाल
क्षत्राणी और वैश्य सबध से	मागध
क्षत्राणी और शूद्र सबध से	क्षत्ता (मनु के अनुसार) अथवा निषाद (भीष्म के अनुसार)
वैश्य भार्या और शूद्र सबध से	अयोगव'

2- मनुस्मृति अध्याय10 श्लोक11-12।

इस प्रकार अनुलोम और प्रतिलोम सम्बन्ध से केवल आठ जातियाँ बनने का उल्लेख भीष्म और मनु ने किया। इन आठ जातियो के अतिरिक्त अन्य जातियाँ कैसे बनी इसके लिए मनु का कथन है कि भिन्न–भिन्न वर्णों के बीच मिश्रित विवाहा से और वर्णों ओर वर्ण सकरण से उत्पन्न सतानो के बीच सकर विवाहो से और वर्ण सकर सम्बन्ध से उत्पन्न विभिन्न जातियो के बीच सकर विवाहो आदि से विभिन्न जातियाँ बन गयी[1]। मनु ने सकर विवाहो से उत्पन्न 57 जातियो की गणना की है। मनु द्वारा बताई गई सकर विवाहो से उत्पन्न कुछ जातियाँ निम्नलिखित है–

वैदेहक काम्बोज सुधन्वाचार्य सैरिन्ध्र पाडुसोपाक (बसफोड) कुक्कुटक खस मल्ल शेख आवृत धिग्वण द्रविण चर्मकार आदि ।

(1) **परम्परागत सिद्धान्त की आलोचना** – (1) अकेले सकर विवाहो के आधार पर विभिन्न जातियाँ बनी इस बात को स्वीकार करना कठिन है क्योकि सर्वप्रथम ता इसका ही विश्वसनीय प्रमाण नही मिलता है कि इतने बडे पैमाने पर सकर विवाह हुए हो ओर फिर यदि बडे पैमाने पर सकर विवाहो का प्रचलन रहा होता तो मनु आदि शास्त्रकार सकर विवाहो की निदा क्यो करते ?

(11) उपरोक्त जातियो मे कुछ जातियाँ जैसे वैदेहक और काम्बोज क्षेत्र बोधक है और कुछ बसफोड और चर्मकार व्यावसायिक जातियाँ है और कुछ जैसे कुक्कुटक आदि टोटेमिक जनजातियाँ है। ऐसा लगता है कि कुक्कुटक और चर्मकार आदि जातियो को नीचा स्थान देने के लिए आर्यों ने इनके निंद्य विवाहो से उत्पन्न होने का विचार फैलाया होगा।

(111) इसके अलावा अगर आर्यों मे मिश्रित विवाहो के फलस्वरूप ये जातियाँ बनी होती तो इनमे आर्यो की नार्डिक प्रजाति के लक्षण ही दृष्टिगोचर होते न कि प्रोटोआस्ट्रोलायड और मगोलायड प्रजाति के।

2 **राजनैतिक सिद्धान्त** – योरोप के कुछ विद्वान जाति व्यवस्था को एक कृत्रिम सृष्टि मानते है। इनके विचार से जाति व्यवस्था जनता को स्थायी रूप से विभाजित कर अपने अधीन बनाने के लिए पुरोहितो की चतुर योजना है। ये विद्वान जाति व्यवस्था को किसी एक नियामक की देन मानते है। फ्रान्सीसी विद्वान अबे डुबाय ने स्पष्ट रूप स यह उल्लेख किया है कि जाति व्यवस्था ब्राह्मणो के लिए ब्राह्मणो द्वारा बनाई गई एक चतुर राजनीतिक योजना है। डा० घुर्ये ने भी आशिक रूप से इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

आलोचना – इस सिद्धान्त की सबसे बडी कमजोरी यह है कि इसमे जाति को एक कृत्रिम सृष्टि मान लिया गया है। सामाजिक शक्तियो के पारस्परिक प्रभावो के फलस्वरूप जातियाँ बनी इस तथ्य को स्वीकार किया गया और इस मत की पुष्टि की गई कि ब्राह्मणो ने अपने विशेषाधिकारो के सरक्षण के लिए

समाज पर जाति व्यवस्था को लाद दिया। जाति जैसी जटिल और व्यापक सस्था प्रशासनिक उपायो का फल है इसे स्वीकार कर पाना कठिन है क्योकि यदि जाति व्यवस्था नियामको द्वारा बनाई गई होती तो नियामको की शक्ति क्षीण होने के साथ इसे नष्ट हो जाना चाहिए था। जाति व्यवस्था अगणित राजनैतिक उतार–चढाव देखने के बाद अब भी समाप्त नही हुई है। इससे सिद्ध होता है कि अबे डुबाय का मत सामाजिक दृष्टिकोण से असगत है।

३ **व्यावसायिक सिद्धान्त** – इस सिद्धान्त के प्रतिपादको मे नेसफील्ड डालमैन और ब्लट के नाम प्रमुख है। य विद्वान पेशा अथवा व्यवसाय को जाति की उत्पत्ति का प्रधान कारक मानते है। जाति और व्यवसाय का सबध प्रगाढ है। नेसफील्ड के अनुसार जाति भेद का एकमात्र आधार व्यावसायिक अन्तर है। जातियो मे ऊँच–नीच का विचार पेशे की पवित्रता और अपवित्रता अथवा ऊँचाई और निचाई पर निर्भर करता है। आप के अनुसार धातु का काम करने वाले कारीगर डलिया बनाने वालो अथवा अन्य ऐसा व्यवसाय करने वालो से उच्च है जिसमे धातु का इस्तेमाल नही होता[4]। आप जाति का स्थान पेशे की प्राविधिक अवस्था से निश्चित हुआ मानते है। डलिया बनाने का काम बहुत पुराना है। मिटटी के पके बर्तन बनाने का काम इसके बाद शुरू हुआ। धातु का काम और भी बाद को प्रारम्भ हुआ। आप के अनुसार डलिया बनाने वाले से कुम्हार का स्थान ऊँचा है और कुम्हार से सुनार ठठेरे अथवा लुहार का स्थान ऊँचा है। आप के सिद्धान्त का केन्द्रीय भाव यह है कि व्यवसाय और केवल व्यवसाय ही जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी है (Function and function alone is responsible for the origin of the caste system)

आलोचना – नेसफील्ड का यह सिद्धान्त आलोचनात्मक परीक्षा की कसौटी पर निम्नलिखित कमियो के कारण खरा नही उतरता।

(1) हटन का कहना है कि यह सच है कि डलिया बनाने का काम नीची जाति का है परन्तु लुहार जाति का स्थान ठठेरे अथवा सुनार से ऊँचा नही है यद्यपि समय की दृष्टि से लोहे का काम तॉबे और सोने के काम से नया है। यदि पेशे की प्राविधिक अवस्था से जाति की स्थिति निम्नलिखित हो तो लोहार की स्थिति सुनार और ठठेरे से उच्च होनी चाहिए।

(2) खेती करने वाली विभिन्न जातियो की व्याख्या करने मे आपका सिद्धान्त सक्षम नही है। भारतवर्ष की अधिकाश जनता कृषि के व्यवसाय पर आश्रित है। नेसफील्ड के सिद्धान्त को यदि स्वीकार कर लिया जाय तो इन समस्त व्यक्तियो की एक जाति होनी चाहिए परन्तु ऐसी स्थिति नही है। खेती

4 "Nesfield regards occupation as the exclusive basis of caste distinction and emphasises the fact that artisans working in metals rank higher than basket-makers, for instance, and other primitive callings which do not involve the use of metals " Hutton J H Caste in India Page 170

का व्यवसाय तो अनेक जातियॉ करती है। इसके अलावा खेती के धन्धे मे लगे सभी लोगो का स्थान समान होना चाहिए पर ऐसा नही है। दक्षिण भारत मे कृषको का स्थान नीचा है जबकि उत्तर भारत मे कृषि करने वाली जातियो को सम्मान की निगाह से देखा जाता है।

डालमैन (Dahlmann) – फ्रासीसी विद्वान डालमैन ने नेसफील्ड के विचारो का समर्थन करते हुए व्यवसाय के आधार पर जाति की उत्पत्ति को समझाने का प्रयास किया है। आप भारतीय समाज को Priesthood, Nobility और Bourgeoisie इन तीन समूहो मे सगठित मानते है। आप के ख्याल से ये तीन समूह प्रत्येक सभ्य समुदाय मे मिलते है और राष्ट्र के धार्मिक राजनैतिक और आर्थिक कार्यों का ये समूह प्रतिनिधित्व करते है। भारतवर्ष मे इन तीन समूहो के समरूप तीन द्विज वर्ण (ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य) है जो क्रमश राष्ट्रीय जीवन के धार्मिक राजनैतिक और आर्थिक कार्यों को सम्पन्न करते है। ये वर्ण रिश्तेदारी या समान व्यवसाय के आधार पर छोटे–छोटे समूहो और समुदायो मे विभक्त हो जाते है। जाति इन चार मौलिक वर्णों से उत्पन्न नही हुई बल्कि उन कारपोरेशन और समूहो से उत्पन्न हुई जिनमे ये चार वर्ण विभक्त हो गये थे। डालमैन के अनुसार इन छोटे–छोटे समूहो ने कारपोरेशन का रूप ग्रहण किया और कारपोरेशन जातियो के रूप मे बदल गये। एक ही व्यवसाय करने वाले लोगो के सामान्य हितो ने कारपोरेशनो को जन्म दिया और प्राविधिक कौशल (Technical Skill) पिता द्वारा पुत्र को प्राप्त होने लगा। सामान्य व्यावसायिक हितो द्वारा आपस मे आबद्ध व्यवसाय करने वालो के परिवारो ने व्यावसायिक सघ (Guilds) का निर्माण किया। डालमैन के अनुसार ये व्यावसायिक सघ ही जाति का आदि रूप है।

आलोचना – डालमैन ने जर्मन व्यावसायिक सघ (German Guild) को जाति के समानान्तर माना है परन्तु जर्मनी के व्यावसायिक सघो मे विभिन्न पेशो के बीच खान–पान और विवाह सबधी प्रतिबन्ध नही पाये जाते है और यह सोचना भी गलत है कि केवल पेशा सबधी अन्तर ऐसे स्थायी पूर्वाग्रहो को जन्म दे सकते है जिनसे भारतवर्ष मे जाति–भेद पैदा हो सके[5]।

ब्लट – आप डालमैन का समर्थन करते हुए इस बात पर बल देते हैं कि जाति की उत्पत्ति का पता तत्कालीन जटिल समाज की परिस्थितियो मे लगाना चाहिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चार वर्ण थे। प्रारम्भ मे वर्ण के आधार पर व्यवसायो का विभाजन नही था। एक व्यवसाय को सभी वर्ण के लोग कर सकते थे। व्यावसायिक सघो का विकास हो रहा था। एक ही व्यावसायिक सघ मे लगे भिन्न–भिन्न वर्णों के लोग अपने वर्ण के लोगो से इसी व्यावसायिक सघ के दूसरे वर्ण के लोगो की अपेक्षा अधिक मेल–जोल रखते होगे। परिणामत एक व्यावसायिक सघ के अन्तर्गत वर्ण के आधार पर बने समूह अपने रक्त की शुद्धता बनाये रखने के लिए अन्तर्विवाही बन गए और स्वशासन की व्यवस्था करने लगे।

व्यावसायिक सघ अन्तर्विवाही जाति बन गये और व्यावसायिक सघो के अन्तर्गत वर्ण के आधार पर बने समूह उपजाति बन गये। अपने सिद्धात की पुष्टि मे ब्लट ने पहला परिणाम यह निकाला कि व्यवसाय के आधार पर बनी जाति मे अन्तर्विवाही उपजातियॉ पाई जाती है जब कि अन्य आधारो पर बनी जातियॉ अन्तर्विवाही तो होती हैं परन्तु उनमे अन्तर्विवाही उपजातियो का अभाव होता है। दूसरे व्यवसाय के आधार पर बनी जातियो मे जाति पचायते पाई जाती है। तीसरे पेशे के आधार पर बनी जातियॉ एक पूर्वज से उत्पन्न होने का दावा नही करती जबकि पेशे के आधार पर जो जातियॉ नही बनी है वे सामान्य पुरखे से अपने को उत्पन्न हुआ मानती है।

आलोचना — ब्राह्मण कायस्थ लोहार और सोनार को ब्लट धन्धे वाली जातियाँ मानते है। ब्राह्मण और कायस्थो मे जाति पचायते नही पाई जाती है। कायस्थ चित्रगुप्त से अपनी उत्पत्ति सिद्ध करते है। बढई और लोहार विश्वकर्मा को अपना सामान्य पूर्वज मानते है। अत इन कर्मियो के कारण ब्लट के सिद्धान्त का बल क्षीण हो जाता है।

4 **धार्मिक सिद्धान्त** — होकार्ट और सेनार्ट जाति की जडो को धर्म मे खोजने का प्रयास करते है। होकार्ट के मत से धार्मिक सिद्धान्तो तथा प्रथाओ के कारण समाज का जातियो मे विभाजन हुआ । आपके विचार से जाति व्यवस्था का उदय कर्मकाण्डो के फलस्वरूप हुआ। कर्मकाण्डीय उद्देश्यो से चार वर्णों का विभाजन हुआ। एक कर्मकाण्ड को सम्पन्न करने के लिए अनेक कृत्य करने पडते है। इन कृत्यो को करने के लिए विभिन्न श्रेणियो के व्यक्तियो की आवश्यकता पडती है। इसलिए अलग–अलग कर्मकाण्डीय कार्यों को करने के लिए धीरे–धीरे मनुष्यो के वर्गों का जन्म हुआ और ये वर्ग बद जातियो मे बदल गए।

(1) **आलोचना** — होकार्ट का निष्कर्ष लका स्थित बौद्धदन्त मदिर की कर्म–काण्डीय व्यवस्था पर आधारित है। इन्होने भारत की जाति से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित नही किया इसलिए आपका सिद्धान्त अवैज्ञानिक है।

(2) हटन का कथन है कि यह सिद्धान्त भोजन और विवाह सबधी प्रतिबधो की व्याख्या नही करता है जबकि खान–पान और विवाह सम्बन्धी निषेध जाति के आवश्यक तत्त्व हैं।

(3) होकार्ट जाति को एक धार्मिक सस्था समझने की भूल भी करते है। जाति तो एक सामाजिक सस्था है। अत जाति व्यवस्था की उत्पत्ति धार्मिक सस्कारो से हुई इसे निर्णायक तथ्य के रूप मे नही स्वीकार किया जा सकता।

सेनार्ट — आप जाति व्यवस्था को अकेले आर्य तत्त्वो से उत्पन्न नही मानते बल्कि जाति व्यवस्था की उत्पत्ति मे आर्य तत्त्वो को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं क्योकि आप खान–पान सबधी निषेधो पर बल देते हुए यह सिद्ध करते हैं कि भोजन सम्बधी निषेध आर्यो की कुल–पूजा और कुल–भोज प्रथा से उत्पन्न हुए।

भारत मे आर्यों के आक्रमण के फलस्वरूप प्रजातीय मिश्रण हुआ और दो प्रकार की शुद्धता अथवा पवित्रता का जन्म हुआ। (1) वश की पवित्रता और (2) व्यवसाय की पवित्रता। वश और व्यवसाय की पवित्रता से प्रभावित होकर आर्यों ने मिश्रित प्रजाति के लोगो से सबध–वर्जन प्रारम्भ किया। इसी वश और व्यवसाय की शुद्धता के कारण नये–नये समूह अस्तित्व मे आये। इन समूहो मे पुरोहित समूह ने नैतिक बल का आश्रय लेकर जाति व्यवस्था का निर्माण किया।

5 **प्रजातीय सिद्धात–** प्रजाति भेद और प्रजातीय सम्पर्क सघर्ष जाति की उत्पत्ति का कारण है ऐसी मान्यता हरबर्ट रिजले घुर्ये मजूमदार और एन के दत्ता की है। ये विद्वान जाति बनने मे प्रजातीय तत्त्व का विशेष हाथ मानते है।

रिजले का मत–रिजले के अनुसार जाति का आधार रक्त मिश्रण रग तथा कुलीनता है[6]। जब आर्य यहाँ आये तो उनका द्रविडो के साथ युद्ध हुआ। आर्य विजयी हुए। आर्यों की सस्कृति और प्रजाति द्रविड सस्कृति और प्रजाति से भिन्न थी फिर भी आर्यों ने विवाह मे द्रविडो की कन्याओ को स्वीकार किया क्योकि आक्रमणकारी समूह होने के कारण इनके पास स्त्रियो का अभाव था। इस प्रकार अनुलोम विवाह को जन्म दिया । जब स्त्रियो की आवश्यकता पूरी हो गयी तो अनुलोम विवाह पर प्रतिबन्ध लगाकर आर्य आक्रमणकारी समूह अन्तर्विवाही होकर जातियो मे बदल गये।

घुर्ये का मत–घुर्ये आर्य प्रजाति और सस्कृति की श्रेष्ठता तथा अनार्य प्रजाति और सस्कृति की हीनता को जाति का आधार मानते हैं। विजेता प्रजाति विजित प्रजाति से अपने को श्रेष्ठ मानती है और विजित प्रजाति को हीन मानती है। इसलिये आर्यों ने जब यहाँ के मूल निवासियो को हरा दिया तो उन्हे दास आदि के नाम से सम्बोधित किया। अपनी विजय पर गर्व और धार्मिक पवित्रता के विचार से आर्यों ने शूद्रो से अपने को अलग रखने के नियम बनाये। भारत मे आर्यों के आगमन के समय उनमे तीन स्पष्ट वर्ग थे जिनमे सिद्धात रूप से विवाह हो तो सकता था परन्तु साधारणतया होता नही था। इन्डो–आर्य प्रजाति की ब्राह्मण शाखा ने अपने रक्त की शुद्धता और पवित्रता के विचारो पर विशेष ध्यान दिया और ऐसे नियम बनाये जिससे इनका अनार्यों से सम्पर्क न होने पाये। इसके लिये इन्होने शूद्रो के साथ विवाह पर प्रतिबध लगाया आर्यों की पूजा पद्धति को अपनाने से अनार्यों को रोका तथा इनके साथ खान–पान वर्जन के नियम बनाये। इसलिये घुर्ये जाति प्रणाली को इन्डो–आर्य सस्कृति के ब्राह्मणो की सतान मानते है जिसे गगा और यमुना के मैदानो मे पाया गया है और वहाँ

---

6 'Sir Herbert Risley, in his book The People of India, on the other hand has relied mainly on theories of race and hypergamy to explain the caste system, which he clearly regards as primarily due to colour differences and to a syatem of hypergamy resulting therefrom "
Hutton, J H Caste in India Page-173

से सारे भारतवर्ष मे इसका विस्तार हुआ है[7]।

घुर्ये का कहना है कि ब्राह्मणो ने विवाह और खान–पान वर्जन सबधी नियमो का निर्माण पहले शूद्रो के प्रति किया था। क्षत्रिय और वैश्यो को इस सबध मे वे अपने समान मानते थे। कालान्तर मे निषेध कठोर बन गये और इनका विस्तार हुआ। जब आर्य लोग दक्षिण भारत मे गये तो उन्होने वहॉ शूद्रो के हाथ का भोजन और जल न लेने के सबध मे नियम बनाये। यह बात शूद्रो के समाज से मेल खाती थी क्योकि आर्यो का सम्पर्क होने के पूर्व दक्षिण भारत के लोगो मे पवित्रता और भोजन द्वारा गुण अवगुण सचरित होने का विश्वास था। शूद्रो ने आर्यो द्वारा विकसित भोजन और जल के निषेधो को शीघ्रता से अपना लिया। घुर्ये का कथन है कि इसी कारण दक्षिण भारत मे भोजन और जल सबधी प्रतिबध कठोर है और वहॉ ब्राह्मण ब्राह्मण के अलावा अन्य किसी के हाथ से भोजन अथवा जल नही स्वीकार करता है[8]। जब वैश्यो का शूद्रो के साथ मिश्रण होने लगा तब ब्राह्मणो ने वैश्यो के साथ अपना मिश्रण रोकने के लिए नियम बनाये और ब्राह्मण द्वारा वैश्य स्त्री से उत्पन्न सतान को अपने से भिन्न स्थिति प्रदान की। बौद्ध धर्म के पतन काल के समय ब्राह्मणो ने वैश्यो के हाथ का भोजन स्वीकार करना भी बद कर दिया। क्षत्रियों की विशेष स्थिति के कारण सिद्धात रूप से ब्राह्मणो ने उनके हाथ से भोजन ग्रहण करने पर प्रतिबध नही लगाया फिर भी इन्होने ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न सतान को भिन्न समूह देकर अपनी प्रजातीय शुद्धता इनसे सुरक्षित रखी। अतएव अन्तर्विवाह और भोजन सबधी निषेध ब्राह्मणो की अपने को शुद्ध रखने की इच्छा का फल है। ब्राह्मणो की यह इच्छा आशिक रूप से उनके पवित्रता सबधी विचार ओर आशिक रूप से वैदिक परपरा की सुरक्षा और आशिक रूप से अपनी विजय पर गर्व के कारण थी। यह इच्छा पहले सभी इन्डो–आर्य वर्गो मे थी लेकिन बाद मे यह भावना केवल ब्राह्मणो मे ही रह गयी। शास्त्र की भाषा जब बोल चाल की भाषा से भिन्न हो गयी तो ब्राह्मणो ने क्षत्रियो से विभेद रच लिया। ब्राह्मणो ने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्गो मे जो मौलिक दृढता थी उसे नही भुलाया। अपनी पवित्रता बनाये रखने के लिये वे अपना ढग अपनाते रहे और क्षत्रिय तथा वैश्यो को अपनी इस योजना मे शामिल रखा यद्यपि व्यवहार मे इन्हे शूद्रो की भॉति मानते रहे।

यह सामाजिक प्रतिमान जिसका निर्माण समाज के प्रतिष्ठा प्राप्त वर्ग द्वारा हुआ उन सभी प्रकार के समूहो द्वारा उत्साह के साथ अनुकरण किया गया जो प्रतिष्ठा और सम्मान चाहते थे। बहुत कुछ सम्भव है इसी नियम से

---

7 ' I may conclude that caste in India is a Brahamnic child of the Indo-Aryan Culture cradled in the land of the Ganga and the Yamuna and thence transferred to other parts of the country" Ghurye, G S "Caste, Class & Occupation P 172

8 Ghurey, G S Caste, Class & Occupation P 174

अ तर्विवाह और भोजन सबधी नियम न जो समाज मे केवल चार वर्गों द्वारा बनाये गये थे प्रत्येक समूह का लक्षण बन गये सामूहिक दृढता (Group Solidarity) और समूह प्रतिष्ठा के विचारो ने अपने समूह से बाहर विवाह करने पर रोक लगायी जिससे समूह अन्तर्विवाही बन गये और उसने नयी जाति का रूप ग्रहण कर लिया।

मजूमदार का मत — सस्कृतियो के सघर्ष तथा मिश्रण दोनो स्थितियो पर डा मजूमदार बल देते है। आरम्भ मे आर्यो तथा यहाँ के मूल निवासियो मे सघर्ष हुआ। यह सघर्ष अधिक दिनो तक नही चल सका। इनमे यौन तथा वैवाहिक सबध शुरू हुए और इनसे जाति व्यवस्था की उत्पत्ति हुई।

(1) **आलोचना** — प्रजातीय सिद्धान्त इस बात की व्याख्या नही करता है कि अन्य देशो मे प्रजाति मिश्रण से जातियाँ क्यो नही बनी।

(2) हटन खान—पान निषेधो को जाति का अनूठा लक्षण मानते है। इसलिए उनके अनुसार इस सिद्धान्त की एक यह भी सबसे बडी दुर्बलता है कि इस सिद्धान्त के द्वारा खान—पान के निषेधो की व्याख्या नही हो पाती है।

(३) हटन ने ठीक ही कहा है कि यदि प्रजातीय सम्पर्क—सघर्ष ही जाति बनाने का एकमात्र कारण है तो एग्लो—इडियनो मुसलमानो और दोगले अग्रेजो (Eurasians) मे हिन्दुओ की भाँति जातियाँ क्यो नही बनी[9]।

6 **'माना' का सिद्धान्त अथवा हटन का सिद्धान्त** — हटन अपनी 'कास्ट इन इण्डिया' नामक पुस्तक मे कहते हैं कि जाति की उत्पत्ति पर प्रकाश डालने के लिए इण्डिया मे पाई जाने वाली इन सस्कृतियो की परीक्षा पहले करना उचित होगा जिनमे प्राचीन काल से बहुत ही कम अथवा नाम मात्र को परिवर्तन हुआ है यदि ये सस्कृतियाँ ऐसी उत्पत्तियो को प्रकाशित कर सकती हैं जो अन्यत्र बढती हुई सभ्यता और बाह्य सम्पर्को के परिवर्तनो और विकासो के कारण स्पष्ट नही है। जाति का वर्तमान रूप अनेक शताब्दियो मे विकसित हुआ। परन्तु जातियाँ भारतवर्ष मे ही पायी जाती है और भारत मे इसकी जडे गहराई तक व्याप्त हैं जाति की उत्पत्ति को भारतवर्ष मे ही खोजना आवश्यक होगा। सौभाग्य से इस विशाल देश के दुर्गम कोनो मे अब भी कुछ ऐसी जनजातियाँ है जिनके जीवन की आदिम अवस्था सहस्रो वर्षों मे भी परिवर्तित न हो सकी। हिन्दू, बौद्ध और इस्लाम धर्म का भी प्रभाव उन पर बिलकुल नही पडा और हिन्दुओ जैसी जाति प्रणाली के विषय मे वहाँ सोचा भी नही गया है। जाति जिस रूप मे मैदानो मे पाई जाती है उसका वहाँ स्वप्न भी नही देखा गया है फिर भी वहाँ कुछ ऐसी सस्थाएँ पाई जाती है जो जाति और धर्म पर एक निश्चित प्रकाश डालती हुई प्रतीत होती हैं। हटन के अनुसार नागा पहाडियो के पूर्व अव्यवस्थित क्षेत्र मे जहाँ प्रत्येक गाँव एक स्वतन्त्र राजनैतिक इकाई है पेशे के आधार पर गाँवो का विभाजन मिलता है। इस प्रकार कुछ गाँव

9- Hutton, J H Caste in India P 174

बर्तन बनाने का काम करते है लेकिन कपडा नही बुनते। कपडा बुनने का काम अन्य गॉव मे होता है। कुछ गॉवो मे लोहारगीरी का काम होता है। पारस्परिक विरोध न होने पर प्रत्येक गॉव अपने पडोसी गॉव से वस्तु विनिमय कर लेता है। यहॉ जाति व्यवस्था की ओर सकेत करने वाला व्यवसाय का एक पहलू स्पष्ट रूप से दिखाई पडता है। यह जाति प्रणाली के परम्परागत पेशो से मिलता जुलता पहलू है। उत्तरी भारत मे इसके अवशेष बौद्धकाल तक बने रहे लेकिन जाति के विषय मे सकेत करने वाला यह एकमात्र लक्षण नही है।

जहॉ तक भोजन सबधी निषेधो का प्रश्न है हमे नागा जनजातियो से पृथक भटकने की आवश्यकता नही। नागा जनजातियो मे माना के आधार पर भोजन सबधी निषेधो के अनेक उदाहरण मिलते है। माना सिद्धान्त के अनुसार भोजन करन वाले पर भोजन छूने वाले का प्रभाव पडता है। अत अपरिचितो का भोजन खतरनाक होता है। भारत की जातियो मे पके और बिना पके भोजन के विषय मे अनेक निषेध है। इन निषेधो को नागाओ के माना के सिद्धान्त से जोडा जा सकता है। आत्मा या जीवन शक्ति के विचार व निषेधो द्वारा इनकी रक्षा की आवश्यकता न्यूजीलैण्ड से लेकर सारे दक्षिण पूर्व एशिया मे पाई जाती है। यह जीवन शक्ति दिखाई न दे पर सीमित और मूर्त है। इस पर अधिक शक्तिशाली जीवन शक्तियो का प्रभाव पड सकता है और उनसे नुकसान हो सकता है। जीवन शक्ति या माना का सिद्धान्त पारसियो बौद्धो मुसलमानो और हिन्दुओ मे किसी न किसी रूप मे पाया जाता है। बौद्ध धर्म मे इद्धि के रूप मे इस्लाम मे कुदरत के रूप मे और हिन्दू धर्म मे शक्ति के रूप मे माना' का सिद्धान्त पाया जाता है।

'माना' की धारणा — प्रश्न है माना क्या है ? सारे ससार मे किसी न किसी अलौकिक अवैयक्तिक शक्ति मे विश्वास पाया जाता है जिसमे सभी प्रकार की ऐसी वस्तुएँ प्राप्त कराने की क्षमता होती है जो अन्यथा न प्राप्त हो सके। पालीनेशिया और मलेनेशिया मे ऐसी शक्ति को 'माना नाम से अभिहित किया जाता है। यद्यपि यह शक्ति अवैयक्तिक है फिर भी व्यक्तियो और वस्तुओ मे प्रवेश कर उनमे वे गुण और योग्यताये पैदा कर सकती है जो पहले विद्यमान नही थे[10]। नागा लोग इसे Aren और मुण्डा लोग Bonga कहते हैं। हटन का कहना है कि जाति व्यवस्था का जन्म जीवन शक्ति माना और जादू के आधार पर हुआ। माना के विचार के कारण भोजन सबधी निषेधो का भी विकास हुआ। माना' एक ऐसी विद्युतधारा की भॉति है जो मनुष्यो और वस्तुओ को लग सकती

---

10 "Mana is the name which the Melanesians and Polynesians have for this power Although impersonal and diffused, this power is capable of entering into objects and persons giving them properties and capacities they previously lacked " Ogburn & Nimkoff A Hand Book of Sociology, Eurasia Publishing House (Pvt) Ltd Ram Nagar, New Delhi-1,1966 Page-462

है और जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की ओर भेजी जा सकती है। कोई आशातीत सफलता माना का फल है और विफलता माना की कमी या हानि की परिचायक है।

आलोचना – (1) केवल माना के आधार पर जाति व्यवस्था की उत्पत्ति को नही सिद्ध किया जा सकता क्योकि माना सबधी विचार तो सारे ससार मे किसी न किसी रूप मे व्याप्त था। विश्व मे भारतवर्ष के अलावा और कही जातियॉ नही बन पायी। अत जाति व्यवस्था की उत्पत्ति मे अनेक कारको का योग स्वीकार करना पडेगा। यह सच है कि भोजन सबधी निषेधो की व्याख्या का माना सबसे अधिक उपयुक्त आधार है।

(2) हटन स्वय अपने इस सिद्धान्त से सहमत नही प्रतीत होते है क्योकि यदि वे अपने इस सिद्धान्त से सतुष्ट होते तो जाति की उत्पत्ति मे मदद करने वाले14 कारणो की सूची अपनी पुस्तक मे न देते।

7 **अन्य सिद्धान्त** – घुर्ये की भॉति इबेट्सन जाति व्यवस्था को ब्राह्मणा की चालाकी का फल मानते है। आपके अनुसार ब्राह्मणो ने अपने और अपने समर्थको के पेशो को छोडकर अन्य पेशो को नीचा घोषित कर दिया। जानजातीय तत्त्वो व्यावसायिक सघो (गिल्डस्) और पुरोहित धर्म के सयोग से जाति उत्पन्न होने की बात आप स्वीकार करते है। आप जाति के उत्पन्न होने मे जनजाति का विशेष योग मानते है।

यह सच है कि कुछ जातियो के बनने के लिए जनजातियॉ उत्तरदायी है परन्तु यह भी कम स्पष्ट नही है कि कुछ जातियॉ कतिपय पेशो तक ही सीमित हे। हटन का आरोप है कि इबेट्सन ने जाति की उत्पत्ति की व्याख्या करने के स्थान पर जाति के लक्षणो का उल्लेख किया है। जनजातियो व्यावसायिक सघा और धार्मिक एकाधिकारो ने निस्सदेह जाति व्यवस्था के विकास और विस्तार मे मदद की है लेकिन इन्हे जाति उत्पन्न होने का कारण नही माना जा सकता क्योकि ये कोई ऐसे तत्त्व नही है जो भारत मे ही मिलते हो बल्कि कई देशो के समाजो मे ये सामान्य रूप से पाये जाते है जबकि जातियॉ केवल भारतवर्ष मे ही पाई जाती है।

स्लेटर (Slater) ने अपनी 'Dravidian Elements in Indian Culture' नामक पुस्तक मे जाति व्यवस्था की उत्पत्ति सबधी व्यावसायिक और प्रजातीय उत्पत्तियो का सम्मिलित सिद्धान्त प्रस्तुत किया। आप इस तथ्य पर जोर देते है कि उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत मे जाति अधिक प्रबल है और ऐसा सुझाव प्रदान करते है कि आर्यों के आक्रमण के पूर्व भारतवर्ष मे व्यवसायो के पैतृक होने और एक ही व्यावसायिक समाज के अन्तर्गत माता पिता द्वारा विवाहो के तय होने के कारण जाति का जन्म हुआ। व्यावसायिक रहस्य इस प्रकार सुरक्षित बना रहता था। धार्मिक सस्कारो और जादू के परिणामस्वरूप भी ऐसे व्यावसायिक समूह बने जिनके बाहर विवाह करना प्रचलित रीति के

विरुद्ध माना जाता था। आर्य–आक्रमण ने जाति–भद को रग भेद (प्रजाति भेद) के साथ जोडने की प्रवृत्ति को सबल और दृढ बनाया और साथ ही सामाजिक वरीयता के स्केल मे जातियो के स्थान प्रदान करने की प्रवृत्ति को बल प्रदान किया। स्लटर भारत के प्रागार्य समाज मे पुरोहित जादूगरो की स्थिति को स्वीकार करते है।

निष्कर्ष – जाति व्यवस्था की उत्पत्ति से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण विचारो का विवेचन करने के पश्चात इस बात का निर्धारण शेष रह जाता हे कि जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के कौन से सिद्धान्त को ठीक माना जाय। जाति के उद्भट व्याख्याता श्री हटन सभी सिद्धान्तो मे वर्णित तत्त्वो को मिलाकर सामान्यीकरण करने की चेष्टा करते है। जाति की उत्पत्ति मे अनेक कारको (Flurality Causes) के योग को स्वीकार करना होगा। बहुत से कारको ने मिलकर जाति व्यवस्था को उत्पन्न किया। किसी अकेले कारक ने जाति प्रथा को नही जन्म दिया। जाति की उत्पत्ति मे मदद करने वाले कारक जिनका उल्लेख हटन ने किया है निम्नलिखित है –

(1) सम्पूर्ण भारतीय प्रायद्वीप और उसके आन्तरिक क्षेत्रो की भौगोलिक भिन्नता।

(2) भोजन द्वारा गुण हस्तातरित होने के आदिम विचार।

(3) टोटेम टैबू और माना सबधी आदिम विचार।

(4) धार्मिक सस्कार और यज्ञ जिसने पवित्रता की भावना को जन्म दिया।

(5) कुलपूजा और कुलभोज सबधी विचार ।

(6) अवतार तथा कर्म के सिद्धान्त मे विश्वास।

(7) व्यवसाय और कार्य से सबधित जादू मे विश्वास।

(8) पैतृक व्यवसाय व्यापार और कारीगरी के रहस्य।

(9) व्यावसायिक सघ (Guilds) और इसी प्रकार की अन्य सस्थाये और आर्थिक जीवन के विकास मे सहायक भिन्न भिन्न तत्त्व।

(10) विरोधी सस्कृतियो–विशेषकर पितृमूलक आर्यो का मातृमूलक द्रविडो से सघर्ष।

(11) प्रजातियो मे सघर्ष रग–पक्षपात और विजय।

(12) धार्मिक और सामाजिक विशेषाधिकारो से युक्त वर्गो का विकास।

(13) वन्य जातियो और गणो की वैयक्तिक विलगता और बिना विलयन किये उन्हे विशाल प्रशासनिक इकाइयो मे शामिल करना।

(14) जानबूझकर बनाई गई आर्थिक और प्रशासनिक नीतियाँ।

(15) ब्राह्मणो द्वारा अन्य लोगो का शोषण।

अध्याय10

जाति व्यवस्था मे परिवर्तन

(Changes ın the Caste System)

समय और परिस्थितियो के थपेडो से जाति व्यवस्था हताहत हुए बिना न रही। इतिहास के एक बिन्दु पर जिस चीज का जन्म होता है वह विकास की प्रौढावस्था को प्राप्त होकर विकृत भी होने लगती है। जातियो के लिए भी यह नियम सही है। जाति व्यवस्था के लक्षण आज तिरोहित हो रहे हैं। वह सिद्धान्त जो कभी जाति का आधार थे समय की भटठी मे जलकर राख हो रहे हैं।

(1) **प्रजातत्र एव जाति** — जन्म पर आधारित असमानता जाति का प्रमुख और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त था। जाति का सार (essence) असमानता (ınequal-ıty) मे निहित है। व्यक्ति के जन्म के आधार पर जाति–सदस्यता प्रदान की जाती थी। जिस जाति मे कोई जन्म लेता था वही उसकी जाति होती थी। जातिगत नियम के अनुसार व्यक्ति की जीवन अवधि मे उसकी जाति मे परिवर्तन असम्भव था अर्थात एक जाति से दूसरी जाति मे परिवर्तन सभव न था। अमीरी या गरीबी व्यक्ति को जाति से अलग नही कर सकती थी। आजकल पाश्चात्य मूल्यो और शिक्षा प्रसार के कारण कुछ निम्न जातियॉ ऊँची जाति के रीति–रिवाजो और मूल्यो को अपना कर सामिष भोजन और मद्यपान को छोडकर जाति सोपानक्रम मे ऊँचे उठ रही हैं। एम एन श्रीनिवास ने इस तथ्य को प्रकट करने के लिए सस्कृतिकरण (Sanskrıtızatıon) शब्द का प्रयोग किया है। प्रजातात्रिक मूल्यो और विचारो से जाति का जन्म पर आधारित असमानता का सिद्धान्त मेल नही खाता तो फिर प्रजातात्रिक ढाँचे मे जाति व्यवस्था को कैसे फिट किया जा सकता है। प्रजातत्र समानता के सिद्धान्त को लेकर चलता है। प्रजातत्र अवसर, अधिकार और सुविधाओ की समानता को लेकर चलता है। प्रजातत्र अवसर, अधिकार और सुविधाओ की समानता का नारा बुलन्द करता है। जाति व्यवस्था के अन्तर्गत सभी जातियो के लोगो को समान अवसर समान अधिकार और समान सुविधाऍ नही प्राप्त हैं बल्कि उल्टे अगर कोई विशेषाधिकारो को भोगता है तो कोई निर्योग्यताओ (Dısabılıtıes) का शिकार है। कोई ऊँचा है तो कोई नीचा। समानता नाम की चीज के लिए जाति व्यवस्था मे कोई गुजाइश ही कहॉ है। प्रजातत्र मे जन्म पर आश्रित इन

विशेषधिकारो और असुविधाओ को प्रश्रय कदापि नही मिल सकता। ऐसी स्थिति मे भला प्रजातत्र और जाति साथ--साथ कैसे रह सकते है ? प्रजातत्र मे सबके लिए अनिवार्य और सार्वभौमिक शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। जाति व्यवस्था मे शिक्षा एक जाति विशेष के लोगो तक सीमित कर दी जाती है और अन्य जातियो को शिक्षा से वचित रखा जाता है। इसके परिणामस्वरूप उन लोगो मे जिन्हे शिक्षा का विशेषाधिकार प्राप्त है श्रेष्ठता की भावना के पनपने का अवसर मिलता है।

सक्षेप मे प्रजातत्र और जाति के आधार सिद्धान्त और परिणाम एक दूसरे के प्रतिकूल है। भारत एक प्रजातात्रिक देश है। ऐसी स्थिति मे जाति का असमानता का सिद्धान्त जनतात्रिक मूल्यो और विचारधारा द्वारा प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकता है।

कुछ जातियो मे जाति के सदस्यो के व्यवहारो को सीमाओ मे बॉधने के लिए जाति पचायते थी। जाति पचायते व्यक्तियो को दण्ड देने मे जाति का ध्यान रखती थी। जाति के आधार पर व्यक्तियो के लिए पृथक–पृथक दण्ड की व्यवस्था थी। अब व्यक्ति को दण्ड देने मे उसकी जाति पर विचार नही किया जाता है बल्कि उसके अपराध पर विचार किया जाता है। अर्थात समान अपराध करने वाले लोग चाहे जिस जाति के हो समान दण्ड के भागी होगे। कानून के समक्ष सभी समान है। कानून के आगे न तो कोई जाति बडी है और न कोई छोटी बल्कि सभी जातियॉ समान है।

(2) **जाति का व्यावसायिक तत्त्व नष्ट हो गया है** – व्यवसाय चयन की स्वतन्त्रता का अभाव जाति का दूसरा प्रमुख लक्षण था। मनमाने ढग से पेशो को ऊँचा या नीचा सिद्ध कर इन पेशो मे लगे लोगो के बीच सामाजिक असमानता पैदा करना जातिबद्ध समाज की प्रमुख विशेषता थी। प्रत्येक जाति का व्यवसाय पैतृक होता है। अपने जातीय व्यवसाय के अलावा अन्य कोई व्यवसाय करने की अनुमति एक जाति के सदस्य को प्राप्त नही थी। पैतृक व्यवस्था अपनाने के पक्ष में तर्क यह दिया जाता था कि बच्चा बचपन से ही व्यावसायिक कौशल सीख कर छोटी आयु मे ही व्यवसाय मे हाथ बॅटाने लगेगा। इसके अलावा उसे व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए अतिरिक्त धन भी खर्च नही करना पडेगा। बच्चे को अपने व्यवसाय के विषय मे प्रशिक्षण अपने माता पिता से ही प्राप्त हो जायेगा और व्यवसाय के मार्ग मे जो कठिनाइयॉ है उनका भी पता उसे आसानी से लग जायेगा। औद्योगीकरण के फलस्वरूप नये नये उद्योग धन्धो का विकास हुआ। बडे पैमाने के उद्योगो ने जातिगत पैतृक व्यवसायो पर प्रहार किया। उदाहरणार्थ सूती मिलो के विकास के कारण पीढियो से कपडा बुनने का काम करने वाले जुलाहो का व्यवसाय ध्वस्त हो गया। सूती मिलो के बने कपडे का मुकाबला न कर सकने के कारण जुलाहो ने अपने पैतृक व्यवसाय को छोड दिया और मिलो मे नौकरी करने लगे। इससे पैतृक व्यवसाय अपनाने

का आदर्श हिल गया। अब व्यवसाय अपनाने मे रुचि और रुझान को महत्त्व दिया जाता है। व्यक्ति का मन जिस व्यावसाय को करने मे लगे वही व्यवसाय उसे करने दिया जाय। जाति व्यवस्था की व्यावसायिक मनोवृत्ति बदलने मे सविधान का भी योग कम नही है। भारतवर्ष के आजाद हो जाने पर जब सविधान बना तो सविधान मे यह व्यवस्था कर दी गई कि प्रत्येक जाति का व्यक्ति अपनी इच्छा का व्यवसाय चुनने क लिए स्वतन्त्र है। फलस्वरूप जाति का व्यावसायिक पहलू नष्ट हो गया। आज किसी भी जाति का पेशा परम्परा द्वारा निर्धारित नही है। किसी भी पेशे को अपना कर नीची जाति का व्यक्ति वैभवशाली बन सकता है। जीविका के सभी साधन उसे सुलभ है। किसी भी व्यवसाय पर किसी एक जाति का एकाधिकार नही है। आज जातीय पेशेगत प्रतिबध लगाकर आर्थिक समृद्धि पाने से किसी को रोका नही जा सकता है। जूता बनाने का काम चमार ही करेगा यह सिद्धान्त अब नष्ट हो गया है। अगर ब्राह्मण जूता की दुकान खोलना चाहे तो शौक से खोल सकता है।

(3) **भोजन एव जल सबधी निषेधो की समाप्ति** — भोजन और जल सबधी निषेधो को हटन ने जाति का अनूठा लक्षण (unique feature) माना है। वर्तमान समय मे भोजन और जल सबधी निषेधो को पनपने देने का अनुकूल वातावरण समाप्त हो गया है। कनौजिया ब्राह्मणो मे भी भाजन और जल सबधी निषेध उतने कठोर नही है। भोजन और जल सबधी निषेधो को लेकर शहरी और ग्रामीण समाज मे वैभिन्य परिलक्षित होता है। शहरो मे खान–पान प्रतिबन्ध बेधडक तोडे जाते है। इस सबध मे डा राधाकमल मुखर्जी ने लिखा है बाजार मे कारखानो मे चाय की दुकानो पर सब जातियो के लोग जाति व्यवस्था सबधी सभी प्राचीन नियमो को तोडते हुए एक साथ काम करते और खाते पीते है [1]। भला औद्योगिक समाज मे भोजन और जल प्रतिबन्धो के विषय मे विचार करने की गुजाइश कहाँ है। नगरीकरण और औद्योगीकरण ने जाति की मर्यादाओ को दिल खोलकर भग किया है। ग्रामीण समाज मे भी कुछ परिस्थितियो मे भोजन सम्बन्धी नियमो की अवहेलना की जाती है। जैसे ग्रामीण समाज के मनुष्य जब किसी शादी मे रेल द्वारा यात्रा करते है या अन्य किसी उददेश्य से यात्रा करते है तो जाति के भोजन सबधी नियमो का उल्लघन करते है। बारात विदा होने पर वधू के साथ मिष्ठान्न और पकवान आदि भेजने का विधान हिन्दू समाज मे है। यात्रा के दौरान रेल के डिब्बे मे जब यह पकवान रखा जाता है तो सभी जाति के लोगो का स्पर्श हो सकता है। गाँव के बडे बूढे लोगो से अगर पूछा जाता है कि क्या आप यह पकवान जो ट्रेन मे निम्न जातियो द्वारा स्पर्श हुआ है फेक देंगे ? तो उत्तर मिलता है नही हम वृद्ध लोग इसे नही खायेगे बच्चे लोग इसे खा लेगे। यह विचित्र आडम्बर है। बच्चे चमार का स्पर्श किया भोजन करे और बच्चो के साथ वे भोजन करे तो क्या ऐसे व्यक्तियो से

भोजन निषेधो का उल्लघन नही होता है ? प्रत्यक्ष रूप से न सही अप्रत्यक्ष रीति से तो वे भी भोजन सबधी नियमो को तोडते ही है। रेल अस्पताल आदि के प्रभाव से आज जाति के भोजन सबधी नियम टूट रहे है। औद्योगीकरण और शहरीकरण के कारण विकसित होटल व्यवस्था ने तो भोजन निषेधो के समापन मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। कारखानो मे काम करने वाले व्यक्तियो के पास भोजन बनाने का समय बहुत कम होता है विवश होकर वे होटलो का आश्रय लेते है। होटल मे जाति सम्बन्धी नियमो का चल पाना कई कारणो से मुश्किल है। सर्वप्रथम होटल का मालिक जाति के आधार पर भोजन की व्यवस्था नही कर सकता है क्योकि यह कृत्य बहुत खर्चीला और अव्यावहारिक है। दूसरे जाति के आधार पर भोजन की व्यवस्था करने के लिए बहुत सा स्थान चाहिए। शहरो मे भोजनालय खोलने के लिए इतना स्थान भी नही प्राप्त हो सकता। तीसरे भोजनालय खोलने का उद्देश्य होता है धनावृद्धि अथवा लाभ। जाति के आधार पर होटल खोलने मे लाभ के बजाय हानि होने की सम्भावना है। होटलो मे प्राय सभी जातियो के लिए पात्रो की अलग अलग व्यवस्था नही होती है। पात्र सबके लिए एक ही होते हैं। होटलो मे इस बात की सम्भावना है कि जिस पात्र मे विप्र जी भोजन कर रहे हो ठीक उसके पूर्व कोई मेहतर उसमे भोजन कर गया हो।

(4) **जाति भोज की प्रथा प्रभावित** — जातियो मे सस्कारो के अवसर पर जाति भोज आदि दिये जाते थे। इन जाति भोजो मे केवल अपनी जाति के लोग शामिल किए जाते थे। शहरी समाज मे जातिभोज की प्रथा मिट सी गयी है। यहॉ बच्चे की वर्षगॉठ या मुण्डन के अवसर पर जाति के लोगो को आमन्त्रित करने के साथ हाकिमो और अफसरो को जरूर बुलाया जाता है (चाहे यह अफसर घोर नीची जाति के क्यो न हो) क्योकि उनकी कृपा पाने से नौकरी मे तरक्की हो सकती है। इस भोज मे दूसरी जाति के अपने इष्ट–मित्रो को बुलाना भी स्वाभाविक ही है क्योकि इष्ट–मित्र तो सुख दु ख मे भाग लेने वाले होते है।

(5) **छुआछूत के विचार का अन्त** — सामाजिक स्पर्श और मिलन जुलन सबधी नियम जाति का अपरिहार्य अग हैं। छुआछूत की भावना जाति का प्रबल तत्त्व है। औद्योगीकरण से छुआछूत के विचार को बहुत बडा धक्का लगा है। कारखानो मे जाति के आधार पर मजदूरो की नियुक्ति नही होती है। वहॉ तो रुचि और कार्य कुशलता के आधार पर मजदूर नियुक्त किये जाते है। फैक्ट्रियो का कार्य भी कुछ ऐसा है कि मजदूरो को अलग–बगल काम करना पडता है। इससे छुआछूत का भाव दूर हो जाता है। सविधान मे भी छुआछूत के अन्त की घोषणा की गई है।1955 मे पार्लियामेट ने छुआछूत उन्मूलन सबधी नियम बनाकर छुआछूत को समाप्त नही कर दिया बल्कि छुआछूत का विचार फैलाने वाले और छुआछूत का व्यवहार करने वाले व्यक्तियो के लिए दण्ड की व्यवस्था का भी प्राविधान कर दिया है। इस अधिनियम ने अछूतों की समस्त निर्योग्यताओ

और असुविधाओ को समाप्त कर दिया है। जीविका के समस्त साधन सबके लिए समान रूप से उपलब्ध है। किसी भी रोजगार को अपनाकर व्यक्ति जीवनयापन कर सकता है। किसी भी रोजगार पर अब जाति की बपौती नही है।

(6) **शहरी एव औद्योगिक समाजो मे जातियॉ प्रभावक नही हैं—** नगर और कारखानो का प्रभाव जाति के बन्धन समाप्त करने मे बहुत सक्षम है। किग्सले डेविस ने ठीक ही कहा है कि बडे बडे शहरो मे वहॉ की घनी आबादी धर्मनिरपेक्षता दिन प्रतिदिन की परिवर्तनशीलता गतिशीलता और व्यक्ति की अज्ञातनामिता के कारण जाति व्यवस्था कारगर नही हो पाती[2]। यह सही है कि जाति व्यवस्था के कुछ प्रतिबन्ध औद्योगिक समाज मे टूट रहे है परन्तु इसका प्रभाव स्थायी नही रहता। मजदूर लोग काम से अवकाश पाकर अपने गॉवो को लौट आते है और वहॉ जाकर वे फिर से जाति व्यवस्था के नियमो का पालन करने लगते है। जाति के नियमो को मानने की प्रथा और भावना इतनी बलवती होती है कि वह लोगो के लिए जीवन के दोहरे मानदण्डो की सृष्टि कर देती है[3]।

(7) **अन्तर्विवाह की प्रथा अप्रभावित** — जातियो मे विवाह के बारे मे भी प्रतिबन्ध मिलते है। विवाह सबधी जातीय नियम बहुत कठोर हैं। परम्परागत व्यवसाय छुआ—छूत जल ग्रहण करने और खाने के नियम तथा मिलन—जुलन साम्बन्धी प्रतिबन्ध वर्तमान परिस्थितियो मे जातियो से बहुत तेजी से विलुप्त हो रहे है परन्तु विवाह प्रतिबन्ध अभी भी ज्यो के त्यो है। अन्तर्विवाह जाति व्यवस्था की ऐसी विशेषता है जिसका उल्लघन करने के लिए कुछ पढे लोग पारस्परिक प्रेम के आकर्षण की वजह से तैयार हो जाते हैं[4]। एक जाति के सदस्य अब भी अपनी जाति मे ही विवाह करते है। भिन्न जातीय विवाहो का प्रचलन अभी नाम मात्र को है। समाज मे उच्च सामाजिक आर्थिक स्थिति वाले कुछ लोग भिन्न जातीय विवाह कर लेते हैं परन्तु ऐसे लोगो की सख्या भी बहुत कम है। घुर्ये ने अपनी पुस्तक कास्ट क्लास एण्ड अकूपेशन मे उल्लेख किया है कि बम्बई मे उन्हे अनेक ऐसे उदाहरण मिले है जहॉ युवा पीढी के लोगो ने भिन्न जातीय विवाह (inter caste marriages) किये हैं। इनमे से अधिकाश ऐसे भिन्न

---

२ किग्सले डेविस का यह विचार डा० नर्मदेश्वर प्रसाद की जाति व्यवस्था नामक पुस्तक से उद्धृत किया गया है।

3 Ghurye, G S Caste Class & Occupation Papular Book Depot, Bombay 7, October1961, Page, 202-203

4 The endogamous nature of caste has remained almost the same with this difference that whereas formerly marriage out side one s caste was not to be even thought of, today many educated young men and women are prepared to break through the bonds of caste if mutual love or attraction demands it Ghurye, G S caste class & occupation Popular Book Depot. Bombay 7, October1961, P 204

जातीय विवाह है जिनमे स्त्री पति से निम्न जाति की थी। जहाँ तक पुरानी पीढी के लोगो की बात है बिना किसी अतिशयोक्ति के यह कहा जा सकता है कि उनमे सामाजिक सुधार की चर्चा के बावजूद भी भिन्न जातीय विवाह के विषय मे प्रगतिशील विचारो का विकास नही हो पाया है। इसलिए जब वृद्ध लोग विवाह तय करते है तो अपनी जाति से बाहर विवाह करने की बात कभी नही सोचते। विवाह के क्षेत्र मे जाति का प्रभाव इतना प्रबल है कि व्यक्ति जाति से बाहर विवाह करने का साहस ही नहीं करता। कुछ व्यक्ति जो भिन्न जातीय विवाहो को करना भी चाहते है वे ऐसे विवाहो के अप्रचलन के कारण ऐसा नही कर पाते क्योकि वे इस क्षेत्र मे पहल कर अकेले नक्कू बनना पसद नही करते। उनका तर्क है कि जब सब लोग भिन्न जातीय विवाह करने लगेगे तो हम भी करने लगेगे। भिन्न जातीय विवाहो के अप्रचलन के कारण ऐसा करने से लोग झिझकते है। बहुत सी उचित बातो का कार्यान्वयन अप्रचलन के कारण नही हो पाता है। और बहुत सी अनुचित रीतियाँ प्रचलन के बल पर चलती रहती है। उदाहरणार्थ बाल विवाह प्रथा मे औचित्य प्रचलन का पुट बहुत कम है फिर भी ऐसे विवाह समाज मे भिन्न जातीय विवाहो (intercaste marriages) की अपेक्षा कही अधिक मात्रा मे होते है। अगर जाति को खत्म करना है तो सरकार को चाहिए कि भिन्न जातीय विवाहो को प्रचलित करने के लिए कुछ कदम उठाये। इसके लिए उन लोगो को सरकारी नौकरी मे प्राथमिकता देने और आर्थिक सहायता देने के प्रलोभन की व्यवस्था करे जो अपनी जाति से भिन्न दूसरी जाति मे विवाह करे। जब तक कोई ऐसा ठोस कदम नही उठाया जाता तब तक भिन्न जातीय विवाहो की प्रथा नही पड सकती और यदि जाति का अन्तर्विवाही नियम भग नही होता तो जातियाँ नष्ट नही हो सकती।

निष्कर्ष — उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जाति के सभी प्रमुख तत्त्व लगभग बदल गये है। केवल विवाह सम्बन्धी क्षेत्र मे जाति के नियम अब भी काफी कठोर और प्रभावशाली बने हुए हैं। यह सच है कि सुधार आन्दोलनो स्वतत्रता समानता आदि के विचारो नागरीकरण औद्योगीकरण बढते हुए यातायात के साधनो सवैधानिक व्यवस्थाओ और प्रजातान्त्रिक मूल्यो के कारण समय–समय पर जातियो के पारस्परिक सम्बन्धो मे परिवर्तन हुए है। जाति के लक्षणो मे परिवर्तन तो हुए है परन्तु जातियाँ तो अब भी विद्यमान हैं। दूसरे शब्दो मे जाति मे कोई अन्तर नही आया है। जातियाँ आज भी ज्यो की त्यो कायम हैं। इस जाति–भेद को राष्ट्रीयता भी न मिटा सकी।

जाति का भविष्य — जाति व्यवस्था मे व्याप्त ऊँच–नीच की भावना छुआछूत विशेषाधिकार और निर्योग्यताओ से प्रभावित होकर कुछ विद्वान इसे समूल नष्ट करने के पक्ष मे हैं। कुछ लोग जैसे महात्मा गाँधी वर्ण व्यवस्था के पुन लागू करने के पक्ष मे थे। कुछ लोग जैसे डी एन मजूमदार और मदन इस व्यवस्था के बने रहने देने के पक्ष मे है। इन तीनो मतो मे अन्तिम मत ही ठीक

और व्यावहारिक प्रतीत होता है। वर्ण व्यवस्था को पुन लागू करने मे चार वर्णो के अन्तर्गत सभी जातियो को रखना होगा। किस आधार पर इन जातियो को चार कोटियो के अन्तर्गत रखा जाय इसका उल्लेख महात्मा गॉधी जी ने नही किया था। लेकिन महात्मा गॉधी जी चूकि जन्म और वशानुक्रमण पर बल देते हुए once born a Brahman always Brahman के मत का समर्थन किया था। इसलिये आपने जातियो को उनके उच्च समूहो मे जन्म के आधार पर रखने की बात की होगी। यदि जन्म के आधार पर सभी जातियो को चार वर्णों मे रखा जायगा तो निस्सदेह जातियो मे महान् सघर्ष होगा। इस विषय को लेकर भी मतभेद होगा कि किन जातियो को तीन उच्च वर्णों मे से किसी एक मे रखा जाय। यदि इस विषय पर कोई सौहार्द्रपूर्ण समझौता हो भी जाय तो अछूत वर्गों के बारे मे क्या होगा ? गॉधी जी अस्पृश्यता के कटटर विरोधी थे और वे अछूत जातियो को कोई न कोई आदर सूचक पद अवश्य प्रस्तावित करते। उन्हे कहॉ स्थान दिया जाता ? जिस भी वर्ग मे इन्हे रखा जाता वही वर्ग सख्त मुखालिफत करता। अत वर्ण व्यवस्था को फिर से लागू करने का विचार असतोषजनक है।

अब जाति व्यवस्था के समूल नष्ट हो जाने के विषय पर विचार करना है। प्रश्न यह हे कि क्या सुदूर भविष्य मे जातियॉ समाप्त हो जायेगी ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर देना कोई आसान काम नही है। इस सम्बन्ध मे यह तो निश्चित रूप से कहा जाता है कि जनतात्रिक समाज मे जातियो का पनपना मुश्किल है। सरदार के एम पणिक्कर अपनी पुस्तक कास्ट एण्ड डेमोक्रेसी' मे भविष्य मे जाति के स्थान पर जाति से भिन्न व्यवस्था बनने की आशा व्यक्त करते है। आपका कथन है 'एक बात निश्चित है हिन्दू समाज ऐसे पात्र मे है जो पिघल रहा है। वह धातु जो सदियो की आज्ञापालकता के कारण कठोर हो गयी थी केवल किसी असाधारण ताप द्वारा पिघल सकती है। लेकिन यह तो पिघल रही है जब पिघली हुई धातु पुन ठोस होगी तब जाति और प्रजातत्र मे विरोध नही होगा। सामाजिक प्रथकता (Social exclusion) और जन्म पर आश्रित असमानता (inequality based on birth) मिट जायेगी। कोई श्रेष्ठ और पवित्र वस्तु इसका स्थान लेगी और उसी पर भारत का भविष्य निर्भर करेगा[5]। मेरे विचार से सुदूर भविष्य मे भी जातियॉ समाप्त नहीं होंगी। हॉ यह अवश्य है कि उनमे स्पर्श–वर्जन छुआछूत और विशेषाधिकार तथा निर्योग्यताओ के लिए कोई स्थान नही होगा। जाति तत्त्व भारतीय समाज मे बहुत प्रबल है इसलिए जातियो के मिटाने का जितना अधिक प्रयास किया जाता है उतना ही अधिक जातियों के सगठन दृढ होते जाते हैं[6]। हिन्दू महासभा कायस्थ महासभा और दलित जाति संघ आदि संगठन जाति को सबल बनाते हैं। जातीय–भावना

5- Panikkar, K M Caste & Democracy page 89,

6- 'One feature of Hindu Society during the last thirty or forty years has been the marked tendency for every caste to form its own association comprising all members of the caste speaking the same language'-Ghurye Caste, Class and Occupation page 206

लोगो की रग—रग मे समाई हुई है। जाति के प्रति अटूट श्रद्धा जिसे जातिवाद (casteism) कहा जाता है जातियो को कैसे मिटने देगी। हमारे राजनैतिक और सामाजिक जीवन मे जाति की जडे घुसी पडी है। गॉव के नेतृत्व से लेकर केन्द्र सरकार तक का नेतृत्व जाति से अप्रभावित नही है। जाति के आधार पर इलेक्शन लडे जाते है । राज्य मन्त्रिपरिषद् के मन्त्रियो के चुनाव मे जाति का ध्यान रखा जाता है[7]। इसके अलावा जब तक भिन्न—जातीय विवाह (intercaste marriages) बडे पैमाने पर नही होने लगते जाति मिटाने की बात एक मिथ बनी रहेगी। जहॉ तक प्रजातत्र और जाति के सैद्धातिक विरोध के कारण दोनो मे से एक रहने का प्रश्न है जाति रहेगी प्रजातत्र चाहे रहे या न रहे। अगर प्रजातत्र रहता है तो जातितत्र बनकर रहेगा। जहॉ तक भोजन सम्बन्धी निषेधो का प्रश्न है सैद्धातिक रूप से सभी इसके विरुद्ध है लेकिन अगर किसी को शूद्र या मेहतर के साथ खाने को कहा जाय तो नाक भौह सिकोडने लगेगा ओर इसके लिए राजी नही होगा। कुछ लोग अवश्य इतने साहसी और दृढ है कि वे मेहतर के साथ भी खा सकते है लेकिन इनकी सख्या तो शायद अभी हजारो मे एक होगी। फिर जातियॉ मिटे भी तो कैसे ? इन परिस्थितियो के बावजूद भी भोजन और जल सम्बन्धी निषेध काफी प्रभावित हुए है और होगे। भविष्य मे इनके बराबर क्षीण होते रहने की आशा है। जातियो मे से दोषो के निकल जाने से उनके रहने मे कोई हर्ज नही है क्योकि अगर हाथ की कोई उॅगली विषाक्त हो जाती है तो उॅगली का कटवा देना ही श्रेष्ठ होगा न कि इसके लिये पूरे हाथ को[8]।



7- 'The principle of caste is so firmly entrenched in our political and social life that every one including the leaders have accepted tacitly the principle that, in the Provincial Cabinet at any rate, each major caste should have a minister, In the first popular cabinet in Mysore State, heated by Sri K C Reddy, not only were the ministers chosen on a caste basis but each had a secretary from his own sub-sub-sub caste'- Srinivas M N Caste in Modern India and other Essays Asia Publishing House, 1962 page 6

8- D N Majumdar & T N Madan, Social Anthropology (1967), page 238

अध्याय11

हिन्दू सस्कार

सस्कार शब्द का अर्थ—सस्कार का अर्थ है शुद्ध करना परिष्कार करना उज्ज्वल बनाना पवित्र करना योग्य बनाना उपयोगी बनाना आदि। हिन्दू ऋण के भार से बोझिल है ऐसी मान्यता है। ऋणी रहकर उसे मुक्ति नही मिल सकती अत जीवन काल मे ऋणो (ऋषि ऋण देव ऋण पितृ ऋण और मनुष्य ऋण) से उऋण होना आवश्यक है और ऋण निस्तार का साधन यज्ञ माना गया है। यज्ञो को सम्पन्न करके मनुष्य ऋण चुका सकता है। याज्ञिक क्रियाये सम्पन्न कराने के लिए मनुष्य की बाह्य और आभ्यन्तर शुचिता (पवित्रता) पर बल दिया गया। मनुष्य को अशौच से विरत करने और पवित्र बनाने के लिए सस्कारो का आयोजन किया गया । सस्कारो का सबध बालक के गर्भ मे स्थित होने से लेकर जीवन पर्यन्त तक जोड दिया गया। मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन के साथ सस्कार नत्थी करने का उद्देश्य यह है कि बालक पग–पग पर अनैतिक भावनाओ और अशुचि विचारो को त्यागता चले और सदाचार सद्गुणो और नैतिक विचारो का वरण करे। मनु ने सस्कार शब्द के स्थान पर शरीर सस्कार शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त समझा है। आपके विचार से प्रत्येक व्यक्ति गर्भाशय और बीज के दोषो से अशुद्ध रहता है अत उसकी शुद्धि के लिए आप शरीर सस्कारो का विधान करते है।

कोई भी वस्तु अपने प्राकृतिक रूप मे ग्राह्य नही होती इसलिए उपयोग मे लाने योग्य बनाने के लिए उसे काटना छॉटना छीलना तराशना सशोधित करना और परिष्कृत करना पडता है। उदाहरण के लिए अन्न जिस रूप मे खेतो मे खडा होता है उसी रूप मे वह खाने योग्य नही होता है। उसे खाने योग्य बनाने के लिए अन्न का सस्कार करना पडता है। अन्न को साफ करना कूटना, पीसना आदि ही अन्न सस्कार है। खान से निकाले गये खनिज पदार्थ जैसे खान से निकलते है शुद्ध नही होते उनमे अन्य अनेक तत्त्वो का समावेश रहता है इसलिए खान से निकले हुए पदार्थों को शुद्ध बनाने के लिए शोधक कारखाने है जिनमे इन पदार्थों को शुद्ध बनाया जाता है। सोने की ईंट जिस रूप मे,खान से निकलती है उसी रूप मे आभूषण बनाने के योग्य नही होती। पहले इसका सस्कार होता है और सस्कृत (purified) हो जाने के बाद ही वह इस लायक बनती है कि उससे स्वर्णाभूषण जैसे कगन और कठहार आदि बनाये जा सके। मनुष्य भी जन्म से सामाजिक प्राणी नही होता। उसमे

कुछ पाशविक प्रवृत्तियॉ होती है। इन पाशविक प्रवृत्तियो के निराकरण क लिए और उसे समाज के अनुरूप बनाने के लिए उसका सस्कार अति आवश्यक है। मनुष्य का सामाजीकरण करना भी सस्कार का उद्देश्य है। मानव की जन्मजात कमियो को दूर करना और उसे किसी अर्थ का बनाना ही सस्कार है (सस्कारो नाम स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्य कस्यचिदर्थस्य–जैमिनि पूर्वमीमासा सूत्र 3 I 3)।

तन्त्रवार्तिक मे सस्कार को योग्यता प्रदान करने वाली क्रिया के अर्थ मे परिभाषित किया गाया है–यथा योग्यता चादधाना क्रिया सस्कारा इत्युच्यन्ते[1]। सस्कार के उद्भट व्याख्याता राजबलि पाण्डेय का सस्कार के अर्थ के विषय मे निम्नलिखित कथन ध्यान देने योग्य है।

'सस्कार शब्द के साथ विलक्षण अर्थों का योग हो गया है जो इसके दीर्घ इतिहास क्रम मे इसके साथ मिल गये है। इसका अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओ तथा व्यक्ति के शारीरिक मानसिक तथा बौद्धिक परिष्कार के लिए किये जान वाले अनुष्ठानो से है जिनसे वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य हो सके। किन्तु हिन्दू सस्कारो मे अनेक आरम्भिक विचार धार्मिक विधि विधान उनके सहवर्ती नियम तथा अनुष्ठान भी समाविष्ट है जिनका उद्देश्य केवल औपचारिक वैदिक सस्कार ही न होकर व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व का परिष्कार शुद्धि और पूर्णता भी है।

साधारणतया यह समझा जाता था कि विधिपूर्वक सस्कारो के अनुष्ठान से व्यक्ति मे विलक्षण तथा अवर्णनीय गुणो का प्रादुर्भाव हो जाता है। सस्कार शब्द का प्रयोग इस सामूहिक अर्थ मे ही होता था[2]।

सस्कारो की सख्या– सख्या के प्रश्न को लेकर विद्वानो मे मतैक्य नही है। कुछ विद्वान षोडस सस्कारो की बात करते है तो अन्य चालीस अथवा अडतालीस। अत यहॉ पर हम अपने को केवल हिन्दुओ के प्रमुख सस्कारो तक ही सीमित रखेगे। कुछ सस्कार बालक के जन्म के पूर्व ही सम्पन्न किए जाते है इन्हे प्राग् जन्म सस्कार कहा जा सकता है। प्राग् जन्म सस्कारो मे गर्भाधान पुर्सवन (पुत्र सतान उत्पन्न हो इसके लिए आयोजित सस्कार) और सीमन्तोन्नयन (आसुरी शक्तियॉ कही गर्भ मे स्थित बालक को खा न जावे इसके लिए आयोजित सस्कार) प्रमुख हैं। प्राग् जन्म सस्कारो का उद्देश्य आसुरी शक्तियो को प्रसन्न कर गर्भस्थ सतान को उनके अशुभ प्रभावो से बचाना और शुभ प्रभावो को उस पर पडने देना है। कुछ सस्कार ऐसे है जिन्हे हम बाल्यावस्था के सस्कार कह सकते है। वाल्यावस्था के सस्कारो मे निम्नाकित प्रमुख है–

(1) जातकर्म (birth) (2) नामधेय (3) अन्नप्राशन (4) चौल अथवा चूडाकरण।

(1) **जातकर्म**–शिशु का जन्म होने पर अशौच लग जाती है। इसलिए

---

1 तन्त्रवार्तिक पृष्ठ 1078 (हिस्ट्री आव् धर्मशास्त्र वाल्यूम2 प्रथम भाग पृ 190 पर उद्धृत)

2 पाण्डेय राजबली हिन्दू सस्कार पृ 10।

औपाशन (यज्ञाग्नि) को घर से अलग कर सूतिकाग्नि जलायी जाती है। अशौचकाल तक सूतिकाग्नि ही प्रज्ज्वलित की जाती है। जच्चा के पाक होने पर औपशन पुन प्रज्ज्वलित की जाती है। यह सस्कार प्रधानत मनुष्य की आत्माभिव्यक्ति के लिए आयोजित है। मानव के हृदय मे शोक और हर्षोल्लास के भाव विद्यमान होते है। बालक का जन्म अत्यन्त हर्ष और आनन्द का विषय है। जातकर्म सस्कार नाभिच्छेदन के पूर्व सम्पन्न होता था। जात कर्म सस्कार के मेधाजनन आयुष्य और बल क्रमश प्रमुख कृत्य थे। मेधाजनन के कृत्य मे पिता सोने की शलाका (छडी) से बालक को मधु और घी चटाता था और इस प्रकार उसके मेधावी होने की कामना करता था। आयुष्य के कृत्य मे बालक दीर्घजीवी होने के लिए पिता उसके कानो मे मत्र फूँकता था। बल के कृत्य मे पिता शिशु के वीरतापूर्ण जीवन के लिए प्रार्थना करता था। इन तीनो कृत्यो के सम्पन्न हो जाने के पश्चात् नालच्छेदन का कार्य किया जाता था और इसके पश्चात शिशु को नहलाकर पहली बार उसे माता का स्तन–पान कराया जाता था। सस्कार समाप्त होने पर ब्राह्मणो को दान दक्षिणा दी जाती थी।

(2) **नामधेय**—इस सस्कार मे बालक का नाम रखा जाता था। बालक और बालिकाओ के नाम रखने मे कतिपय सिद्धान्तो का अनुसरण किया जाता था। मनु के अनुसार बालक का नाम ऐसा होना चाहिए जिससे उसके वर्ण का बोध हो जाय अर्थात नाम वर्ण सूचक होना चाहिए। ब्राह्मण का नाम शर्मान्त होना चाहिए। क्षत्रिय का बल सूचक और वैश्य का धन सूचक' तथा शूद्र का नाम उसके परिचर्या के कर्तव्यो का सूचक होना चाहिए। बालिकाओ का नाम आकारान्त अथवा ईकारान्त होना चाहिए तथा उच्चारण मे मधुर और कोमल होना चाहिए। नामकरण एक सामाजिक आवश्यकता थी। सम्बोधित करने के लिए तथा व्यक्ति व व्यक्ति के बीच भेद करने के लिए बालक और बालिका का नाम रखना नितात आवश्यक था। हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र और तैत्तिरीय सहिता के अनुसार बच्चे के दो नाम रखे जाने चाहिए। हिन्दू समाज मे दो नाम रखने की प्रथा भी है। पहला नाम नक्षत्र सज्ञक होता है। इसे 'राशि' का नाम पर भी कहते है। दूसरा नाम घरेलू होता है जिसका प्रयोग बच्चे को सम्बोधित करने के लिए होता है। राशि का नाम गुप्त रखने की प्रथा है क्योकि राशि के नाम जादू टोने का चमत्कार आसानी से दिखाया जा सकता है । जादू टोने का असर शिशु पर न पडे इसलिए उसके राशि के नाम को छुपाये रखते थे और घरेलू नाम से उसे पुकारते थे। आज भी जब विज्ञान की वाछित प्रगति से जादुई विश्वास मे पर्याप्त कमी आ गयी है कुछ कटटर और धार्मिक हिन्दू परिवारो मे राशि का नाम गुप्त रखा जाता है।

यह सस्कार प्राय बालक के जन्म के पश्चात् दसवे या बारहवें दिन सम्पन्न किया जाता था। नामकरण् सस्कार की बिधि का वर्णन गृह्य सूत्रो मे नही है।

(३) **अन्नप्राशन**—इस सस्कार मे बालक को पहली बार पका हुआ भोजन दिया जाता है। यह सस्कार बालक के जन्म के बाद छठे मास मे किया जाता है। ज्यो--ज्यो बालक बडा होता जाता है त्यो—त्यो उसकी सम्यक् वृद्धि के लिए माता के दूध की पर्याप्तता मे कमी आती जाती है। अत माता और शिशु दोनो के कल्याण को ध्यान मे रखते हुए माता का दूध छुडाना तथा दूध के स्थान पर अन्य खाद्य की व्यवस्था करना आवश्यक प्रतीत हुआ। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सभवत इस सस्कार का आयोजन किया गया होगा। अन्नप्राशन मे दिया जाने वाला अन्न चाहे जिस प्रकार का हो परन्तु लघु सुपाच्य तथा शिशु के लिए स्वास्थ्यवर्धक हो । आश्वलायन अन्न की जगह मास से अन्नप्राशन करने की आज्ञा देते हैं । आपका मत है कि बच्चे को पुष्ट बनाने हेतु बकरे का मास, दे और आत्म—तेज प्राप्ति के लिए तीतर का मास दे । पारस्कर प्रवाहमयी वाणी गति और दीघार्यु के लिए क्रमश भारद्वाजी पक्षी का मास मछली और आति का मारा देने का विधान करते है । बौद्ध धर्म के अभ्युदय के पूर्व तक भले ही कुछ ऐसे परिवार रहे हो जहॉ अन्न के स्थान पर मास देने की रस्म रही हो लेकिन बौद्ध धर्म के प्रभाव से अहिसा का विचार अधिकाधिक दृढ प्रतीत होता गया और मासाहारी शाकाहारी सभी परिवारो मे इस अवसर पर चावल का माड दिया जाने लगा जिससे इस सस्कार का लौकिक नाम 'मडचटना' भी पड गया। आजकल अधिकाशत अन्नप्राशन मे दिया जाने वाला भोजन 'खीर (क्षीरपाक) होती है। ब्राह्मण भोजन कराने के साथ सस्कार की समाप्ति विहित है।

(4) **चौल अथवा चूडाकरण**—यह सस्कार उत्तर भारत की गामीण जनता मे मुडन सस्कार के नाम से प्रचलित है। शिर को स्वच्छ रखने के उद्देश्य से बालच्छेदन अति आवश्यक था । चौल सस्कार से दीघार्यु प्राप्त होती है और उसके सम्पन्न न करने पर आयु क्षीण होती है ऐसा मत प्रचलित था। दीर्घायु और कण्याण की प्राप्ति इस सस्कार का उद्देश्य था। यह सस्कार जन्म के बाद प्रथम वर्ष के अन्त मे या तीसरे वर्ष सम्पन्न करने का विधान गृह्यसूत्र (2 1 1 2) मे उल्लखित है। यह सस्कार उस समय सम्पन्न किया जाता था जब सूर्य उत्तरायण मे हो।

चूडा रखना इस सस्कार का प्रमुख अग है जैसा कि सस्कार के नाम से ही स्पष्ट है। शिखा या चाटी की सख्या कुल प्रथा पर निर्भर थी । यही शिखा या चोटी कालान्तर मे हिन्दुओ का एक चिन्ह बन गयी। शिखा तथा यज्ञोपवीत द्विजो के अनिवार्य बाह्य चिन्ह हैं। इस सरस्कार में नाई बालक के बालो को भिगोकर उन्हे मुलायम बनाकर सिर से उतारता है। इन उतरे हुए बालो को कुल की परम्परा के अनुसार गोबर या आटे के पिण्ड मे लपेट कर या तो किसी मन्दिर के पीछे रख दिये जाने या तालाब मे फेक दिए जाने अथवा गौशाले में गाड देने का विधान था। गभुआरे (गर्भ के) बालों पर जादू या टोना का बुरा प्रभाव न पडे इसी से मुडन सस्कार मे बालक के उतरे हुए बालो की उक्त रीति से व्यवस्था

करने का चलन हुआ होगा।

इस अवसर पर इष्ट मित्रो तथा बन्धु बान्धुओ को भोज देने का रिवाज है। इस सस्कार का भोज अधिक उदारता से (दिल खोलकर) होता है क्योकि तीन–चार वर्ष पूरे होने पर शिशु के जीवित रहने की आशा अधिक दृढ होने लगती है। जिससे माता–पिता की खुशी मे वृद्धि होती है। भोज के माध्यम से अपनी इस खुशी मे वे औरो को भी शामिल करते है। पॉच शताब्दी पूर्व मृत्यु दर अधिक थी। आज से पॉच सौ साल पहले दुनिया मे दस बच्चे पैदा होते और नौ बच्चे मरते थ।[3] फिर ऐसी स्थिति मे बच्चे के जीवित रहने की आशा कैसे दृढ हो सकती थी । तीन चार वर्ष पूरे होने पर उसके जीवित रहने की आशा बॅध जाती थी।

यौवन कालीन सस्कार—बाल्यावस्था के सस्कारो के अतिरिक्त कुछ सस्कार ऐसे है जिनका सबध बालक की यौवनावस्था से है। उपनयन और विवाह यौवनावस्था के सस्कार है।

उपनयन—भारतीय समाज मे एक युवा को विशेष समारोह के द्वारा समाज मे पदार्पण कराया जाता था। हिन्दू बालक का उपनयन के पूर्व का जीवन अनियमित अमर्यादित तथा उद्देश्य विहीन होता था क्योकि खाने पीने और व्यवहार आदि करने के मामलो मे वह इस समय अपनी इच्छा का अनुगमन करता था। उपनयन के बाद जीवन उत्तरदायित्व का जीवन था। बालक को गहरे आन्तरिक स्तर पर जीवित रहना पडता था। उपनयन हो जाने के बाद उसे मर्यादित और जिम्मेवारी का जीवन बिताना पडता था। इसीलिए उपनयन को बालक का दूसरा जन्म माना जाता था। उपनीत हुए बालको को 'द्विज' कहा जाता था। द्विज शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'दो बार जन्म लेने वाला'। अत द्विज वह है जिसका जन्म दो बार हुआ है। यही कारण है कि पक्षियो तथा दॉतो को द्विज कहा जाता था ब्राह्मण " 'वैश्य तीनो को द्विज कहा जाता था क्योकि ये तीनो उपनयन के अधिकारी थे और उपनयन द्वितीय जन्म के समान था।

उपनयन का अर्थ — उपनयन 'उप और 'नयन' दो शब्दो के योग से बना है। उप का अर्थ है समीप। नयन का अर्थ है ले जाना' । अत उपनयन का अर्थ हुआ पास (समीप) ले जाना। लेकिन प्रश्न है—किसके समीप ले जाना। इसका उत्तर है आचार्य के पास । अत उपनयन का सीधा और सरल अर्थ हुआ अभिभावको द्वारा बालक को शिक्षा दिलाने के लिए आचार्य के पास ले जाना। प्रारम्भ मे उपनयन एक सीधा और सरल कृत्य था। कालान्तर मे इसमे अन्य कृत्यो का भी समावेश हो गया जिससे उपनयन का अर्थ हो गया वह कृत्य जिसके द्वारा बालक आचार्य के समीप ले जाया जाय (उप समीपे आचार्या दीना वटोर्नीतिर्नयनम् प्रापणमुपनयनम्)।

उपनयन सम्पन्न करने की उचित आयु— बालक का उपनयन

3—भगवान् श्री रजनीश समाजवाद अर्थात् आत्मघात्, पृष्ठ 43।

किस आयु मे हो यह विषय विवादग्रस्त है। इस मसले पर विद्वानो म मतभेद है। अधिकाश विद्वानो द्वारा स्वीकृत मत यह है कि ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य बालको का उपनयन क्रमश आठ ग्यारह और बारह वर्ष की आयु मे सम्पन्न होना चाहिए। यदि उपरोक्त उल्लिखित आयु मे तीनो वर्णो के कुमारो का उपनयन सस्कार न हो पावे तो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य बालको के लिए क्रमश सोलह बाइस और चौबीस वर्षों तक यह नही कहा जा सकता है कि इनके उपनयन का समय निकल गया है। अत ब्राह्मण का उपनयन आठ वर्ष से सोलह वर्ष के बीच सम्पन्न हो जाना चाहिए। क्षत्रिय का ग्यारह से बाइस वर्ष के अन्दर और वैश्य का बारह से चौबीस वर्ष के भीतर उपनयन सस्कार सम्पन्न हो जाना चाहिए।

उचित समय— हर समय उपनयन सस्कार के लिये उपयुक्त नही माना जाता था। उपनयन के लिये कोई शुभ समय नियत करना पडता था। साधारणत उपनयन सस्कार उस समय नही सम्पन्न किया जाता था जब शुक्र नक्षत्र सूर्य के इतना निकट होता है कि दिखाई नही पडता। अत शुक्रास्त होने पर उपनयन सस्कार नही हो सकता। वसत ग्रीष्म और शरद ऋतुएँ क्रमश ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के लिए निश्चित थी। उपनयन के लिए उचित समय निर्धारित करने मे तिथि दिन और नक्षत्रो का ध्यान रखा जाता था।

तिथि— तिथियो मे प्रतिपदा चौथ सप्तमी अष्टमी नवमी त्रयोदशी चतुर्दशी और पूर्णमासी को साधारणत उपनयन सस्कार न हो इस बात का प्रयत्न किया जाता है अर्थात् उपरोक्त तिथियो से बचने का प्रयास किया जाता है।

दिन—दिन सख्या मे सात होते है। बुधवार वृहस्पितिवार और शुक्रवार दिनो मे सर्वश्रेष्ठ हैं। रविवार औसत दर्जे का है। सोमवार सबसे कम उपयुक्त है। मगलवार और शनिवार वर्जित हैं।

नक्षत्र—नक्षत्रो मे हस्त चित्रा, स्वाति, पुष्य मृगशिरा पुनर्वसु श्रवण और रेवती उपनयन के लिए प्रशस्त माने जाते है।

उपनयन के कर्मकाण्ड अथवा विधि—मण्डप का निर्माण उपनयन का पहला कृत्य है। इस मण्डप का निर्माण सस्कार सम्पन्न होने के पूर्व किया जाता था। उपनयन के पूर्व रात्रि को बालक के शरीर पर पीत लेप किया जाता था और उसे निशापर्यन्त मौन रहने की आज्ञा दी जाती थी। पीत लेप और मौन रहने के कार्य गर्भ के वातावरण को उपस्थित करते थे। उपनयन के दिन प्रात काल उपनीत होने वाला बालक और उसकी माता साथ—साथ भोजन करते है। यह उपनयन का दूसरा कृत्य है। उपनयन के पश्चात् माता अपने पुत्र के साथ भोजन नही कर सकती थी ऐसा नियम था सम्भवत इसीलिए उपनयन होने के पूर्व माता का पुत्र के साथ भोजन का विधान रहा होगा। माता पुत्र के प्रति अपने स्नेह को साथ भोजन करके इस अवसर पर प्रगट करती होगी क्योकि उपनयन के बाद बालक दीर्घकाल के लिए माता से बिछुड जाता था और

गुरु क कुल मे जाकर रहता था। डा0 राजबली पाण्डेय का कथन है कि प्रात काल बालक को भोजन कराना इसलिये भी आवश्यक था कि उपनयन सस्कार अत्यत दीर्घ था। सस्कार के समय बालक भूख से पीडित न हो इसलिए उसे सस्कार शुरू होने से पूर्व ही भोजन करा दिया जाता था। माता के साथ भोजन हो जाने के पश्चात उपनीत होन वाले बालक के मित्रो को भोजन कराया जाता था।

मुण्डन और स्नान— भोजन के पश्चात बालक के माता पिता उसे मण्डप मे ले जाते थे । मण्डप के नीचे उसक बाल मूडे जाते थे। मुण्डन के पश्चात् उसे स्नान कराया जाता था। इस स्नान से बालक का मन और देह दोनो शुद्ध हो जाते थे।

स्नान के पश्चात बालक के शरीर का ढकने के लिए वस्त्रो की आवश्यकता पडती थी। उपनयन क अवसर पर बालक को दो प्रकार के वस्त्र प्रदान किये जाते थे।

(1) शरीर के अधोभाग को ढकने के लिए दिया जाने वाला वस्त्र।

(2) शरीर के ऊपरी भाग को ढकने के लिये दिया जान वाला वस्त्र।

प्रथम प्रकार के वस्त्रो को वासस और द्वितीय प्रकार के वस्त्रो को उत्तरीय की सज्ञा दी जाती है।

कौपीन— स्नान समाप्त होने पर बालक का पहले वासस् देने का प्रचलन था। कौपीन वासस का प्रसिद्ध रूप था। आचार्यों ने ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य कुमारो के अलग–अलग वर्ण (रग) और अलग–अलग पदार्थों से निर्मित वस्त्रो को देने का विधान किया है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य का वासस क्रमश पटसन (hemp) सन (flax) और अजिन (मृगचर्म) का बना हुआ होना चाहिए जबकि गोतम धर्मसूत्र के अनुसार विकल्प रूप मे सभी वर्णों के लिए सूत का वस्त्र विहित था। आश्वलायन गृह्यसूत्र (1 19 10) मे रगे वस्त्र दिये जाने का विधान है । ब्राह्मण के वस्त्र काषाय (Reddish-yellow) क्षत्रिय के माञ्जिष्ठ (dyed with madder) तथा वैश्य के हारिद्र (dyed with turmeric) होने चाहिए। वर्तमान समय मे सभी वर्ण के लोगो को हल्दी मे रगे हुए वस्त्र दिये जाते हैं।

मेखला— कौपीन के पश्चात् आचार्य बालक की कमर मे मेखला (girdle) बॉध देता था। मेखला का निर्माण पहले शायद कौपीन की सहायता के लिये हुआ था लेकिन बाद मे इसके साथ भी धार्मिक प्रतीकात्मकता जुड गयी। मनु की आज्ञा है कि ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य की मेखला क्रमश मूॅजघास मूर्वाघास और पटसन की बनी होनी चाहिए। बौधायन गृह्यसूत्र मे सभी के लिए मूॅजीमेखला का विधान है। मेखला तिहरे सूत्र से बनायी जाती है।

उपवीत सूत्र— मेखला धारण करने के पश्चात् ब्रह्मचारी को उपवीत सूत्र अथवा यज्ञोपबीत अथवा जनेऊ दिया जाता था। यह इस सस्कार का सबसे

प्रमुख कृत्य है। आजकल इसके महत्त्व का इसी स पता लगाया जा सकता है कि यह पूर उपनयन का प्रतिनिधित्व करता है आर इसी नाम से सम्पूर्ण उपनयन जाना जाता है। मनु के अनुसार (मनुस्मृति 2/44) ब्राह्मण को कपास का क्षत्रिय को सन का तथा वैश्य को भड के ऊन का उपवीत पहनना चाहिए। आजकल सभी वर्णों के लिए कपास का उपवीत विकल्प रूप से विहित है। उपनयन मे तीन सूत्र होते है जो उपवीत धारण करने वाले ब्रह्मचारी को ऋषिऋण देवऋण और पितृऋण से उऋण होने की याद दिलाते है। प्रत्येक सूत्र मे तीन लरे होती है जिन्हे भाजकर एक सूत्र का रूप दिया जाता है ओर पूरे उपवीत सूत्र मे नौ लरे होती हैं। इन लरो को तन्तु भी कहते है। ये नौ तन्तु अथवा लरे देवल के अनुसार नौ देवताओ— ओकार अग्नि नाग सोम पितृ प्रजापति वायु, सूर्य और सर्व देवता— का प्रतिनिधित्व करती है। तीनो सूत्र एक ग्रन्थि द्वारा परस्पर बाँध दिये जाते है। इस ग्रन्थि को ब्रह्मग्रन्थि कहते है। जब तक व्यक्ति ससार मे रहता है इरा उपवीत सूत्र के माध्यम स अपन मूल (ब्रह्म) स सम्बद्ध रहता है।

आचार्य ब्रह्मचारी को उपवीत सूत्र जो बाये कन्धे से लटकता रहता हे धारण कराते समय **'यज्ञोपवीत परम पवित्र प्रजापतेर्यत् सहज पुरस्तात्। आयुष्यमग्र प्रतिमुञ्च शुभ्र यज्ञोपवीत बलमस्तु तेज ।।'** नामक मत्र पढता है। इस मत्र मे बालक के आयुष्य, बल तथा तेज के लिए प्रार्थना की गयी है।

ब्रह्मचारी एक उपवीत सूत्र धारण करता है और गृहस्थ दो—एक स्वय के लिए दूसरा अपनी पत्नी के लिए।

अजिन— इसके बाद ब्रह्मचारी को अजिन दिया जाता है। पहले अजिन का उत्तरीय दने का विधान था। अजिन अरण्यवास का सूचक है। प्राचीन साहित्य से पता चलता है कि उपनयन के अवसर पर दिया जाने वाला उत्तरीय मृगचर्म होता था। जब आर्य वनवासी थे तब अजिन का वस्त्र दिये जाने का रिवाज होगा और जब वे कृषक हो गए तब ब्रह्मचारी को कपास का वस्त्र दिया जाने लगा। आजकल भी कान्यकुब्ज क्षेत्र मे मृगचर्म[4] जनेऊ के साथ पहनाया जाता है। ब्रह्मचारी जनेऊ तो धारण किये रहता है लेकिन अपना मृगचर्म आचार्य वापस ले लेता है।

दण्ड— उपनयन के अवसर पर ब्रह्मचारी को एक दण्ड धारण कराया जाता था। दण्ड यात्री का प्रतीक था। दण्ड प्रहरी का भी प्रतीक माना गया। ब्रह्मचारी को दण्ड देकर वेदो की रक्षा का कार्य उसके सुपुर्द कर दिया जाता था। कतिपय विद्वानो के अनुसार दण्ड का विधान लकडी तोडने, अँधेरे मे रास्ता तय करने अथवा गुरु की गायो की देख—रेख के लिए किया गया है। ब्रह्मचारी को अनुशासन मे रहने की याद दिलाने के लिए शायद दण्ड का आयोजन किया गया हो।

दण्ड किस वृक्ष का होना चाहिए और उसकी लम्बाई कितनी होनी चाहिए इस बात को लेकर विद्वानो मे मतभेद पाया जाता है। आश्वलायन गृह्य सूत्र (1 19 10) का कथन है कि ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य का दण्ड क्रमश पलाश उदुम्बर (गूलर) तथा बिल्व (बेल) की लकडी का बना होता था। कुछ विद्वानो के अनुसार बिना किसी वर्ण–भेद के उस वृक्ष का भी दण्ड बन सकता था जिसकी लकडी का प्रयोग यज्ञ मे होता था।

बालक के वर्ण–भेद से दण्ड की लम्बाई भी भिन्न–भिन्न होती थी। मनु के अनुसार ब्राह्मण का दण्ड इतना लम्बा होना चाहिए कि सीधा खडा करने पर वह वटु के सर तक क्षत्रिय का उसके मस्तक तक और वैश्य का उसकी नाक की नोक (tip of the nose) तक पहुँच जाय।

वर्तमान समय मे बालक को उपनयन के अवसर पर तो दण्ड धारण कराया जाता है परन्तु उपनयन के बाद वह दण्ड धारण नही करता है। जब तक कि किसी विशेष प्रयोजनवश उसका धारण करना आवश्यक न हो जाय।

सावित्री मत्र– सर्वपल्ली डा राधाकृष्णन् ने अपनी धर्म और समाज नामक कृति मे उपनयन सस्कार पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट घोषणा की है कि इसका सार पवित्र गायत्री मत्र सिखाने मे है। मत्र का अर्थ हे हम दैवीय प्रकाश की देदीप्यमान महिमा का ध्यान करते है वह हमारी बुद्धि को प्रेरणा दे ।[5] इसके बाद आचार्य ब्रह्मचारी के कान मे गायत्री मत्र फूँकता था। गायत्री मत्र एक प्रार्थना है जो सविता (सूर्य) से की गयी है जो सृष्टि का मूल उदगम और प्रेरक माना जाता है। सावित्री मत्र का उपदेश बालक के द्वितीय जन्म का सूचक था। सावित्री को नूतन माता और आचार्य को नूतन पिता माना गया। जिसे गायत्री मत्र कहा जाता हे वह गायत्री छद मे सावित्री मत्र ही है। आचार्य इस सावित्री मत्र का उपदेश ब्राह्मण को गायत्री छद मे क्षत्रिय को त्रिष्टुप छद मे और वैश्य को जगती छद मे अथवा तीनो वर्णो को गायत्री छद मे ही करता था।

हवन– इसके पश्चात् यज्ञिय अग्नि को प्रथम बार प्रदीप्त करने तथा उसमे आहुति डालने का कृत्य होम या हवन किया जाता था।

भिक्षा– हवन के बाद विद्यार्थी भिक्षा मॉगता था। उपनयन के दिन वह अपने घर वालो से भिक्षा मॉगता था। विद्या का अर्जन वटु की बुद्धि और जिज्ञासा पर निर्भर रहे न कि वित्तीय साधनो पर इसलिए राजा और रक सभी को भिक्षा मॉगने की आज्ञा दी गयी।

त्रिरात्र–व्रत– उपनयन–कर्म समाप्त होने पर विद्यार्थी तीन दिन तक कठोर सयम का पालन करता था, इसे ही त्रिरात्र–व्रत कहते थे। इस व्रत की अवधि मे खाट पर शयन दिन मे शयन मास और मद्य सेवन वर्जित है। आजकल त्रिरात्र–व्रत की प्रथा का अन्त हो गया है।

5 ओ३म् भूर्भुव स्व तत्सवितुर्वरेण्य भर्गोदेवस्य धीमहि धियो यो न प्रचोदयात्।

उपनयन का वर्तमान रूप– प्राचीन काल मे हिन्दुओ के जीवन मे इसका महत्त्वपूर्ण स्थान था। लोग उपनयन के नियमो का पालन करते थे और उपनयन इस बात का परिचायक था कि उपनीत बालक सयमित और कर्तव्यनिष्ठ जीवन बितायेगा। वर्तमान समय मे उपनयन का महत्त्व उत्तरोत्तर घटता चला जा रहा है और लोग उसे प्रथावश करते तो है लेकिन उनकी इसमे श्रद्धा घट रही है। आजकल पढे–लिखे नवयुवक जब यज्ञोपवीत को धारण करना ही भार समझते है तो उपनयन के नियमो का पालन क्या करेगे। प्रथा के भय से जब ये पढे–लिखे लोग शहर से अपने घर वापस जाते है तो जनेऊ धारण कर लेते है। कुछ विद्वान इस मत के समर्थक है कि समाज सुधारको द्वारा इस प्रथा के उच्छेद का प्रयत्न किया जाना चाहिए और उपनयन मे भोज आदि के रूप मे जो ब्राह्मण व क्षत्रियो का खर्चा होता है उसके अतिरिक्त भार से उन्हे बचाया जाना चाहिए। मेरे मत से उपनयन का उच्छेद समाज के लिए कदापि अच्छा नहीं होगा बल्कि उपनयन के नियमो को मनवाने के लिए उन पढे–लिखे लोगो को शिक्षा देनी चाहिए जो इसके नियमो का पालन नही करते हैं। आजकल अनुशासनहीनता बढ रही है मनुष्य सयम का जीवन नही बिताना चाहता तो क्या उसे इस बात के लिए छूट दी जानी चाहिए कि वह अनुशासनहीन रहे और समाज सुधारको द्वारा इस बात का प्रयास किया जाना चाहिए कि उन्हे अनुशासनहीन रहने दिया जाय। उपनयन चूँकि बालक को सयम का जीवन बिताने के लिए बाध्य करता है इसलिए इसका अन्त समाज के हित मे नही होगा। सयम से रहना सामाजिक जीवन की पहली शर्त है। अत उपनयन समाज के लिए वाछनीय है न कि अवाछनीय । मेरा विचार है कि उपनीत बालक अनुपनीत बालक से अधिक अनुशासित होता है भले ही वह उपनयन के नियमो का पालन न करता हो। हमारे समाज मे उपनयन का महत्त्व घटने का कारण है पाश्चात्य मूल्यो और जीवन तरीको का अन्धानुकरण। अन्धानुकरण एक बुरी चीज है। अनुकरण करना अच्छा है। अनुकरण दो प्रकार का होता है।1 विवेकपूर्ण अनुकरण और 2 अन्धानुकरण। विवेकपूर्ण अनुकरण वह अनुकरण है जिसमे अनुकरण की जाने वाली वस्तु के लाभ व हानियो को विवेक की तुला पर तौला जाता है जबकि अन्धानुकरण ऑख मूँद कर किया गया अनुकरण है। पाश्चात्य विचारो को आत्मसात कर लेने वाला एक व्यक्ति जब उपनयन के नियमो का पालन नही करता तो समाज के कुछ अविवेकी पुरुष उसका उदाहरण देकर स्वय उपनयन के नियमो के पालन से छुटकारा पाने की कोशिश करने लगते है क्योकि सयम मे रहना मनुष्य को पसद नही उसे तो पसद है निरकुशता। परन्तु जब सयम से विरत होने पर समाज उसे रोकता नही तो वह असयमित रहने मे सफल होने लगता है। उपरोक्त विवेचन से मेरा यह प्रयोजन नही कि उपनयन के द्वारा ही सयम सभव है लेकिन इस तथ्य का तो सकेत करना ही चाहता हूँ कि उपनयन मनुष्य को सयम मे रहना सिखाता है। अत उपनयन का पुन स्थापन ही श्रेष्ठ

हे न कि इसका उच्छेद।

समावर्तन– यह सस्कार विद्यार्थी जीवन की समाप्ति पर सम्पन्न किया जाता था। समावर्तन का शब्दार्थ है वापस लौटना पूर्व स्थिति पर पुन आना। यहॉ समावर्तन का अर्थ होगा पढाई का कार्य समाप्त कर गुरु के कुल से विद्यार्थी का अपने घर लौट आना। वीरमित्रोदय सस्कार भाष्य मे भी समावर्तन का उपरोक्त अर्थ बताया गया है।

तत्र समावर्तन नाम वेदाध्ययनान्तर गुरुकुलात् स्वगृहागमनम्।

इसे स्नान भी कहा जाता है क्याकि स्नान इस सस्कार का मुख्य कृत्य है। कुछ मानवशास्त्रियो के अनुसार स्नान का उद्देश्य उसे दिव्य शक्ति से दूर करना था क्योकि साधारण जीवन मे लौटने के पूर्व दिव्य प्रभाव का दूर करना आवश्यक था नही तो वह दिव्य गुण भ्रष्ट हो जायेगा और ईश्वर के रोष को अवसर प्रदान करेगा। प्राचीन साहित्य मे अध्ययन अथवा ज्ञान को सागर की उपमा दी गयी है अत समावर्तन मे किये जान वाले स्नान को ज्ञानसागर के अवगाहन का भी प्रतीक माना जा सकता है। इसीलिए उसे विद्यास्नातक भी कहा जाता था। अत ब्रह्मचर्य जीवन के अन्त मे किये जाने वाला सास्कारिक स्नान विद्यार्थी द्वारा ज्ञानसागर के पार करने का प्रतीक था। प्रश्न है कि क्या सभी ब्रह्मचारी समावर्तन करते थे? नही कुछ ब्रह्मचारी तो आश्रम मे रहते थे और निवृत्ति मार्ग का अनुसरण करते थे ऐसे ब्रह्मचारी नैष्ठिक नाम से विदित थे। प्रवृत्ति मार्ग का अनुसरण करने वाले विद्यार्थी समावर्तन करते थे और वे समावर्तन के द्वारा गुरु आश्रम का त्याग कर देते थे। इन्हे 'उपकुर्वाण कहा जाता था। समावर्तन सस्कार विवाह का अनुमति पत्र था अर्थात इसके द्वारा विवाह का अधिकार हो जाता था।

स्नान के पूर्व विद्यार्थी को दक्षिणा द्वारा गुरु को प्रसन्न करना पडता था। विद्यार्थी–जीवन की समाप्ति की अनुमति गुरु से प्राप्त कर समावर्तन सस्कार करना चाहिए। गुरु से विदा लेते समय सामर्थ्यानुसार गुरु को गुरु दक्षिणा के रूप मे कुछ देने की आशा की जाती थी।

विधि–विधान– समावर्तन मे ब्रह्मचारी को एक कमरे मे बन्द कर दिया जाता था। मध्याह्न मे ब्रह्मचारी कमरे के बाहर आकर गुरु को प्रणाम करता था और वैदिक अग्नि मे अन्तिम आहुति डालता था। जल से भरे आठ कलश रखे जाते थे। मत्र पाठ के साथ इस कामना से कि उसे समृद्धि ऐश्वर्य और पवित्रता की प्राप्ति हो इन घडो को जल से अभिषिक्त कराया जाता था। इस स्नान के पश्चात् मेखला अग्नि, दण्ड आदि ब्रह्मचारी के सारे चिह्न जल मे विसर्जित कर दिये जाते थे। उसके दाढी केश तथा नाखून कटवाये जाते थे और गूलर की दतून करने को दी जाती थी। सस्कार की समाप्ति पर गुरु द्वारा विद्यार्थी को आदरसूचक मधुपर्क प्रदान किया जाता था।

वर्तमान रूप– भारत मे प्राचीन काल मे शिक्षा समाप्त कर चुकने वाले

लोगो का उच्च सम्मान था। वर्तमान काल मे ब्रह्मचारी से उपनयन समाप्त होने पर ही समावर्तन का स्वाग कराया जाता है। सस्कार के रूप मे अलग से अब समावर्तन का प्रचलन नही रह गया है। उपनयन के सभी कृत्य समाप्त होने पर पढने हेतु इच्छा प्रगट करने का नाटक उससे करवाया जाता है परन्तु वास्तव मे वह ब्रह्मचारी बन नही पाता। ब्रह्मचारी अपने कन्धे पर दण्ड रखकर जिसके पीछे पकवान की एक पोटली भी बॅधी होती है एक कदम आगे बढाता है। गुरु पूछता है कहॉ जाते हो" ? उत्तर मिलता है विद्या प्राप्त करने"। इस पर गुरु कहता है लौट आओ यही पढा दूँगा। फिर वह अपना एक कदम आगे बढाता है। गुरु फिर प्रश्न करता है कहाँ जा रहे हो ? अबकी बार उत्तर मिलता है विवाह करने । ऐसी स्थिति में बालक के बहनोई या मामा आदि उसे विवाह का आश्वासन देते है और वह लौट आता है। समय के चक्र ने वेदाध्ययन की कैसी दुर्गति कर डाली ? बालक ब्रह्मचारी बनने ही नही पाता कि उसका समावर्तन हो जाता है।

विवाह सस्कार— इसका वर्णन अगले अध्याय मे किया गया है।

अन्त्येष्टि सस्कार — कुछ सस्कार मानव हृदय मे विद्यमान हर्ष और शोक के भावो की अभिव्यक्ति अथवा आत्माभिव्यक्ति के साधन है। अन्त्येष्टि सस्कार मनुष्य के जीवन के अन्त का सूचक है। मनुष्य की मृत्यु होने पर यह सस्कार सम्पन्न किया जाता है। मृत्यु करुणा और शोक का दृश्य उपस्थित करती है। इसे दाह सस्कार भी कहा जाता है। इस सस्कार मे मृत व्यक्ति के सबधी उसके शव को श्मशान तक ले जाते है। शव को नदी आदि मे स्नान कराकर फिर चिता पर रखकर अग्नि द्वारा उसका दाह कर देते हैं। शव से छुटकारा पाने की उपरोक्त रीति (अग्नि मे जलाने की प्रथा) हिन्दुओ मे सर्वाधिक प्रचलित है। शव को भूमि मे गाड देने या जल मे प्रवाह करने की भी प्रथा हिन्दुओ मे पायी जाती है। दाहकर्म प्राय मृत व्यक्ति के ज्येष्ठ पुत्र द्वारा अथवा अन्य किसी निकट सबधी द्वारा किया जाता है। दाह करने से एक प्रकार का अशौच लग जाता है। तेरह दिन तक अशौच मनाया जाता है। तेरहवे दिन ब्राह्मणो को भोजन कराया जाता है।

मृत्यु के एक वर्ष बाद 'वर्षान्त श्राद्ध का आयोजन किया जाता है। चार वर्ष पश्चात् 'चतुर्वर्षान्त' अथवा चौथपाटा श्राद्ध होता है। चौथपाटा के पश्चात मृत व्यक्ति पितृलोक मे पहुँच जाता है और प्रेतयोनि छोड देता है ऐसा विश्वास किया जाता है । आश्विन मास के कृष्ण पक्ष को पितृपक्ष की सज्ञा दी गयी है। इस पखवारे मे पितरगण अपने वशजो के साथ रहते है ऐसा माना जाता है। इस पक्ष मे हर व्यक्ति प्रति दिन अपने पूर्वजो को जल देता है और जिस दिन पूर्वज की मृत्यु हुई होती है उस दिन विशेष श्राद्ध का आयोजन किया जाता है। इस पक्ष की अमावस्या को पितर लोग पितृलोक चले जाते हैं इसलिए इस तिथि को पितृ विसर्जिनी अमावस्या' कहा जाता है।

●

अध्याय12

विवाह—संस्कार

उत्पत्ति —विवाह एक सार्वभौमिक सस्था है। विवाह का कोई न कोई रूप प्रत्येक समाज मे पाया जाता है। इस सर्वव्यापक सस्था की उत्पत्ति कब हुई होगी इस ओर ध्यान खिच जाना स्वाभाविक है। सभ्यता के आदिम छोर से मनुष्य ने यौन सबधो को नियमित करने के लिए विवाह सस्था को विकसित किया होगा। जहॉ तक इसकी उत्पत्ति का सबध है मनुष्य की पूर्ववर्ती योनि मे सम्भवत इसका जन्म हुआ होगा। अनुमानत मानव समाज मे कोई भी ऐसी स्थिति न थी जब परिवार और विवाह न रहे हो। ऐतिहासिक सामग्री से भी किसी ऐसे युग का पता नही चलता जब विवाह की पद्धति न रही हो। महाभारत मे ऐसे दो स्थलो का उल्लेख मिलता है जहॉ मुक्त कामाचार प्रचलित था। महाभारत के अनुसार उत्तर कुरु[1] तथा माहिष्मती[2] नगरो मे विवाहो की प्रथा न थी। कहा जाता है कि उद्दालक के पुत्र श्वेतकेकु ने स्वेच्छाचार के स्थान पर विवाह पद्धति की स्थापना की। यदि भारतीय विवाह प्रथा के विकास पर दृष्टिपात किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि स्वेच्छाचार वैदिकपूर्व युग मे भले ही रहा हो महाभारत काल मे इसका प्रचलन नही था। ऋग्वेद के समय तक विवाह सस्था अपनी जड जमा चुकी थी। ऋग्वेद मे उल्लेख है कि विवाह सस्कार के बाद ही पवित्र जीवन शुरू होता है।[3]

विवाह का अर्थ —विवाह सभी सस्कारो मे सबसे महत्त्वपूर्ण है। शास्त्रो मे विवाह के अर्थ को प्रकट करने के लिए निम्नाकित शब्द प्रयोग किये गये है —

उद्वाह (taking the girl out of her parental home)

परिणयन (going round i e making a pradakshina to fire)

पाणिग्रहण (holding the hand of the girl)

ये शब्द विवाह सस्कार के कुछ कृत्यो के सूचक माने जा सकते है। सम्पूर्ण विवाह का तो ये प्रतिनिधित्व नही करते फिर भी चूँकि प्राचीनकाल से विवाह के लिए उद्वाह शब्द का प्रयोग होता आया है यह सम्पूर्ण विवाह का सूचक माना जाने लगा। मनुस्मृति मे भी विवाह के लिए उद्वाह शब्द प्रयुक्त हुआ है। उद्वाह का अर्थ वर द्वारा बधू को अपने घर ले जाना है[4]।

---

1 यत्र नार्य कामचारा भवन्ति। महाभारत12-102-26।

2- स्वैरिण्या तत्र नार्यो हि यथेष्ट विचरन्त्युत । महाभारत 2-32-40।

3 ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टा त्वा सह पत्या दधामि। ऋग्वेद10-85-24।

मनुस्मृति 3/4

विवाह स्त्री–पुरुष के ऐसे सम्बन्ध के रूप मे समझा जा सकता है जिसमे दोनो को यौन सतुष्टि की समाज द्वारा स्वीकृति मिल गयी हो। अत मर्यादित यौन तुष्टि विवाह की एक मुख्य विशेषता है। वेस्टरमार्क ने विवाह को मात्र मर्यादित यौन सम्बन्ध तक ही सीमित नही माना है । उनके अनुसार विवाह एक या एक से अधिक पुरुषो का एक या एक से अधिक स्त्रियो के बीच पाया जाने वाला ऐसा सम्बन्ध है जो प्रथा अथवा कानून द्वारा मान्य हो और जिसमे वैवाहिक सूत्र मे बॅधने वाले दम्पनि और उनकी सन्तानो के प्रति कुछ अधिकारो और कर्तव्यो का समावेश हो[5]।

बर्ट्रेड रसेल के अनुसार भी विवाह दो व्यक्तियो के परस्पर सयोग से अधिक गम्भीर है। यह एक सस्था है जो वास्तव मे बच्चो को जन्म देकर समाज के ताने बाने का निर्माण करती है और जिसका स्त्री–पुरुष की व्यक्तिगत भावनाओ से अधिक व्यापक महत्त्व है।

हिन्दू विवाह के उद्देश्य – शास्त्रो मे हिन्दू विवाह के तीन प्रमुख उद्देश्य गिनाये गये है जिनका वरीयता क्रम इस प्रकार है–

1–धर्मपालन

2–सन्तानोत्पादन

3–रति (यौनिक आनन्द)

धर्म पालन–विवाह के उपयुक्त उद्देश्यो पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दुओ का विवाह धर्म प्रधान है। धर्म पालन के लिए हिन्दुओ मे विवाह की आवश्यकता पडती है। कोई भी धार्मिक कृत्य पत्नी के अभाव मे पूरा नही हो सकता क्योकि कोई भी पुरुष स्वय मे पूर्ण नही माना जाता। स्त्री और बच्चो के साथ वह पूर्ण माना जाता है[6]।

शायद पत्नी को शास्त्रो मे अर्द्धांगिनी नाम इसीलिए दिया गया और यह नाम सार्थक भी लगता है। पत्नी कर्त्तव्य पालन मे सहायक है। पुरुष गृहस्थ बनकर (वैवाहिक सूत्र मे बधकर) पत्नी के साथ अपने जीवन के कर्त्तव्यो को पूरा करता है। ऋण चुकाना भी कर्त्तव्य है। पितृऋण की अदायगी मे पत्नी का योगदान है। पितृऋण से छुटकारा पुत्र सन्तान उत्पन्न होने पर ही मिलता है जो पत्नी के अभाव मे असम्भव ही है। हालाकि वर्तमान समय मे कुछ लोग सन्तानोत्पादन के कार्य को यौन क्रिया की सहउपज (by product) मानते है। शास्त्रो मे पुत्रोत्पादन को यौन क्रिया की सहउपज नही माना गया बल्कि वहॉ तो यह आदेश है कि पुत्रकामना से ही पुरुष को चाहिए कि वह अपनी पत्नी

५ Westermarck defines marriage as a relation of one or more men to one or more women which is recognized by custom or law, and involves certain rights and duties both in case of the parties entering the union and in the case of the children born of it –Westermarck History of Human Marriage Page 26

6 मनुस्मृति 9/45

से साहचर्य करे और जो ऐसा नही करता है वह पापी है। वह पुरुष जिसके पत्नी नही यज्ञ करने का अधिकारी नही (अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीक)

सन्तानोत्पादन – सन्तानोत्पादन का कार्य एक सामाजिक आवश्यकता है। समाज के सम्यक् सचालन व सातत्य के लिए वश वृद्धि और प्रजाति सातत्य (perpetuation of human race) के लिए प्रजनन का कार्य महत्त्वपूर्ण है। परमात्मा ने पिता बनने के लिए पुरुष की सृष्टि की है तथा माता बनने के लिये स्त्री की अत वेदो की आज्ञा है कि पुरुष पत्नी के साथ धर्म का पालन करे।[7]

परिवार सामाजिक शरीर का एक सेल है। यदि सेल (परिवार) मे प्रजनन की इच्छा नष्ट हो जाय तो मानव प्रजाति का अन्त हो जाय। उपनिषदो का यह उपदेश है कि प्रजा सूत्र को न तोडा जाय। जिस घर मे बालक नही है वह श्मशान की भॉति है (यन्न बालै परिवृत श्मशान इव तद्गृहम्)। पुत्र का हिन्दू सामाजिक जीवन मे इतना महत्त्व है कि उसकी प्राप्ति के लिए हिन्दुओ को शास्त्रो मे दूसरा विवाह करने की अनुमति दी गयी है लेकिन इस अनुमति को कार्य रूप मे तभी परिणित किया जा सकता है जब पत्नी बॉझ हो।

रति – विवाह का सहायक अथवा गौड उद्देश्य रति है । हिनुओ मे विवाह केवल यौन इच्छाओ की सन्तुष्टि मात्र नही है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नही है कि यौन सन्तुष्टि का विवाह के उद्देश्य मे कोई स्थान नही है बल्कि इससे यह तात्पर्य है कि विवाह के उद्देश्यो मे रति को प्राथमिकता नही दी गयी। अर्थ और काम सेवन पर हिन्दू धर्मग्रन्थो ने रोक नही लगायी बल्कि यह जरूर आदेश दिया कि अर्थ और काम का धर्मानुकूल सेवन हो। (हिन्दुओ ने कामवासना को अपवित्र या अशिष्ट भी नही समझा क्योकि रति को अशिष्ट समझना एक नैतिक विकृति का चिन्ह है और यही कारण है कि इसे भी विवाह के उद्देश्यो मे स्थान दिया।)

हिन्दू विवाह की विशेषताऍ – हिन्दू विवाह के आदर्श मुस्लिम और ईसाई विवाह के समान नही है। इसकी प्रकृति ईसाई और मुस्लिम विवाह से भिन्न है। हिन्दू विवाह की कुछ खास (विशेष) विशेषताऍ हैं जिनके आधार पर यह अन्य धर्मों मे पाये जाने वाले विवाहो से भिन्न है। हिन्दू विवाह की विशेषताऍ निम्नाकित है–

(1) **हिन्दू विवाह एक धार्मिक कृत्य है** – भारतीय जीवन मे प्रत्येक क्रिया धर्म मानी गयी है क्योकि उसके पीछे कर्त्तव्य तथा दायित्व का विचार सन्निहित है। विवाह धर्मपूर्ति का साधन है अत विवाह करना या न करना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नही है बल्कि विवाह सभी के लिए अनिवार्य है क्योकि विवाह एक धार्मिक आवश्यकता है। यज्ञ आदि धार्मिक क्रियाओ को पूरा करने के लिए धार्मिक जीवन साथी का चुनाव आवश्यक है क्योकि उसके बिना याज्ञिक क्रिया पूरी नहीं हो सकती। विवाह के समय पवित्र अग्नि प्रदीप्त

7 प्रजनार्थ स्त्रिय सृष्टा सन्तानार्थ च मानवा ।

की जाती थी और गृहस्थ का यह कर्त्तव्य हो जाता था कि वह प्रति दिन पत्नी के साथ पचमहायज्ञो को पूरा करे। इन दायित्वो की समाप्ति गृहपति की मृत्यु से ही सभव थी। अत विवाह कर्त्तव्यो की पूर्ति के लिए होने के कारण धर्म प्रधान था।

(2) **हिन्दू विवाह अविच्छेद्य है** — हिन्दू विवाह एक स्थायी और अटूट सबध है। मुसलमानो मे अस्थायी विवाह (मूता विवाह) का भी प्रचलन है । हिन्दुओ मे इस प्रकार के विवाह का कोई स्थान नही है। हिन्दुओ मे विवाह तो जन्मजन्मान्तर का सम्बन्ध है। कम से कम एक जन्म तक तो जो परिणय सूत्र मे बॅध जाते हैं पति पत्नी बने रहते हैं यदि कोई ऐसी विषम परिस्थिति न उत्पन्न हो जाय जिसमे विवाह विच्छेद (तलाक) अनिवार्य हो। हिन्दू विवाह के अविच्छेद्य होने का आदर्श बहुत ही उच्च और महान् है क्योकि इसका अर्थ तो यही हुआ कि यदि पति पत्नी मे मतभेद स्वभावगत भेद या अन्य किसी प्रकार का सघर्ष है तो वे अपनी स्वच्छा से विवाह विच्छेद नही करेगे और विवाह सम्बन्ध को एक मूल्य (Value) समझकर उसकी रक्षा करेगे। वर्तमान समय मे यद्यपि हिन्दू विवाह का यह आदर्श अव्यावहारिक हो गया है फिर भी तलाको की वृद्धि को रोकने मे काफी सहायक है। हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 मे स्त्रियो को कुछ खास परिस्थतियो मे विवाह सम्बन्ध तोडने (तलाक) की अनुमति दे दी गयी है।

(3) **हिन्दू विवाह सस्कार है** — हिन्दू विवाह की सबसे प्रमुख विशेषता है कि यह एक पवित्र सस्कार है। प्रश्न है कि हिन्दू विवाह सस्कार कैसे? हिन्दू विवाह का सस्कारक अथवा विकारक होना इस पर निर्भर है कि क्या विवाह स्त्री–पुरुष का परिष्कार करता है उनका उन्नयन करता है अथवा उन्हे पतन की ओर ले जाता है? यदि उन्नयनकारी है पतनकारी अथवा विकारक नहीं, तो सस्कार है। गहराई से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि विवाह प्रकट मे भले ही विकारक लगे जैसे कुछ दैनिक जीवन की क्रियाये लगती हैं परन्तु अप्रगट मे विवाह से स्त्री–पुरुष का परिष्कार होता है। बर्तन मॉजने की क्रिया और कपडा धोने की क्रियाओ मे हम देखते हैं कि पहले बर्तन अथवा कपडे को और गन्दा कर दिया जाता है परन्तु यह सभी जानते हैं कि उससे कपडा साफ हो जाता है बर्तन उज्ज्वल हो जाते हैं। विवाह भी कुछ उपरोक्त क्रियाओ जैसा ही लगता है[8]। प्रकट मे ऐसा लगता है कि विवाह स्त्री–पुरुष को बन्धन मे बॉध देता है उनकी स्वतत्रता पर रोक लगाता है। प्राय समाज मे अनुभवी और योग्य बृद्धजन उत्तरदायित्वहीन व्यक्ति को विवाह मे बॉधने की राय देते हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी का लडका अनैतिक कार्यो मे लग जाता है परिवार के प्रति अपनी जिम्मेवारी नहीं निभाता है, निरकुशता का जीवन व्यतीत करता है तो उसे उत्तरदायी बनाने के लिए और ठीक रास्ते पर लाने के लिए प्राय उसका विवाह कर देने के लिए कहा जाता है। विवाह हो जाने पर सामान्यतौर से ऐसे व्यक्ति सुधर जाते हैं और समाज के अच्छे नागरिक बनकर समाज के

८ शुक्ल पी एन हिन्दू समाज व्यवस्था , पृ 398।

प्रति अपने उत्तरदायित्वो को पूरा भी करते है। कुछ बालबुद्धि वाले लोग विवाह को बन्धन कहते है ओर इसे अपनी उन्नति मे बाधक मानते है यहाँ पर बन्धन शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्या बन्धन समाज व व्यक्ति के लिए अहितकर है? शायद नही। मनुष्य बन्धन से छूटना जरूर चाहता है पर सभी बन्धन बुरे नही होते। मनुष्य को यदि बन्धन मुक्त कर दिया जाय तो समाज का सम्यक सचालन नही हो पायेगा। समाज की व्यवस्था बन्धन अथवा अकुश से ही कायम रहती है। निरकुशता समाज के लिए वाछनीय नही। प्रस्तुत प्रसग मे प्रयोग किया गया बन्धन शब्द अकुश का समानार्थी है। विवाह से स्त्री–पुरुष दोनो की चचलता और उच्छृखलता पर प्रतिबध लगा रहता है। विवाह स्त्री के चरित्र को भी उज्ज्वल करता है। विवाह द्वारा स्त्री को कामवासना पूर्ति का अवसर प्राप्त होता है। इतिहास मे अनेक दृष्टान्त मिलते है जहाँ विवाहित स्त्रियो के पथभ्रष्ट होने का उल्लेख है। परशुराम जी ने अपनी माता रेणुका का वध इसीलिए किया कि वह पथभ्रष्ट हो गई थी। गौतम की पत्नी अहिल्या कपट वेषधारी इन्द्र से उन्हे पहचान कर भी सहचर्य करने को उद्यत हो गयी। जब विवाहित स्त्रियो का चित्त ठिकाने नही तो अविवाहिताओ को तो नियत्रण मे रखना और भी कठिन है। विवाह काफी सीमा तक स्त्री को नियत्रित करता है ओर इस प्रकार उसके उत्थान मे सहायक है।

विवाह परार्थमूलक होने क कारण भी सस्कार है। स्वार्थ एक प्रकार का मल है। विवाह स्त्री–पुरुष को स्वार्थी नही बनाता, उन्हे परोपकार का पाठ पढाता है उनके अपनेपन का विस्तार करता है। अपनी कमाई मिल बॉटकर भोगने के लिए व्यक्ति को प्रस्तुत करता है। वह व्यक्ति जो अपने लिए कमाता है अपने लिए ही भोजन पकाता है पाप करता है[3]। अपनी कमाई अकेले हडप कर जाने वाल व्यक्ति से अपनी स्त्री व बच्चे मे अपनी कमाई बाँट देने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ है।

विवाह व्यक्ति को अनेक अनुचित कार्यो को करने से रोकता है। बाल बच्चो के भावी जीवन के विषय मे सोचकर अधिकाश व्यक्ति अपना अपराधी इरादा त्याग देते हैं अनुचित कार्यो से दूर हट जाते है। लौकिक जीवन मे लोगो को कहते सुना जाता है कि 'बाल–बच्चे वाले होकर कही हम ऐसा कार्य करेगे।'

के.एम कपाडिया ने हिन्दू विवाह को इसलिए सस्कार कहा है क्योकि हिन्दू विवाह की पूर्णता पवित्र मत्रो के साथ सम्पन्न किये जाने वाले कुछ पवित्र कृत्यो पर आधारित है। सप्तपदी, पाणिग्रहण और होम वे मुख्य पवित्र कृत्य हैं जो विवाह की पूर्णता के लिए आवश्यक है। इनमें से किसी भी एक के उचित रूप से सम्पादित न होने पर विवाह वैध नही माना जा सकता।

(4) **हिन्दू विवाह समझौता नही (Hindu marriage is not contract)** – हिन्दू विवाह एक प्राथमिक सम्बन्ध है न कि प्रसविदा। **प्रसविदा**

एक ऐसा समझौता है जिसमे समझौता करने वाले दोनो पक्ष भविष्य मे निश्चित समय तक निश्चित ढग से व्यवहार करने के लिए बाध्य होते है[10]। विवाह मे भाग लेने वाले दो पक्ष (नर और नारी) भविष्य मे कैसा व्यवहार करेगे इसका निर्धारण विवाह के समय नही होता और न उनके पारस्परिक अधिकार और कर्तव्यो की कोई सूची ही बनाई जाती है। **समझौता (contract) की सबसे बडी विशेषता यह होती है कि इसमे पारस्परिक अधिकार और कर्तव्य पहले से ही निश्चित होते हैं और सीमित होते है जबकि विवाह सूत्र मे आबद्ध स्त्री–पुरुष के दायित्वो की कोई सीमा नही होती है।** समझौते मे भाग लेने वाले दो पक्षो मे से अगर कोई एक पक्ष उन दायित्वो को पूरा करने के लिए दूसरे पक्ष से कहता है जिनका उल्लेख समझौते मे नही है तो वह पक्ष उन्हे पूरा करने के लिए बाध्य नही है क्योकि उनका उल्लेख समझौते मे नही है। उदाहरण के लिए अगर दो व्यापारियो मे किसी व्यापार के बारे मे समझौता हुआ है और यदि एक व्यापारी दूसरे व्यापारी से यह कहे कि मेरे लडके को उच्च शिक्षा हेतु विदेश भेज दीजिए तो दूसरा व्यापारी फौरन यह कहेगा कि इसके बारे मे तो हमारे और आप के बीच मे समझौता नही हुआ। अगर कोई लडका अपने माता–पिता से यह इच्छा व्यक्त करे कि वह उच्च शिक्षा के लिए विदेश जाना चाहता है तो माता–पिता उसे उपरोक्त जवाब नही दे सकते। वे या तो उसे भविष्य मे कभी भेजने का वायदा करेगे या वित्तीय असमर्थता के आधार पर उसे न भेज सकने की बात कहेगे। अत हिन्दू विवाह की प्रकृति समझौता से मेल नही खाती। इसके अलावा समझौते मे भाग लेने वाले व्यक्तियो के स्वार्थों मे भिन्नता[11] भी हो सकती है क्योकि कभी–कभी एक पक्ष की हानि से दूसरे पक्ष को लाभ होता है। दुकानदार और ग्राहक महाजन और ऋणी के समझौते मे एक पक्ष की हानि से दूसरे पक्ष को लाभ हो सकता है। परन्तु विवाह के दोनो पक्षो के उद्देश्यो मे समानता पाई जाती है। यह नही है कि पति को हानि होने से पत्नी को लाभ हो और पत्नी की हानि से पति को लाभ बल्कि एक की हानि से दूसरे को भी हानि होगी। इससे भी यही सिद्ध होता है कि विवाह समझौता नही है। इसके अलावा समझौता हमेशा अवैयक्तिक (impersonal) होता है जबकि विवाह सबध वैयक्तिक (personal) होता है। यदि पति का अपनी पत्नी पर अवैयक्तिक प्रेम है तो यह पति का सबसे बडा अपराध है (No offence is greater in a husband than this that he should treat his love impersonally')। वैयक्तिक सबध का सबसे अनिवार्य गुण हे कि यह Transferable नही है। इसका सम्बन्ध निश्चित व्यक्तियो (determinate individuals) से होता है जिनका स्थानापन्न किसी दूसरे व्यक्ति को नही बनाया जा सकता है। नया सम्बन्ध बन सकता है पुराना सम्बन्ध समाप्त हो

10- Davis Kingsley Human Society Page 470

11- "They may have unlike interests in the sense that a loss for one is a gain for the other' Davis, Kingsley "Human Society '- page 470

सकता है परन्तु एक ही सम्बन्ध मे एक व्यक्ति की जगह दूसरे को स्थानापन्न नही बनाया जा सकता।[12] उपर्युक्त विशेषताएँ हिन्दू विवाह मे पायी जाती है। अत विवाह सम्बन्ध एक वैयक्तिक सम्बन्ध है न कि प्रसविदात्मक सम्बन्ध।

वैवाहिक कर्मकाण्ड (Ceremonies of Marriage) – कर्मकाण्डीय दृष्टि से हिन्दू विवाह मुस्लिम और ईसाई विवाह से कही अधिक जटिल है। वैवाहिक विधियॉ देश- विदेश और गॉव–गॉव मे भिन्न है। कुल के आधार पर भी वैवाहिक कर्मकाण्डो मे परिवर्तन मिलता है। इन वैवाहिक उत्सवो (Ceremonies) का ज्ञान प्रथा द्वारा अथवा कुल की किसी वृद्धा या वृद्ध पुरुष स प्राप्त होता है। लगभग समस्त गृह्य सूत्रो का अध्ययन करके पी वी कणे महोदय ने विवाह–सस्कार के कर्मकाण्डो की विस्तृत सूची का वर्णन निम्न प्रकार से किया है[13]।

(1) **वधू–वर–गुण परीक्षा** – वधू–वर की उपयुक्तता अथवा योग्यता की परीक्षा।

(2) **वर प्रेषण** – वधू के विवाह की बातचीत करने के लिए लोगो को भेजना। ऋग्वेद काल मे यह प्रथा थी कि एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्ति कन्या के पिता के पास कन्या माँगने के लिए जाते थे[14]। सूत्रकाल मे भी यही रीति थी। मध्यकाल तक क्षत्रियो मे इस प्रथा का प्रचलन था। वर्तमान समय मे ब्राह्मण और अन्य अनेक जातियो मे कन्या के पिता को वर की खोज के लिए जाना पडता है यद्यपि शूद्रो और कुछ अन्य जातियो मे पुरानी प्रथा का ही चलन है।

(3) **वाग्दान** – वाग्दान का शाब्दिक अर्थ है 'वचन देना'। वर पक्ष के विवाह सम्बन्धी प्रस्ताव को कन्या के पिता द्वारा स्वीकार करने को ही वाग्दान कहते है परन्तु आजकल जब वर की खोज कन्या पक्ष द्वारा की जाने लगी इस शब्द का प्रयोग कन्या पक्ष द्वारा प्रस्तुत विवाह–प्रस्ताव को वरपक्ष द्वारा स्वीकार करने के अर्थ मे होने लगा। वाग्दान का कृत्य शादी पक्की होने का सूचक है

(4) **मण्डपकरण** – उपनयन और मुडन की ही भाँति सम्पूर्ण वैवाहिक कृत्य एक मण्डप के नीचे सम्पन्न होते है। मण्डप निर्माण–विधि देश और काल के अनुसार भिन्न–भिन्न हो सकती है। फलरहित आम की डाल, हल पटेला हरे बास फूस और मूॅज की सहायता से मण्डप निर्मित होता है।

(5) **नान्दीश्राद्ध** – इसे दैविक श्राद्ध कहते हैं। यह आभ्युदयिक समस्त मागलिक कार्यों (सस्कारो) के पूर्व की जाती है। इसमे विश्वदेवा का पूजन तथा पितर और माताओ और मातामह (नाना आदि) अर्थात् पितृकुल और मातृकुल के मृतपूर्वजो का पूजन होता है। इसका उद्देश्य वश वृद्धि की कामना होती है। इसका विधान केवल बौधायन गृह्य सूत्र मे है। अधिकाश सूत्रकार इसके बारे मे

मौन है।

(6) **वधू–गृह गमन** – यह बारात या वर–यात्रा का कृत्य है। बारात मे वर के इष्ट मित्र वशज और अन्य सगे सम्बन्धी वधू के घर जाते है।

(7) **मधुपर्क** – कन्या के घर मे होने वाल वर के विशेष सत्कार को मधुपर्क कहते हैं। शाखायन गृह्य सूत्र (1–12–10) मे दो मधुपर्कों का उल्लेख है। प्रथम मधुपर्क का आयोजन विवाह कृत्य के पूर्व और दूसरे मधुपर्क का आयोजन विवाह कृत्य के बाद उस समय हो जब वर अपने घर लौटने लगे ऐसा शाखायन का मत है।

(8) **स्नापन, परिधापन और सम्नहन** – विवाह के अवसर पर वधू को स्नान कराया जाता है, नये परिधान (वस्त्र) पहनाये जाते हैं और दर्भ की मेखला पहनायी जाती है। विवाह के इन कृत्यो का उल्लेख पारस्कर और काठक गृह्य सूत्रो मे मिलता है।

(9) **समन्जन** – वैदिक मन्त्रोच्चारण क साथ वर–वधू का एक दूसरे की ओर मुँह कराके (उन्हे) बैठाकर उनके हृदयो के एक सूत्र मे आबद्ध (सयुक्त) हो जाने की कामना की जाती है। इस क्रिया को समन्जन कहा जाता है।

(10) **प्रतिसर बध** – वधू की कलाई मे रोली से रगे सूत्र के साथ अभिमत्रित अक्षतो की छोटी सी पोटली बॉधने की क्रिया प्रतिसर बध कहलाती है।

(11) **वधू–वर निष्क्रमण** – घर के आन्तरिक भाग से वर–वधू का पण्डाल के नीचे आना वधू–वर निष्क्रमण है। इसका विधान पारस्कर गृह्य सूत्र मे है।

(12) **परस्पर समीक्षण** – परस्पर समीक्षण का अर्थ है वर–वधू द्वारा एक दूसरे को देखना। लघु आश्वलायन स्मृति (15 20) के अनुसार वधू–वर के बीच एक परदा पहले लटका दिया जाता है और शुभ मुहूर्त पर यह पर्दा हटा लिया जाता है और फिर दोनों एक दूसरे को देखते हैं। यह क्रिया आज भी प्रचलित है। जिस समय वर–वधू के बीच परदा लटकाया जाता है ब्राह्मणो द्वारा मगलाष्टक मत्रों का उच्चारण किया जाता है।

(13) **कन्यादान** – कन्यादान विवाह का एक प्रमुख कृत्य है। इस कृत्य मे कन्या का पिता वर से कहता है कि वह अपनी पत्नी के प्रति धर्म अर्थ और काम मे मिथ्या व्यवहार न करे। वर उत्तर मे '**नातिचरामि**' (ऐसा नही करूँगा) कहता है। यह अब भी होता है।

(14) **अग्नि स्थापन और होम** – अग्नि की स्थापना करना और अग्नि मे आज्य आहुतियाँ डालना अग्नि स्थापन और होम कहलाता है। इसका उल्लेख कई गृह्य सूत्रो मे है परन्तु मत्रो और आहुतियो की सख्या के बारे मे काफी मतभेद है।

(15) **पाणिग्रहण** – इस कृत्य मे कन्या का हाथ वर के हाथ मे दिया

जाता है। यह कृत्य वर द्वारा वधू को पत्नी रूप मे स्वीकार किये जाने का प्रतीक है। कर्म–काण्डीय दृष्टि से यह क्रिया बहुत महत्त्वपूर्ण नही है।

(16) **लाजा होम** – इसमे वधू भुने हुए अन्न की तीन आहुतियॉ देती है जिनमे वर मत्र पढता है। चोथी आहुति मौन होकर दी जाती है।

(17) **अग्नि परिणयन** – इसमे वर वधू के साथ अग्नि और कलश की प्रदक्षिणा करतै हुए अमोहरिम शब्द कहता है।

(18) **अश्मारोहण** – अश्मारोहण को कृत्य मे वधू पत्थर की शिला पर पैर रखती है। पत्थर दृढता का प्रतीक है। यह कृत्य पति पत्नी से इसलिए करवाता था जिससे वह उसके प्रति सुदृढ भक्ति बनाये रखे।

(19) **सप्तपदी** – वर–वधू स्थापित अग्नि से उत्तर दिशा मे चावल की सात राशियो पर साथ–साथ इस प्रकार चले कि वधू का दाहिना पैर हर बार एक चावल की राशि पर पडे।

(20) **मूर्धाभिषेक** – यह वर या वर–वधू दोनो के सिर पर पवित्र जल छिडकने का कार्य है।

(21) **सूर्योदीक्षण** – वधू 'तच्चक्षु मत्र के साथ सूर्य का दर्शन करे।

(22) **हृदयस्पर्श** – मत्र के साथ वर द्वारा वधू के हृदय का स्पर्श करना।

(23) **प्रेक्षकानुमत्रण** – इसमे दर्शको को विवाह का साक्षी होने के लिए सबोधित किया जाता है।

(24) **दक्षिणादान** – अन्त मे सस्कार सम्पन्न कराने वाले पुरोहित को दक्षिणा दी जाती है। पारस्कर गृह्य सूत्र के अनुसार आचार्य को ब्राह्मण द्वारा एक गाय क्षत्रिय द्वारा एक गॉव और वैश्य द्वारा एक अश्व दक्षिणा मे दिया जाना चाहिए। आजकल यथाशक्ति द्रव्य तथा वस्त्र दिये जाने का रिवाज है।

(25) **गृह प्रवेश** – दक्षिणा के पश्चात वधू का वर के घर मे प्रवेश होता है।

(26) **गृहप्रवेशणीय होम** – वधू के वर–गृह मे प्रवेश करने पर समत्र होम होता है।

(27) **ध्रुवारुन्धतीदर्शन** – इसमे ध्रुव और अरुन्धती नक्षत्र वधू को दिखाये जाते है। अरुन्धती के दर्शन का प्रयोजन वधू को सतीत्व और पति सेवा के आदर्श का स्मरण कराना है। ध्रुव तारा का दर्शन इसलिए कराया जाता है जिससे पत्नी पति के साथ ध्रुव (अटल) हो।

(28) **आग्नेय स्थालीपाक** – अग्नि को नैवेद्य चढाने की क्रिया है।

(29) **तिरात्र–व्रत** – पति पत्नी को चाहिए कि कम से कम तीन दिन तक लवण–क्षारयुक्त भोजन न ग्रहण करे भूमि पर सोये और सहवास से दूर रहे आज कल इसका प्रचलन उठ गया है।

(30) **चतुर्थीकर्म** – वैखानस सूत्र मे इसे ऋतुसगमन की सज्ञा दी गई है। सूत्रकारो ने इस अवसर पर वैदिक मत्रो के साथ गर्भस्थापन के लिए कहा

है।

(३1) **सीमान्त पूजन** – गॉव के द्वार पर वर और उसकी पार्टी का सत्कार करना सीमान्त पूजन है। कणे का कहना है कि आजकल यह क्रिया वाग्निश्चय के समय होती है।

(३2) **गौरी–हर पूजन** – पुण्याहवाचन के पश्चात और कन्यादान के पूर्व शकर पार्वती की स्वर्ण प्रतिमाओ का कन्या द्वारा पूजन कराये जाने का विधान है।

(३३) **इन्द्राणी पूजा** – पहले इन्द्र की पत्नी शची की पूजा की जाती होगी। आजकल पार्वती और लक्ष्मी की पूजा होती है। इन्द्राणी (शची) की पूजा का लोप हो गया है।

(३4) **तैल–हरिद्रारोपण** – वधू के शरीर पर लगाने के बाद बचा हुआ हल्दी–लेप वर के शरीर मे लगाने की क्रिया है।

(३5) **आर्द्राक्षतारोपण** – (वर वधू द्वारा परस्पर एक दूसरे पर गीले साबुत चावल छोडना)। चॉदी जैसे धातु के किसी पात्र मे थोडा दूध डाला जाता है और उसके ऊपर घी छिडका जाता है और साबुत गीले चावल उसमे डाल दिये जाते है। वर कन्या की अजलि मे दो बार दूध और घी स्पर्श कराता है और तीन बार उसमे चावल भरता है ताकि उसकी अजलि भर जाय और अजलि मे फिर दो बार घी छिडकता है। कोई अन्य व्यक्ति वर की अजलि मे उपरोक्त क्रिया करता है और कन्या का पिता दोनो की अजलि मे स्वर्ण मुद्रा रखता है। फिर वर अपनी अजलि वधू की अजलि पर रखता है। कन्या का पिता मत्र पढता है। कन्या वर के शिर पर चावल छोडती है और फिर वर वधू के सिर पर। दोनो तीन बार यही क्रिया करते है। कन्या एक बार पुन यही क्रिया करती है। दोनो एक दूसरे को तिलक लगाते है, माला पहनाते है और ककण बधन करते है। कालिदास अपने रघुवश (VII) मे आर्द्राक्षतारोपण का वर्णन विवाह के अन्तिम कर्मकाण्ड के रूप मे करते हैं।

(३6) **मगल सूत्र बधन** – वधू के गले मे सोने और अन्य मूगो से युक्त सूत्र पहनाना मगल–सूत्र बधन है। इसे मगल सूत्र नाम इसलिए दिया गया है क्योकि यह स्त्री के सौभाग्य का चिह्न है और इस आभूषण को पत्नी पति के जीवन काल मे नही त्यागती है।

(३7) **उत्तरीय प्रान्त बधन** – इसे ग्रन्थि बन्धन भी कहते हैं । उत्तरीय शरीर के ऊपरी भाग को ढकने वाला वस्त्र होता है। प्रान्त छोर का सूचक है। वर वधू के उत्तरीय के छोर मे हल्दी और सुपाडी बॉधकर दोनो वस्त्रो को एक गॉठ द्वारा जोड दिया जाता है।

(३8) **ऐरिणी दान** – वर की माता को बॉस की पिटारी मे कई उपहार रखकर इसलिए अर्पित करना जिससे वर वधू को अपना प्रेमभाजन बना ले ऐरिणी दान है। यह दान उस समय किया जाता है जब वधू विवाह कृत्य समाप्त

हान पर अपने पति क घर जाने लगती है अथवा विदा होने लगती हे।

(39) **देवकोत्थापन और मण्डपोद्वासन** – यह विवाह का अन्तिम कृत्य है। इसमे आमन्त्रित देवताओ का विसर्जन हाता है और मण्डप उखाड डाला जाता है।

ऊपर कहे गये कृत्यो मे कन्यादान पाणिग्रहण लाजाहोह अग्निपरिणयन अश्मारोहण सप्तपदी तिरात्रव्रत तथा चतुर्थीकर्म महत्ता रखते है।

शास्त्र वर्णित विवाह के अष्ट प्रकार – स्मृतियो मे विवाह के आठ प्रकारो की चर्चा है। ये विवाह के आठ रूप इस प्रकार है - ब्राह्म दैव आर्ष प्राजापत्य आसुर गान्धर्व राक्षस और पैशाच। इनमे से चार प्रशस्त है और अन्तिम चार अप्रशस्त। पहले चार प्रकार प्रशसनीय माने जाते थे आसुर और गन्धर्व किसी प्रकार सह्य थे और अन्तिम दो प्रकार निषिद्ध (वर्जित) थे क्योकि विवाह के ये प्रकार विवाह के रूप मे न होकर समाज की समस्या थे जिन्हे शास्त्रकारो ने विवाह की कोटि मे रखकर इन समस्याओ की शिखर कन्याओ और उसकी सन्तानो के प्रति विशेष उपकार किया। यदि स्मृतिकारो ने राक्षस और पैशाच ढग से कौमार्य भग को विवाह न घोषित किया होता तो इन कौमार्य भग कन्याओ की समाज मे दुर्दशा हो जाती और समाज मे ऐसी कन्याओ को ब्याहने के लिए कोई तैयार भी न होता क्योकि हिन्दू समाज मे अक्षत–योनि कन्याओ को ही विवाह मे ग्रहण करने का आदर्श प्रतिष्ठित था। अत हिन्दू शास्त्रकारो ने उदारता का परिचय देकर राक्षस और पैशाच को विवाह का प्रकार मान लिया और साथ ही इन विवाहो को निदनीय निकृष्ट (अधम) और वर्जित घोषित किया। इन विवाहो को हीन अथवा अधम घोषित करने के पीछे उद्देश्य यह था कि समाज मे विवाह के इन प्रकारो का प्रचलन न होने पाये।

(1) **ब्राह्म** – यह विवाह का सबसे अधिक प्रशस्त रूप था। विवाह की इस विधि मे कन्या का पिता अथवा सरक्षक वेदपारगत और चरित्रवान वर को अपने घर आमन्त्रित कर उसका विधिवत आदर सत्कार करके वस्त्राभूषणो से अलकृत कन्या दान मे देता था। इस विवाह का प्रचलन ब्राह्मणो मे अधिक था इसलिए इसे ब्राह्म विवाह कहते थे। आजकल विवाह का सबसे अधिक प्रचलित रूप यही है यद्यपि वर्तमान समय मे दहेज की कुप्रथा का इसमे समावेश हो गया है। यह विवाह शक्तिप्रयोग कामुकता और धनलोभ से मुक्त था इसलिए विवाह का श्रेष्ठ प्रकार था।

(2) **दैव** – यह ब्राह्म से कम प्रशस्त था। इस विवाह मे कन्यादान दैवयज्ञ के अवसर पर होता था इसलिए इसे दैव विवाह कहते थे। यह विवाह का वह रूप है जिसमे कन्या यज्ञ कराने वाले पुरोहित को दान में दी जाती थी। जिस समय समाज मे यज्ञ की प्रधानता थी लोग यज्ञ कराने वाले ऋत्विज को कन्याये देना पुण्यकर समझते होगे और वर के अन्य गुणो की परीक्षा पर ध्यान नही देते होगे लेकिन यज्ञ का महत्त्व घट जाने के साथ ही लोगो ने वर के गुणो

की परीक्षा किये बगैर अपनी कन्या देना उचित नही समझा होगा जिससे ऐसे विवाहो की प्रथा लुप्त हो गयी। विवाह की इस पद्धति का कन्यादान पुरोहित की यज्ञ सेवा से प्रभावित हुआ प्रतीत होता है। अत यह एक विशुद्ध दान नही है जबकि ब्राह्म विवाह मे कन्यादान एक विशुद्ध दान है।

(3) **आर्ष** – आर्ष शब्द का सम्बन्ध ऋषि' से है। लगता है इसमे कन्यादान किसी ऋषि को किया जाता होगा। आर्ष विवाह मे कन्या का पिता उसके भावी पति से यज्ञादि धर्म विहित कार्य पूरा करने के लिए एक या दो गोमिथुन लेकर उसे कन्या दान मे देता था। कुछ आचार्य इस गोमिथुन ग्रहण करने को कन्या शुल्क मानते हैं। वास्तव मे यह कन्यामूल्य नही है क्योकि गोमिथुन लेने का विधान मूल्य या धन लाभ की दृष्टि से नही था अपितु धर्म कार्य करने या कन्या को देने के लिए इसका विधान था। इसे कन्या के साथ वर को दे दिया जाता था। यद्यपि वर्तमान समय मे आर्ष विवाह का प्रचलन नही है फिर भी आजकल कुछ गरीब माता पिता आर्ष विवाह की भॉति वर पक्ष वालो से विवाह के धार्मिक कार्य पूरा करने के लिए कुछ रकम ले लेते है जिसे वे स्वय अपने पास नही रखते बल्कि उसे विवाह की रस्म पूरा करने मे खर्च कर देते हैं। अत यह रकम कन्या मूल्य नही है। ठीक इसी तरह से आर्ष विवाह मे लिया जाने वाला गोमिथुन भी कन्या शुल्क नही था क्योकि कन्यार्थ द्रव्य लेना मनु के अनुसार शुल्क नही है[15]।

(4) **प्रजापत्य** – तुम दोनो (वधू और वर) साथ मे धर्माचरण करो' ऐसा वचन कहकर तथा पूजनकर कन्यादान करना मनु के अनुसार प्रजापत्य विवाह है[16]। यह विवाह स्त्री पुरुष को प्रजापति के प्रति ऋण चुकाने का स्मरण कराता है और स्त्री–पुरुष को समान दर्जा प्रदान करता है। कहा जाता है कि प्रजापति जगत् स्रष्टा हैं। जैसे प्रजापति ने जगत की सृष्टि की उसी प्रकार विवाह सूत्र मे बॅधने वाले वर और वधू भी सन्तानोत्पादन के कार्य मे लगे ऐसा विचार इस विवाह से पुष्ट होता है। डा राजबली पाण्डेय का कथन है कि बाल विवाह के प्रचलन से इसका ह्रास हो गया क्योकि प्रौढ वर वधू ही इस विवाह की प्रतिज्ञा के अर्थ को समझ सकते थे। यह विवाह का सबसे कम प्रशस्त रूप था।

विवाह के उपरोक्त सभी प्रकार प्रशस्त हैं यद्यपि कोई अधिक प्रशस्त और कोई कम। मेरी समझ मे इनके प्रशस्त होने का प्रमुख कारण है इन विवाहो मे किया जाने वाला कन्यादान । तप, यज्ञ और स्वाध्याय के साथ दान को भी हिन्दुओ मे प्रमुख क्रिया के रूप मे स्वीकार किया गया है। दान मे भी कुछ महादान है जिनमे कन्यादान एक है। अत इन विवाहो के साथ दान की क्रिया सयुक्त होने के कारण इन्हे प्रशस्त और शास्त्र स्वीकृत माना गया है।

(5) **आसुर** – आसुर विवाह मे कन्या का दान नही होता है बल्कि इसमे कन्या का विक्रय होता है। कन्या के पिता अथवा अभिभावको को यथेष्ट धन

---

15 यासा नाददते शुल्क ज्ञातयो न स विक्रया।
अहण तत्कुमारीणामानृशस्य च केवलम । मनुस्मृति 3/54

देकर कन्या ग्रहण करना आसुर विवाह है। ब्राह्म के बाद वर्तमान समय मे आसुर का प्रचलन अधिक है। अकुलीन लोग जिनका विवाह आसानी से नहीं होता धन देकर अपना विवाह करते है। कुछ गिरे हुए दीन–हीन माता–पिता अपनी कन्या बेचकर जीवन निर्वाह करते हैं। यह प्रथा बुरी है। कन्या बेचना एक अमानुषिक कृत्य है। यही कारण है कि न तो प्राचीन काल मे ही विवाह का यह रूप प्रशसित था और न आज ही आदृत और प्रशसित है।

(6) **गान्धर्व** – इस विवाह के सम्पादन मे कन्या के माता–पिता अथवा अभिभावक का कोई हाथ नही रहता। वर और वधू दोनो पारस्परिक प्रीति तथा इच्छा से विवाह सूत्र मे आबद्ध हो जाते हैं। आधुनिक प्रगतिशील विचारक शायद इसे प्रगति का चिह्न मानकर इसकी मुक्तकठ से प्रशसा करे परन्तु वास्तव मे ऐसे विवाह सफल नही होते क्योकि इस विवाह का मूल पारस्परिक आकर्षण है। यह आकर्षण सदा एक सा नही बना रहता। इसमे धीरे–धीरे घटने की प्रवृत्ति पायी जाती है। इसके अलावा जो आत्मसमर्पण की प्रबलता शुरू मे वर और वधू मे होती है। वह विवाह के बाद ज्यो की त्यो नही रह पाती। गान्धर्व विवाह वर्तमान समय के प्रेम विवाह के (Love Marriage) के सदृश है। कामुकता से उद्भूत होने के कारण यह हीन प्रकार का विवाह है। प्रेम विवाह या गन्धर्व विवाह तो विघटित समाज का एक लक्षण है। डा० राजबली पाण्डेय का कहना है कि विवाह के इस प्रकार को गान्धर्व कहा जाता था क्योकि यह हिमालय की तराई मे रहने वाले गन्धर्वों के जन मे प्रचलित था।

(7) **राक्षस** – इस विवाह का प्रचलन सबसे अधिक क्षत्रियो मे था इसलिए इसे क्षात्र विवाह भी कहा जाता था। विवाह के इस रूप मे बल का प्रयोग होता था अत इसे Marriage by Capture भी कहा जा सकता है। मनु के अनुसार कन्या के परिजन पुरजन बन्धु बान्धवो और ग्रामवासियो का हनन कर गृह या द्वारादि को तोडकर रोती बिलखती हुई कन्या का बलपूर्वक हरण कर लाना 'राक्षस सज्ञक विवाह है[17]। मनु की उपर्युक्त परिभाषा मे युद्ध का चित्रण है। इससे सिद्ध होता है कि विवाह का यह रूप युद्ध प्रेमी जनो मे प्रचलित था और इस प्रकार प्राप्त स्त्रियो का उपयोग युद्ध की लूट के रूप मे किया जाता था। मनु के अनुसार यह विवाह क्षत्रियो के लिए प्रशस्त है। (मनुस्मृति 3/24)

(8) **पैशाच** – विवाहो मे सबसे अधम पैशाच विवाह है। यह तो सीधे–सीधे बलात्कार है। मनु के अनुसार सोई हुई मद से व्याकुल कन्या के साथ जब कोई व्यक्ति मैथुन करता है तो यह प्रकार पैशाच कहलाता है। जैसा कि पहले सकेत किया जा चुका है, कि इसे विवाह की श्रेणी मे इसलिए रखा गया ताकि इस परिस्थिति की शिकार हुई निर्दोष कन्या को अविवाहित रहकर भीषणतम कष्ट न उठाना पडे। जहाँ स्मृतिकारो ने इसे विवाह का रूप दिया वही वे ऐसे विवाहो की पुनरावृत्ति न होने पाये इसके बारे मे भी जागरूक दिखाई देते

है। उन्होने इसे निकृष्ट और निद्यनीय घोषित कर इसके प्रचलन पर रोक लगा दी। इसका प्रचलन बहुत ही असभ्य और बर्बर जनो मे रहा होगा।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि हिन्दुओ मे विवाह की एकरूप (uniform) पद्धति का अभाव था। विवाह के उपरोक्त आठ प्रकार मे से ही लोग किसी न किसी का सहारा लेते रहे होगे। भारतीय आर्यो मे यद्यपि विवाह के ये रूप साथ साथ जारी थे फिर भी विवाह बहुधा ब्राह्म विधि से ही किया जाता था।

विवाह की सीमाएँ – हिन्दू समाज मे जीवन साथी का चुनाव भी अनियमित नही छोडा गया। अपने जीवन साथी के चुनाव के लिए हिन्दू स्वतत्र न था। वह या तो एक निश्चित क्षेत्र के अन्दर ही विवाह कर सकता था उसके बाहर नही अथवा किसी दिये हुए क्षेत्र की सीमा के बाहर ही विवाह कर सकता था उसके अन्दर नही । इससे स्पष्ट है कि स्मृतिकारो ने हिन्दू विवाह को जीवन–साथी–चयन की दृष्टि से नियमित करने के उददेश्य से अन्तर्विवाही और बहिर्विवाही नियमो की व्यवस्था की।

अन्तर्विवाह – स्मृतियो की व्याख्या के अनुसार अन्तर्विवाह से तात्पर्य एक ही वर्ण के वर–वधू के बीच होने वाले विवाह सबध से है। अन्तर्विवाह की उपरोक्त परिभाषा सकुचित है। इससे तो अन्तर्विवाह के एक प्रकार (वर्ण अन्तर्विवाह) पर प्रकाश पडता है। अन्तर्विवाह किसी सीमा या क्षेत्र के भीतर होने वाले विवाह को कहते है चाहे यह सीमा या क्षेत्र वर्ण का हो चाहे जाति अथवा उपजाति का हो। वर्ण अन्तर्विवाह जाति अन्तर्विवाह और उपजाति अन्तर्विवाह आदि अन्तर्विवाह के विभिन्न रूप है। मनु ने विवाह के लिए द्विजो के वास्ते सवर्णा (अपने वर्ण की) स्त्री को ही प्रशस्त माना है। **(सवर्णाग्रे द्विजातीना प्रशस्ता दारकर्मणि–मनु 3/12)।**

बहिर्विवाह – हिन्दू विवाह के बहिर्विवाही नियम बहुत जटिल है। बहिर्विवाह से तात्पर्य अपने समूह के बाहर विवाह करने से है। जातियॉ अन्तर्विवाही समूह है लेकिन ये अन्तर्विवाही जातियॉ बहिर्विवाही समूहो मे विभक्त हैं। एक ही जाति के सदस्य अपने गोत्र से बाहर विवाह करते है। प्रथक–प्रथक गोत्र के सदस्य एक जाति मे पाये जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जातियॉ अन्तर्विवाही होती है और गोत्र बहिर्विवाही। हिन्दुओ मे सगोत्र सप्रवर और सपिण्ड विवाह वर्जित है। बहिर्विवाह के तीन प्रमुख रूपो का प्रचलन हिन्दुओ मे पाया जाता है। सगोत्र सप्रवर और सपिण्ड बहिर्विवाहो को समझने के लिए गोत्र प्रवर और सपिण्डता का अर्थ जान लेना अत्यन्त आवश्यक है।

गोत्र – गोत्र का शाब्दिक अर्थ गोशाला है। ऋग्वेद मे गोत्र से यही अर्थ लिया गया है। इसके अतिरिक्त यहॉ बादलो के समूह दुर्ग अथवा किला पर्वत श्रेणी अथवा पर्वतमाला के अर्थ मे भी इसका व्यवहार हुआ है। ऋग्वेद मे ऐसा कोई दृष्टान्त नही मिलता जहॉ पर गोत्र शब्द का प्रयोग एक सामान्य पितृ

17 हत्वा छित्त्वा व भित्त्वा च क्रोशन्ती रुदती गृहात।
प्रसह्य कन्या हरणम् राक्षसो विधिरुच्यते ।। मनुस्मृति 3/33

सत्ताक पूर्वज की सन्तानो के अर्थ मे हुआ हो फिर भी गोत्र सबधी विचार ऋग्वेद काल मे स्पष्ट रूप से विद्यमान था । अर्थववेद मे विश्वगोत्र शब्द आया है। यहाँ पर गोत्र शब्द स्पष्ट रूप से रक्त से सबधित पुरुषो के समूह का सूचक है। कालान्तर मे गोत्र शब्द परिवार का सूचक बन गया। किसी भी परिवार का गोत्र उस परिवार के अति प्राचीन प्रवर्तक ऋषि के नाम से प्रगट किया जाने लगा। कहा जाता है कि पहले कुछ गोत्रो का ही अस्तित्व था। अन्य गोत्र कर्म के अनुसार बाद मे उत्पन्न हुए है। वे गोत्र और उनके नाम उन गोत्र प्रवर्तक महर्षियो की तपस्या से ही समाज मे विख्यात है[18]। पी वी कणे ने गोत्र का निम्नलिखित अर्थ किया है –

"The general conception about gotra is that it denotes all persons who trace descent in an unbroken male line from a common male ancestor When a person says 'I am Jamadagni-Gotra' he means that he traces his descent from the ancient sage Jamadagni by unbroken male descent [19]"

मिताक्षरा के अनुसार गोत्र वह है जिसे परिवार मे मिली परम्परा से जाना जाता है (गोत्र वश परपरा प्रसिद्धम्) अर्थात् पूर्वज हमे बताते हैं कि हम किस गोत्र के है और हम अपने पुत्रो को वही सिखा देते है।

उत्तराधिकार और विवाह के मामलो मे गोत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान था। विवाह के समय गोत्र का विचार किया जाता था और एक गोत्र के स्त्री–पुरुष पति–पत्नी नही बन सकते थे। इसलिए हिन्दुओ मे असगोत्र विवाह का प्रचलन था। सगोत्र विवाह प्रतिबध ससार व्यापी है। दुरखीम के अनुसार असगोत्र विवाह का कारण टोटेम मे निहित है। अपने पवित्र रक्त की दिव्यता को सुरक्षित रखने के लिए जिनका समान टोटेम है उनमे आपस मे विवाह सबध वर्जित था। निकट सबधियो मे विवाह वर्जन की प्रथा हर समाज मे पायी जाती है। निकट सबधियो मे यौनाकर्षण को नियमित करने के लिए असगोत्र विवाहो का प्रचलन हुआ होगा। अब The Hindu Marriage Disabilities Removal Act 1944 द्वारा हिन्दुओ मे सगोत्र विवाह को भी वैध घोषित कर दिया गया अर्थात् सगोत्र विवाहो का प्रतिबन्ध समाप्त कर दिया गया।

प्रवर – वेदो मे प्रवर शब्द का उल्लेख नही है। वहाँ प्रवर का समानार्थक आर्षेय शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रवर शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'वरण करना' अथवा चयन करना। प्राचीन काल मे जिन प्रसिद्ध ऋषियो ने अग्नि प्रदीप्त की थी उनका नाम लेकर अपनी आहुतियो को देवताओ तक पहुँचाने के

लिए यज्ञकर्ता अग्नि प्रदीप्त करता था अत प्रवर शब्द यज्ञकर्ता के लिए अथवा एक से अधिक प्रसिद्ध ऋषियो का सूचक बन गया। कुछ आचार्य प्रवर को ऐसे ऋषि–समुदाय के रूप मे परिभाषित करते है जो एक गोत्र प्रवर्तक को दूसरे प्रवर्तक से पृथक करता है। (प्रवर गोत्र प्रवर्तकस्य मुनेर्व्यावर्तको मुनिगण इत्यर्थ)। प्रवर मे सबसे प्राचीन ऋषियो को शामिल किया जाता था। कणे के अनुसार प्रवर से तात्पय ऐसे ऋषि अथवा ऋषियो से होता है जो प्राचीन से प्राचीन काल मे रहते थे जो बहुत प्रसिद्ध थे और जो सामान्यत गोत्रऋषि के पूर्वज होते है[20]।

जब यह कहा जाता है कि सप्रवर और सगोत्र विवाह वर्जित है तो प्रवर और गोत्र अलग–अलग विवाह के लिए एक व्यवधान होता है। इसलिए एक कन्या जो यद्यपि सप्रवर नही है फिर भी सगोत्र हो सकती है और इसलिए विवाह के लिए अनधिकारिणी हो सकती है अथवा यद्यपि सगोत्र नही है फिर भी सप्रवर हो सकती है इसलिए विवाह की अधिकारिणी नही होती। उदाहरणार्थ यास्क वाधूल मौन और मौक के गोत्र एक नही है फिर भी इन गोत्रो से सबधित व्यक्तियो मे विवाह सभव नही है क्यो कि इन सबका प्रवर (भार्गव–वैतहव्य–सावेतस–इति) एक है। प्रवर परम्परा मे शामिल ऋषियो मे से यदि वर और वधू के परिवारो मे एक ऋषि भी उभयनिष्ठ (Common) है तो वे सप्रवर होगे और उनमे विवाह सबध नही हो सकेगा।

सपिण्ड – हिन्दुओ मे सपिण्डता के आधार पर भी विवाह–वर्जन का प्रचलन है[21]। सपिण्ड सबध मे आबद्ध लडके और लडकियॉ पति पत्नी नही बन सकते। विज्ञानेश्वर और जीमूत–वाहन ने सपिण्ड शब्द की व्याख्या अलग–अलग की है लेकिन सपिण्ड विवाह को दोनो वर्जित मानते हैं। मिताक्षराकार (विज्ञानेश्वर) के अनुसार असपिण्डा का अर्थ उस स्त्री से है जो सपिण्ड नही है और सपिण्ड से तात्पर्य उस स्त्री अथवा पुरुष से अथवा उन सभी से है जो समान (एक ही) पिण्ड से ताल्लुक रखते हैं[22]। अत मिताक्षरा प्रणाली मे पिण्ड शब्द शरीर' अथवा देह' के अर्थ मे व्यवहृत हुआ है। एक ही देह से सबध होने के कारण सपिण्डता (सपिण्ड सबध) का जन्म होता है। दो व्यक्तियो मे सपिण्ड सबध इस लिये होता है क्योकि उनमे एक ही शरीर के अश (रक्त कण) अथवा अवयव विद्यमान होते है। पिता और पुत्र सपिण्ड है क्योकि पिता के शरीराश (रक्त कण) पुत्र मे पाये जाते है। पितामह और पौत्र सपिण्ड है क्योकि पितामह के शरीरावयव पौत्र मे पौत्र के पिता के जरिये पहुच जाते है। माता और पुत्र सपिण्ड है क्योकि माता के देहकण पुत्र म विद्यमान है। जैसे कोई व्यक्ति अपनी माता का सपिण्ड होता ह वैसे ही मातामह (नाना आदि) का सपिण्ड होता है। नाना क शरीराश माता

के जरिये उस व्यक्ति मे पहुँच जाते है। अत स्पष्ट है जहाँ कही सपिण्ड शब्द का प्रयोग होगा उससे रक्त कण द्वारा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष (किसी के माध्यम से) रूप से एक ही शरीर से सबन्धित होने का बोध होगा। इस प्रकार हम देखते है कि सपिण्डता का क्षेत्र बहुत व्यापक है क्योकि इस अनन्त ससार मे इस तरह से तो सभी व्यक्ति सपिण्ड होगे। सपिण्डता के क्षेत्र को सीमित करने के लिए ही याज्ञवल्क्य ने यह निश्चित किया कि माता की तरफ से पॉच पीढियो तक और पिता की तरफ से सात पीढियो तक ही सपिण्ड सबध रहेगा।

मिताक्षरा व्याख्या के अनुसार सपिण्ड सबध की गणना मे निम्नलिखित नियमो का अनुसरण होना चाहिए –

(1) सामान्य पूर्वज को मिलाकर पीढियो की गणना होनी चाहिए।

(2) वर–वधू के माता–पिता का ध्यान रखकर पीढियो की गणना की जानी चाहिए।

(3) यदि वर अथवा वधू की माता की तरफ से पीढियो की गणना की जाये तो दोनो सामान्य पर्वूज से पॉच पीढी के बाद (छठी पीढी) या इससे आगे के होने चाहिए और यदि पिता पक्ष से गणना हो तो दोनो सामान्य पूर्वज से सात पीढी दूर हो अर्थात वे आठवी अथवा इससे आगे की पीढी मे पडते हो।

दायभाग मे पिण्ड का अर्थ श्राद्ध मे पितरो को दिया जाने वाला चावल का गोलक (ball of rice) है और दायभाग के अनुसार पिण्डदान द्वारा पूर्वजों तथा वशजो से सबद्ध होने वाला व्यक्ति सपिण्ड है। दायभाग प्रणाली मे सपिण्ड का महत्त्व उत्तराधिकार निर्णय की दृष्टि से अधिक है।

सपिण्ड–सबध–वर्जन के कारण– मानवशास्त्रियो ने सपिण्ड सबध–वर्जन के आधारो (grounds) से सबधित अनेक सिद्धान्तो को विकसित किया है।[23] कतिपय विद्वानो के अनुसार इनसेस्ट निषेध के कारण सापिण्डय निषेध था। कणे का कहना है कि भारतवर्ष मे सपिण्डता का निषेध दो कारणो से था प्रथम यदि निकट सबधी विवाह करते है तो उनके दोष उनकी सन्तानो मे अधिक वृद्धि के साथ हस्तान्तरित हो जाते है और दूसरे यदि निकट के रक्त सबधियो मे विवाह की अनुमति दी जाती है तो वहाँ गुप्त प्रेम घटनाये (Clandestine love affairs) हो सकती हैं जिसके फलस्वरूप नैतिकता की हानि होगी और ऐसी कन्याओ के लिए वर ढूँढना कठिन होगा जो एक ही घर मे दूर अथवा समीप के ममेरे मौसेरे फुफेरे अथवा चचेरे भाइयो (cousins) के साथ रह रही होगी।[24]

वर्तमान समय मे सपिण्ड सबध और उसकी गणना से सबधित नियमो ने अनेक कठिनाइयो को उत्पन्न कर दिया है। आज बढती हुई शिक्षा और लडकियो की विवाह योग्य आयु में वृद्धि के कारण प्रेम विवाहो मे वृद्धि हो रही है। प्रेमी और प्रेमिका सपिण्ड सबध जैसे महत्त्वहीन (छोटे–छोटे) मामलो को नही

सोचते परन्तु सपिण्ड विवाह--वर्जन का नियम प्राय अटल है। सप्रवर और सगोत्र विवाह तो हिन्दू मैरिज डिसएबिलिटीज रिमूवल ऐक्ट (1944) के अन्तर्गत वैध घोषित कर दिये गये परन्तु सपिण्ड विवाह तब तक वैध नही माने जाते जब तक प्रथा द्वारा ऐसे विवाहो को मान्यता न मिली हो। हिन्दू विवाह अधिनियम (1955) मे किन्ही दो हिन्दुओ के बीच विवाह होने के लिए इस शर्त का भी उल्लेख है कि कोई भी दो हिन्दू तब तक सपिण्ड सबध होने पर विवाह सूत्र मे नही बॅधेगे जब तक ऐसे विवाह की अनुमति देने वाली कोई प्रथा न हो।

अनुलोम एव प्रतिलोम विवाह — हिन्दुओ मे जीवन–साथी के चुनाव के अन्तर्विवाही और बहिर्विवाही नियमो के साथ–साथ अनुलोम और प्रतिलोम नियमो का भी चलन रहा है। अनुलोम और प्रतिलोम विवाह मे परिवार जाति अथवा वर्ण की उच्चता एव निम्नता का ख्याल प्रधान है। स्तर (उच्चता–निम्नता) के आधार पर विवाह के अनुलोम और प्रतिलोम भेद किए गए हैं। समान अथवा एक ही स्तर के नर--नारियो मे शादी होना एक अच्छी बात होने पर भी असमान स्तर के स्त्री–पुरुषो मे विवाह का प्रचलन रहा है। मनु ने सवर्ण विवाहो को प्रशस्त मानकर भी असवर्ण विवाहो को मान्यता दे रखी है। ब्राह्मण को चारो वर्णों मे विवाह करने की अनुमति थी। क्षत्रिय अपने वर्ण तथा अपने से निम्न दो वर्णों मे विवाह कर सकता था। वैश्य स्वय अपने वर्ण और शूद्र वर्ण मे विवाह कर सकता था। शूद्र की पत्नी शूद्रा ही हो सकती थी। स्तरण की व्यवस्था होने के कारण वर्णों मे अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह के उदाहरण मिलते हैं।

अनुलोम विवाह विवाह की वह पद्धति है जिसमे उच्च स्तर का पुरुष अपने से निम्नस्तर की कन्या से विवाह करता है। उच्च स्तर के लोग अपनी कन्याएँ निम्न स्तर के लोगो को देना पसन्द नही करते जिससे प्रतिलोम विवाहो की निदा की गई और इन विवाहो पर कुलीनो ने कठोर प्रतिबन्ध लगाए तथा इन्हे हीन घोषित किया। जब निम्न स्तर की वधू अपने से उच्च स्तर के वर के साथ विवाह करती है तो ऐसा विवाह प्रतिलोम विवाह कहलाता है। अमान्य घोषित होने पर भी प्रतिलोम विवाह हुए होगे। मनु ने अनुलोम सतति की अपेक्षा प्रतिलोम सतति को अधिक हीन माना।

अनुलोम विवाह कुलीनता पर आधारित है। इसीलिए इन्हे कुलीन विवाह (Hypergamy) कहना अनुचित न होगा। प्रतिलोम विवाह अकुलीनता पर आधारित है अत इन्हे अकुलीन विवाह (hypogamy) कहने मे कोई आपत्ति न होगी। ब्राह्मण कायस्थो क्षत्रियो एव अन्य जातियो मे कुलीनता का विचार मिलता है। ब्राह्मणो मे प्रतिष्ठा का मानदण्ड बिस्वा है। बिस्वा की अधिकतम सीमा 20 है और न्यूनतम सीमा शून्य है। शून्य अथवा बहुत ही कम बिस्वा के ब्राह्मण अकुलीन अथवा ढाकर कहलाते हैं। कुलीन लोग ढाकरो को अपनी कन्या देना नापसद करते है। ढाकर अपनी कन्याएँ कुलीनो को देने मे गौरव का अनुभव करते हैं।

अनुलोम विवाह क्यो ?—अनुलोम विवाहो का आरम्भ क्यो हुआ ? हिन्दू

परम्परा मे स्त्री क्षत्र हे और पुरुष क्षेत्रज्ञ। मान्यता यह है कि क्षेत्र चाहे कितना अच्छा क्यो न हो खराब बीज वाछित फल न दे सकेगा। उत्तम सतान हो इसक लिए अच्छे बीज की आवश्यकता है। उच्च कुल के पुरुष से जब निम्न कुल की कन्या का विवाह होगा तो उसस अच्छी सतान उत्पन्न होगी क्योकि बीज और क्षेत्र मे बीज अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके साथ ही जब उच्च परिवारो मे विवाह करने की परम्परा दृढ हो चली तब निम्न कुलो के लोग अविवाहित रहने लगे। आज भी ढाकरो का विवाह नही होता है। कन्या की भावी सतान अविवाहित न रहे इस हेतु लोगो ने कुलीनो के यहाँ उसका विवाह कर देना उत्तम समझा। रक्त शुद्धता, बीज श्रेष्ठता सतान के विवाह की सुगमता के कारण अनुलोम विवाहो को मान्यता मिली और प्रतिलोम विवाह अमान्य हुए।

अनुलोम विवाह के कुपरिणाम—उच्च कुल मे विवाह करने का नियम उक्त कारणो से प्रतिष्ठत हो गया लेकिन इससे अनेक बुराइयाँ समाज मे उत्पन्न हो गईं। नीचे इन बुराइयो का उल्लेख किया जा रहा है।

(1) **बहुपत्नीत्व प्रथा का जन्म**— बहुपत्नीत्व प्रथा अनुलोम विवाह पद्धति की एक बुरी देन है। यहाँ एक पत्नी व्रत का आदर्श रहा है। लेकिन जब उच्च कुलो मे सभी ने अपनी—अपनी कन्याएँ ब्याहना चाहा तो उच्च कुल वालो ने एक की जगह दो—दो तीन—तीन विवाह किये। यह जानते हुए भी कि अपनी कन्या का जिससे विवाह करने जा रहे हैं उसके पहले से ही पत्नी है। लोगो ने वर की कुलीनता से प्रभावित होकर अपनी कन्याओ का विवाह उससे कर दिया।

(2) **दहेज का प्रचलन एव उसमे उत्तरोत्तर वृद्धि**— अनुलोम विवाहो के कारण दहेज का प्रचलन हुआ होगा। कुलीन लोग अपने पुत्रो के विवाह मे मनमानी रकम दहेज के रूप मे वसूल करते है। अकुलीन लोग विवाह मे दहेज नही माँगते है लेकिन कुलीन लोग दहेज के लालच मे दो—दो तीन—तीन शादियाँ करते है।

(3) **स्त्री—बध प्रथा का चलन**— दूसरी शादी हो इसलिए पहली पत्नी की हत्या कर देने की प्रथा का जन्म कुलीन लोगो मे हुआ। दहेज मे पूरी रकम न मिलने पर बहू को सताना जली कटी कहना उसे घर से भगा देना और यहाँ तक कि उसे मार डालने के समाचार अखबारो मे छपते रहते है।

(4) **स्त्रियो की हीन अवस्था**— अनुलोम रीति से विवाह प्रचलन का एक कुपरिणाम है स्त्रियो की दयनीय दशा। स्त्रियो को उचित सम्मान न मिलना उनके स्वास्थ्य का ध्यान न रखना तथा उनके प्रति लापरवाही तथा उपेक्षा का रवैया अपनाना आदि सब कुलीन विवाहजन्य बुराइयाँ हैं।

(5) **बाल विवाह**— कुलीनों के लड़के बहुत जल्द ही ब्याह दिये जाते हैं क्योंकि जब वे कम उम्र के होते हैं तो उनके लिए दहेज की कम रकम चुकानी पडती है और वे माता पिता के अधीन रहते हैं जिससे वे माता—पिता के कहने से विवाह कर लेते हैं।

जब वे बडे हो जाते हैं और ऊँची शिक्षा प्राप्त कर लेत हैं तो दहेज की अधिक धनराशि लेकर विवाह करने की सोचते हैं।

(6) **अनाचार मे वृद्धि—** अनुलोम विवाहो से व्यभिचार मे वृद्धि होती है। जब एक पुरुष के तीन—चार स्त्रियॉं होगी तब अनाचार नही फैलेगा तो और होगा ही क्या ? बहुत से कुलीन घरानो की पत्नियॉं निर्दयतापूर्ण व्यवहार से ऊबकर भाग जाती हैं। बहुत सी पर—पुरुष—गामिनी बन जाती हैं।

(7) **अविवाहित स्त्री पुरुषो की सख्या मे वृद्धि**—अनुलोम विवाह के कारण कुलीन परिवारो की कन्याये अविवाहित रहती है और ढाकरो के लडके अविवाहित रहते है। ढाकर लोग तो कुलीनो को पैसा देकर उनकी लडकियॉं ब्याह लेते हैं और इस प्रकार एक सीमा तक अविवाहित स्त्री पुरुषो की सख्या को कम करते हैं लेकिन फिर भी कुलीनता की बात दिमाग मे भरी होने के कारण बहुत से लडके व लडकियॉं अविवाहित ही रह जाते है।

(8) **बेमेल विवाह**—उच्च घराने मे ही अपनी कन्या ब्याहने के ख्याल से जब लोगो ने कुलीन परिवारो के युवको के साथ दहेज न दे सकने के कारण अपनी कन्या का विवाह करने मे अपने को असमर्थ पाया तो उन्ही कुल के वृद्ध और विधुर लोगो के साथ विवाह सम्पन्न करना प्रारम्भ किया जिससे अनमेल विवाहों का चलन हुआ।

(9) **विधवाओ की सख्या मे वृद्धि**—पति—पत्नी की उम्र मे अत्यधिक अन्तर होने के कारण विधवाओ की सख्या मे वृद्धि हुई। वृद्धजन जो नदी के किनारे के वृक्ष के समान होते है उनके साथ कन्याओ का विवाह करने से विधवाओ की सख्या अवश्य बढेगी। जब एक पुरुष के कई पत्निया होगी तो उसके मरने पर एक साथ कई विधवाऍं हो जायेगी।



अध्याय 13

हिन्दू विवाह की समस्याये

(Problems of Hindu-marriage)

वैवाहिक क्षेत्र की समस्याऍ– हिन्दू समाज के समस्त क्षेत्रो मे कतिपय समस्याऍ और कुप्रथाऍ व्याप्त है। वैवाहिक क्षेत्र कोई इसका अपवाद नही है। बालविवाह विधवा पुनर्विवाह निषेध अनमेल विवाह विवाह विच्छेद पर प्रतिबन्ध बहुपत्नीत्व भिन्न–जातीय विवाहो पर रोक और दहेजप्रथा आदि कुछ वैवाहिक समस्याऍ है। प्रस्तुत अध्याय मे दहेज प्रथा पर जो कि हिन्दू विवाह की प्रमुख समस्या है विस्तार से प्रकाश डाला जा रहा है।

दहेज समापन आवश्यक– हिन्दू विवाह की प्रकृति जहॉ एक ओर सस्कारात्मक है वही दूसरी ओर इसमे दहेज का विषधर फुफकार रहा है। यदि इस विषधर पर नियत्रण नही लगाया गया इसे नष्ट करने की दिशा मे सरकार और मानव–सेवियो ने कोई ठोस कदम नही उठाया तो सारा समाज विषाक्त हुए बिना नही रहेगा। हिन्दू समाज कही दहेज रूपी अजगर की कुडली मे फॅसकर चूर–चूर न हो जाय इसके लिए त्यागी और साहसी पुरुषो को आगे बढकर इस कुप्रथा के निदान की व्यवस्था करनी होगी।

दहेज क्या है ?– दहेज वह धनराशि है जिसे कन्या का पिता या अभिभावक वर के माता–पिता या अन्य अभिभावक को अपनी कन्या के लिए वर प्राप्त करने के एवज मे विवशतावश चुकाता है। कुछ लोग इसे (दहेज को) नकद या वस्तु के रूप मे दिया गया उपहार (gift) समझते है। दहेज को उपहार समझने का विचार भ्रामक है क्योकि उपहार मे कुछ प्राप्त करने अथवा विवशता का तत्त्व सम्मिलित नही होता है। दहेज वर की कीमत स्वरूप लिया जाता है। अत दहेज को वर मूल्य (Bride groom-price) की भी सज्ञा दी जा सकती है।

दहेज मान मर्यादा का प्रश्न – आजकल दहेज मान मर्यादा का प्रश्न बन गया है । जो जितना ही अधिक दहेज पाता है उसकी उतनी ही अधिक प्रतिष्ठा मानी जाती है। यह प्रतिष्ठा का अजीब मानदण्ड है। इस बुराई के लिए समाज नाना प्रकार के कष्ट व यातनाये सहन करता है परन्तु इस रोग को नष्ट नही करता। दहेज सामाजिक शरीर का कैन्सर बन चुका है। कैन्सर का उपचार कठिन होता है। दहेज प्रथा का समापन भी आसान कार्य नही है, लेकिन इसका यह तात्पर्य कदापि नही है कि इसका उपचार अब है ही नही। आगे इसके उपचार पर प्रकाश डाला जायेगा।

दहेज विवाह का अनिवार्य अग–दहेज अब विवाह का अनिवार्य भग बन गया है। बिना दहेज के विवाह होता ही नही। दहेज की कोई अधिकतम या थूनतम सीमा निश्चित न होने के कारण लोग मनमाना दहेज मॉगते है। लडके का पिता अपने लडके का विवाह निश्चित करते समय दहेज के रूप मे उन समस्त व्ययो को कन्या के पिता से वसूलना चाहता है जिन्हे उसने अपने पुत्र के भोजन वस्त्र शिक्षा और अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति मे व्यय किया है।

दहेज के विषय मे विचित्र बात–दहेज के विषय मे सबसे विचित्र और दम्भ की बात यह है कि दहेज लेते समय व्यक्ति अधिक से अधिक लेना चाहता है और यदि देना पडे तो कम से कम देना चाहता है। दोनो बाते एक साथ कैसे हो सकती है। यह तो कुछ **हसब ठठाव फुलाउब गालू। दोउ न होइ एक सग भुआलू।।'** जैसी बात है।

दहेज का कोई औचित्य नही–दहेज प्रथा के पक्ष मे यह तर्क दिया जा सकता है कि दहेज से वर के परिवार की आर्थिक स्थिति मे सुधार होगा परन्तु इसमे सत्यता का पुट बहुत कम है। दहेज के धन से कोई व्यक्ति धनी होता है यह बात सन्देह जनक है। दहेज का रुपया–पैसा तो विवाह मे ही खर्च हो जाता है। यह धन टिकाऊ नही होता है अल्पकाल मे ही समाप्त होने वाला है। इसीलिए दहेज की उपमा ऑधी के आमो से दी जाती है। ऑधी के आम और दहेज के दाम टिकाऊ नही होते है। लडकी का पिता या अन्य अभिावक तो दहेज देकर ऋणी हो जाता है और वर के पिता को कोई विशेष लाभ नही होता है क्योकि जो कुछ उसे दहेज के रूप मे मिलता है उसे नाई धोबी कहार लोहार बारी बाजे वाले आतिशबाजी वाले तथा अन्य नेगी लोग ले लेते है। तो फिर लोगो को दहेज से इतना प्रेम क्यो है कि वे इसका अन्त नही करते। जब दहेज का प्रभाव कन्या पक्ष के लिए घातक है और वरपक्ष के लिए लाभकारी नही तो फिर ऐसा काम क्यो किया जाय जिससे 'बकरी की तो जान जाय और भेड़िये को स्वाद न मिले की कहावत चरितार्थ हो।

दहेज क्यो ?– किसी भी समस्या के उपचार के विषय मे सोचने के पूर्व उस समस्या को जन्म देने वाले कारणो का पता लगाना अनिवार्य है। प्रश्न है कि हमारा भारतीय समाज दहेज का शिकार कैसे बन गया ? इसके कारण अधोलिखित है–

(1) **सीमित चयनक्षेत्र** – मेरी समझ मे विवाह के चयन–क्षेत्र (area of selection) का अत्यधिक सीमित होना और इस सीमित दायरे के अन्तर्गत आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न और सामाजिक दृष्टि से प्रतिष्ठित परिवारो का कम पाया जाना आदि दहेज प्रथा की उत्पत्ति के लिए सबसे प्रधान कारण है। जब एक सकुचित और छोटे दायरे से ही वर का चयन करना है और उसके बाहर नही तो फिर मनुष्य के लिए और कोई विकल्प रहता ही नही सिवाय इसके कि वह सीमित दायरे से वर का चुनाव करे। जब कन्याओ की सख्या पर्याप्त हो और

योग्य वरो की सख्या कम हो वर–चयन मे प्रतियोगिता का प्रवेश आपरूप हो जायेगा। खाते–पीते और कुलीन परिवारो मे सभी अपनी कन्याये व्याहना पसन्द करेगे। ऐसी स्थिति मे ये सम्पन्न और कुलीन परिवार वाले अपने लडको का विवाह वही करेग जहॉ से इन्हे दहेज क रूप मे अधिकतम धनराशि प्राप्त होगी क्योकि इन्हे अपने लडको को अविवाहित रहने का भय तो होता ही नही है। इसका फल यह होगा कि गरीब माता–पिता अपनी कन्या का विवाह करने मे कठिनाई और निराशा का सामना करेगे। यौवन काल सवेगात्मक दृष्टि से उथल–पुथल और हलचल का समय होता है। जब ये गरीब अपनी यौवन को प्राप्त कन्याओ का विवाह नही कर पाते है तो वे पलायन कर जाती है।

(2) **द्रव्य महत्त्व–** भौतिक मूल्यो और दहेज मे प्रगाढ सम्बन्ध है। रुपया–पैसा का बढता हुआ महत्त्व दहेज प्रथा के उद्भव के लिए जिम्मेवार है। वर्तमान युग मुद्रा का युग है। आजकल जब सभी वस्तुओ का मूल्य मुद्रा के रूप मे ऑका जाता है तो ऐसे विवाह की प्रशसा करना स्वाभाविक ही है जिसमे दहेज के रूप मे अधिक से अधिक द्रव्य दिया गया हो।

(3) **बाल विवाह–** बाल विवाह दहेज का कारण और परिणाम दोनो है। मेरी समझ मे बाल विवाहो का भी दहेज की उत्पत्ति मे कम योगदान नही है। बाल–विवाहो मे वर और वधू को विवाह निर्धारण मे कोई महत्त्व नही प्रदान किया जाता । अभिभावक ही विवाह निश्चित करते हैं। ये अभिभावक दहेज के लालच मे अन्धे होकर वधू के गुणो आदि की परीक्षा नही करते है जिससे वर–वधू का दाम्पत्य जीवन नीरस हो जाता है। यदि प्रस्तावित वर–वधू युवा हो तो उनके लिए विवाह मे दहेज का उतना अधिक महत्त्व नही होगा जितना एक दूसरे की चारित्रिक एव वैयक्तिक विशेषताओ का । ऐसी हालत मे फल यह होगा कि दहेज प्रभावित हुए बिना नही रहेगा।

(4) **लडकी ससुराल मे प्रेम–भाजन बने**–एक बात यह भी है कि कुछ माता–पिता चाहते है कि उनकी कन्या जिस घर मे बहू बनकर जाय उस घर मे विद्यमान अन्य सभी बहुओ की अपेक्षा उसे अधिक प्रतिष्ठा और सम्मान मिले। इसलिये वे अपनी कन्याओ को चोरी–छिपे बहुमूल्य जेवरात उपहार और नकद धनराशि दे देते है और अधिक धन दहेज के रूप मे देने की चेष्टा करते है। जब तक यह प्रतियोगिता रहेगी दहेज मिटाना कठिन है।

दहेज के कुपरिणाम–दहेज समाज के लिए कलक है और इसके दुष्परिणाम सर्वविदित हैं। नीचे कुछ दहेज के दोषो का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है–

(1) **विवाह जैसा पुण्य कृत्य सौदा बन गया**–दहेज–कुप्रथा ने विवाह जैसे पुण्य एव संस्कारात्मक कृत्य को सौदा का विषय बना दिया है। जब कन्या पक्ष के लोग वर–पक्ष के यहॉ विवाह तय करने जाते हैं तो उनसे दहेज की एक निश्चित धनराशि मॉगी जाती है । यदि कन्या पक्ष के लोगों को यह

धनराशि देना स्वीकार है तो विवाह पक्का हो जाता है अन्यथा नही।

(2) **विवाह को नरक बना देता है**—दहेज वैवाहिक सुख शान्ति छीनने मे सहायक है। समाज मे बहुत माता–पिता दहेज के लालच मे पडकर कुरूप और दुश्चरित्र वधू प्राप्त कर लेते है जिससे वधू और वर मे आकर्षण के बजाय प्रतिकर्षण की भावना जाग उठती है और तब विवाह नरक और दु ख का रूप ग्रहण कर लेता है। ऐसे दम्पतियो मे जीवन पर्यन्त या तो कलह और मार पीट की स्थिति बनी रहती है या विवाह सम्बन्ध ही नष्ट हो जाता है।

(3) **वधू–हत्या**—दहेज ने वधू–हत्या–प्रथा का जन्म दिया है। सीमित आर्थिक सामर्थ्य वाले माता–पिता दहेज की अधिक धनराशि वर पक्ष को चुका न सकने के कारण आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न और प्रतिष्ठित घरानो मे कन्या का विवाह नही कर पाते है। कभी–कभी दहेज का झूठा वायदा करके अपनी कन्या का विवाह कर लेते हैं और विवाहोपरान्त वायदा की हुई दहेज राशि का भुगतान न कर पाने पर स्वय तिरस्कृत होते हैं और अपनी कन्या को तिरस्कार का भाजन बना देते हैं। हमारे देश मे ऐसे भी दृष्टात है जहॉ दहेज का भुगतान न होने की स्थिति मे वधू को मौत के घाट उतार दिया गया है। जो माता–पिता दहेज धन का समस्त भुगतान नही करते हैं उनकी कन्याओ को अपार और दुसह्य कष्ट सहन करने पड़ते हैं। अपने दामाद और समधियो की निर्मम क्रियायो से कन्या के माता–पिता को भी असह्य वेदना होती है।

(4) **स्त्री की हीन दशा के लिए उत्तरदायी**—हमारे समाज मे स्त्रियों और कन्यायो को उनका उचित स्थान न मिलने देने मे दहेज काफी सीमा तक सहायक है। दहेज के ही कारण पुत्री–जन्म दुखदायी है।

(5) **बहुपत्नीत्व एव अनमेल विवाह का सर्जक**—बहुपत्नी प्रथा तथा बेमेल विवाह दहेज के कुपरिणाम है। दहेज न दे सकने के कारण गरीब माता पिता ऐसे पुरुष से भी अपनी कन्या का विवाह कर देते हैं जिसके पहले से ही पत्नी होती है। कभी–कभी बहुत अधिक उम्र के वर के साथ अपनी कम उम्र की कन्या का विवाह कर देते हैं । दहेज के लालच मे कुलीन लोग कई विवाह कर लेते हैं और अपनी पूर्व पत्नियो को त्याग देते है अथवा उनकी हत्या कर देते है।

(6) **आत्म हत्याओ मे सहायक**—दहेज बालिकाओ एव स्त्रियो की आत्महत्या के लिए वातावरण की सृष्टि करता है। जब गरीब माता–पिता दहेज न दे सकने के कारण अपनी कन्या का विवाह नही कर पाते है तो कुछ कन्याएँ आत्महत्या करके अपनी जीवन लीला समाप्त कर लेती है। विवाहोपरान्त भी दहेज की रकम का भुगतान न होने पर वधू को जब पीडित किया जाता है तो इस पीडा से छुटकारा पाने के लिए या तो भाग जाती है या आत्महत्या का सहारा लेती है।

(7) **ऋणग्रस्तता**—दहेज बहुत से परिवारो को ऋणी बना देता है। दहेज

के कारण विवाह बहुत खर्चीला सस्कार हा गया है। कमरतोड महँगायी के कारण यथेष्ट पैसा बचा पाना कठिन है। पैसे के अभाव मे दहेज के रूप मे धन देने के लिए कर्ज लेना पड जाता है जिसका भुगतान मय ब्याज करना पडता है और माता–पिता के लिए दहज के कारण ही कन्या ऋणग्रस्तता का कारण बन जाती है।

(४) बाल विवाहो का प्रचलन–दहेज का एक दुष्परिणाम बाल विवाह है। जब तक वर कम उम्र का होता है वह कम शिक्षित होता है और नौकरी मे भी नही लगा होता है जिससे उसके लिए दहेज की कम धनराशि ही चुकानी पडती है। इसी से लोग कन्याओ का विवाह जल्दी ही कर देना उचित समझते है। देर से विवाह करने पर शिक्षित एव नौकरी मे लगे वर के लिए दहेज की अधिक रकम देनी पडती है।

दहेज–प्रथा का समापन कैसे हो ?– दहेज समापन के विषय मे जैसे ही कोई विचार करता है तो कई बाते दिमाग मे चक्कर काटने लगती है। सर्वप्रथम तो यही सन्देह मन मे उत्पन्न होता है कि क्या इसे मिटाया जा सकता है क्योकि धन–लिप्सा और शक्ति–लिप्सा मनुष्य के मस्तिष्क मे इस तरह समायी हुई है कि इन्हे मस्तिष्क से निकालना एक कठिन कार्य है। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तानी मस्तिष्क मे तू डाल–डाल मे पात–पात का अवगुण समाया हुआ है क्योकि यहॉ अगर किसी काम को एक तरीके से मना किया जाता है तो दूसरे तरीके से वही काम होने लगता है। उदाहरणार्थ यदि कानून बनाकर दहेज को रोका जाय तो सम्भवत विवाह मे दहेज की सामग्री लेने के बजाय लोग बारात ले जाने के पहले ही वाछित धनराशि ले लेगे और इस प्रकार वे दहेज लेगे भले ही उसे दहेज का नाम न दिया जाय। लडकी ससुराल मे प्रेम भाजन बने इसलिए लोग चुपके से दहेज की धनराशि दे देते है। जब तक यह भावना रहेगी दहेज समापन कठिन है। हिन्दू समाज की कुछ बुरी मान्यताये दहेज समापन की दिशा मे बाधक है। उदाहरणार्थ लडकी को जब तक अभिशाप माना जायेगा और उसे पुत्र के समान दर्जा नही दिया जायेगा तब तक दहेज ऐसे ही बना रहेगा। यौन–अनैतिकता के क्षेत्र मे भी पुत्र और पुत्री को समान निगाह से न देखना हिन्दू समाज का एक दोष है। यदि लडकी यौन अनैतिकता की दोषी है अथवा शिकार हो गयी है तो उससे कुटुम्ब का अधिक नुकसान हुआ माना जाता है और यदि पुत्र इसका दोषी है तो कोई खास बात नही है क्योकि यदि गॉवो मे यौन दुराचार का कोई मामला आता है तो लडके वालो को यह कहते हुए मैने स्वय सुना है कि इसमे मेरा सिर नीचा क्यो होगा क्योकि मेरा तो लडका था इज्ज्त तो लडकी वालो की गयी। मेरी समझ मे यह दोहरी यौन–नैतिकता भी दहेज की समाप्ति मे व्यवधान है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका तात्पर्य यह नही है कि दहेज का समापन नही किया जा सकता है । पहले दहेज को कम करने की दिशा मे

प्रयत्न किये जाये और फिर धीरे–धीरे इस प्रथा का उच्छेद ही कर डाला जाय क्योकि इसी के उच्छेद से ही गरीब माता–पिता को शान्ति मिल सकेगी और स्त्रियो का जीवन सुखमय बन सकेगा। दहेज–समाप्ति के कुछ उपायो का उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

(1) **बहिष्कार**–जब तक जनता दहेज का हृदय से बहिष्कार न करेगी दहेज समाप्ति के आन्दोलन को वाछित सफलता न मिल सकेगी। दहेज का बहिष्कार कौन करे? दहेज का बहिष्कार वर और वधू दोनो करे। यदि युवतियाँ इस बात की प्रतिज्ञा कर ले कि जो दहेज माँगेगा उसके साथ विवाह नही करेगी और युवक यह व्रत ले ले कि यदि कोई चोरी छिपे या अन्य किसी भी तरीके से अपनी लडकी को दहेज देगा तो उसके यहाँ वह शादी नही करेगा तो काम चल सकता है। कभी- कभी अधिक दहेज लेकर आने वाली पत्नी अपने पति के ऊपर हावी होने की कोशिश करती है और अपने मायके वालो के बडप्पन मे चूर रहती है और युवको के माता पिता भी दहेज का धन लेकर उनके लिए अक्सर कुरूप भोडी गुणहीन और शील–त्यक्ता पत्नी का चुनाव कर लेते है। इसलिये युवको को चाहिए कि वे अपने जीवन साथी के चयन का भार सौपते हुए यह भी कह दे कि जहाँ से दहेज मिलेगा वहाँ विवाह नही होगा। आजकल युवको और युवतियो सभी मे यह गुण देखने को मिलता है कि उन्हे दहेज से बहुत प्रेम है और दहेज से विलासिता की चीजें खरीदना उन्हे बहुत अच्छा लगता है। आजकल दहेज का जो प्रचलन है वह वर–मूल्य (ब्राइडग्रूम प्राइस) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है क्योकि आजकल माता–पिता अपने पुत्र की शादी वही करते है जो उनके पुत्र की सबसे ऊँची बोली लगाता है। यह सरासर अन्याय है अमानुषिक कृत्य है समाज विरोधी और घृणास्पद कार्य है। कहते हैं कि शिक्षा के प्रचार और प्रसार के साथ–साथ दहेज की रकम मे भी वृद्धि हुई है क्योकि शिक्षित युवको मे दहेज लेने की प्रबल इच्छा मिलती है और शिक्षितो को लोग दहेज देते भी अधिक हैं। आज शिक्षित और जागरूक युवतियो को चाहिए कि वे किसी भी प्रकार अपने को युवको से हीन न समझे और विवाह को एक तरफा आवश्यक न समझे। वे युवको को अपने धैर्य द्वारा यह आभास करा दे कि विवाह केवल लडकी की ही गर्ज नही है युवक भी विवाह करना चाहता है। जब विवाह दोनो (युवक और युवती) के समान आग्रह से सम्पन्न होगा तो लडकी या युवती के माता पिता को दहेज देने के लिए विवश नही किया जा सकेगा । मेरा तो निश्चित मत है कि यदि सारी युवतियाँ धैर्य और साहस से काम ले ले और थोडा कडा रुख अपना ले तो युवक दहेज की बात करना तो भूल ही जायेगे उल्टे खुद युवती और उसके माता–पिता की खुशामद करेगे और अपने पास से धन खर्च करने के लिए तैयार हो जायेगे । हर गाँव मे कुछ ऐसे मिलेगे जिनकी शादी नही होती है या तो अकुलीन होने के कारण या गरीब होने के कारण या अन्य किसी कारण से। ऐसे लोगो को मैंने स्वय देखा है कि शादी का नाम सुनते ही उनके

मुँह मे पानी आ जाता है और इनकी शादी कर देने को जो कहता है उसके समक्ष अपना सब कुछ अर्पण करने को तैयार हो जाते है। ऐसे लोग प्राय ठगे जाते है। एक बार या दो बार ठग जाने पर भी विवाह करने का इनका हौसला पस्त नही होता है। युवतियो मेरा आप से निवेदन है कि जरा धैर्य साहस और दूरदर्शिता से काम लो तो युवको को झुकना ही पडेगा और दहेज मिटकर रहेगा। युवक भाइयो जरा नम्र हो जाओ अपनी कमायी का सहारा करो दहेज के सहारे अपनी शान बढाने की बुरी इच्छा त्याग दो दहेज का सवाल छोड दो सभी को अपने बराबर दर्जा दो इसी मे भलाई है नही तो दुर्दिन देखने पड सकते है। कही ऐसा न हो कि आप अविवाहित ही रह जाये।

(2) **विलम्ब विवाह**—महात्मा गाँधी जी ने दहेज समापन के लिए विलम्ब विवाहो पर बल दिया है। उनका कहना है कि जब तक लडकियॉ अपने मे यह सामर्थ्य विकसित नही कर लेती है कि वे अधिक समय तक क्वारी या अविवाहित रह सके तब तक दहेज प्रथा को जबर्दस्त चोट नही पहुँचाई जा सकती है। मेरा तो ख्याल है कि केवल विलम्ब विवाहो से ही काम न चलेगा। दहेज प्रथा को मिटाने के लिए युवतियो को अविवाहित रहकर जीवन बिताने के लिए अपने को तैयार करना पडेगा। हमारे यहॉ ऐसी भी युवतियॉ पडी हैं जिनका कहने को तो विवाह हो गया है लेकिन वास्तव मे हुआ नही क्योकि उन्होने अपने पति का मुख भी नही देखा और वैधव्य को प्राप्त हुयी। ऐसी युवतियो ने अपना जीवन अविवाहित रहकर ही बिता दिया तो क्या कारण है कि क्वॉरी लडकी अविवाहित जीवन न बिता सके । बाल विवाहो के प्रचलन के कारण कई दृष्टियो से दहेज देना पडता था। एक तो लडकी छोटी होती थी उसकी बुद्धि अविकसित रहती थी ऐसी स्थिति मे सास उसे कुछ न कहे और अपना प्रेम पात्र बना ले इसलिये माता—पिता दहेज के रूप मे धन या उपहार देते थे। जब लडकी काफी सयानी और समझदार होगी तो कोई दहेज क्यो देने लगेगा।

(3) **भिन्न जातीय विवाह**— कुछ विद्वान भिन्न—जातीय विवाह को दहेज प्रथा का एकमात्र हल स्वीकार करते है। वास्तव मे अकेले भिन्न जातीय विवाहो के प्रचलन से दहेज प्रथा को मिटाना सम्भव नही है। यह जरूर सच है कि भिन्न जातीय विवाह दहेज प्रथा को मिटाने मे सफल व कारगर उपाय है। भिन्न जातीय विवाह का तात्पर्य अपनी जाति मे विवाह के नियम को तोडकर अपने से भिन्न दूसरी जाति मे विवाह करना है। अब अपने से भिन्न दूसरी जाति निम्न जाति भी हो सकती है। मेरा मत है कि अपने से भिन्न किसी दूसरी साफ सुथरी जाति मे विवाह करने मे कोई हर्ज नहीं है। जब लोग अपनी जाति के अटूट नियम को तोड़कर दूसरी जातियो मे विवाह करने लगेगे तो इसका असर विवाह मे जीवन साथी चुनने के क्षेत्र पर पडेगा। जब जीवन साथी का चयन क्षेत्र सीमित होगा तो सीमित दायरे से माता—पिता को अपनी सतान के लिये जीवन साथी चुनना पडेगा। उदाहणार्थ यदि ब्राह्मण जाति से ही जीवन—साथी चुनने का अवसर सुलभ रहेगा लेकिन यदि वह अब्राह्मण जाति मे विवाह करने को

स्वतत्र हो तो वह उस ब्राह्मण के यहॉ विवाह नही करेगा जो दहेज मॉगता है और ऐसे अब्राह्मण के यहॉ विवाह कर लेगा जो दहेज नही मॉगता है और इस प्रकार दहेज लेने को हतोत्साहित किया जा सकता है। भिन्न–जातीय विवाहो को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार को भी चाहिए कि जो व्यक्ति भिन्न जातीय विवाह करे उसे कुछ सुविधाये प्रदान करे। उदाहरणार्थ जो किसी नौकरी मे हो और वह भिन्न जातीय विवाह करे तो उसे एक अग्रिम इन्क्रीमेट मिले और जो नौकरी मे न हो उसे ऐसा विवाह करने पर पॉच सौ रुपये की धनराशि पुरुस्कार के रूप मे दी जाये।

(4) **दहेज–विरोधी वातावरण की सृष्टि**–दहेज–विरोधी प्रचार भी दहेज–समापन की दिशा मे एक ठोस कदम है । दहेज विरोधी पोस्टर लगाये जाये। दहेज से उत्पन्न हानियो व दोषो का ज्ञान जनता को कराया जाय। इसके लिए रेडियो, चलचित्र समाचार पत्र मच आदि का आश्रय लिया जा सकता है। दहेज के खिलाफ जब हवा फैल जायेगी तो दहेज जरूर समाप्त होगा। दहेज लेने की मनोवृत्ति को बदलना बहुत जरूरी है। दहेज–विरोधी मनोवृत्ति पैदा करने मे माता–पिता विशेषकर माता महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। सभी माताओ को चाहिए कि जब बच्चा पैदा होकर कुछ बडा हो तभी से बच्चे को सिखाना शुरू कर दे कि दहेज लेना पाप है दहेज एक अवाछित वस्तु है और दहेज लेना व देना दोनो अनुचित है। जब सामाजीकरण के माध्यम से बच्चो मे दहेज के प्रति घृणा का भाव जगा दिया जायेगा और वे दहेज को नफरत की निगाह से देखने लगेगे तो दहेज अपने आप मिट जायेगा।

इन सब उपायो के साथ–साथ दहेज लेना कानून द्वारा भी वर्जित होना चाहिए। यह सच है कि अकेले कानून दहेज को नही मिटा सकता है लेकिन इसे मिटाने के लिए कानून की मदद आवश्यक है। केवल कानून बना देने से काम नही चलता है। दहेज निरोधक जो कानून बने उसमे दहेज को कागनीजिबुल अफेन्स माना जाय। यदि दहेज को कागनीजिबुल अफेन्स करार दिया जाय और पुलिस स्वयं निगरानी करके दहेज लेने व देने वाले दोनो के खिलाफ कार्रवाई करे तो कोई कारण नही कि दहेज न मिटे। दहेज मिटाने के लिए कार्रवाई बडे पैमाने पर दहेज लेने व देने वालो का पता लगाकर उन्हे जेल भेजना व उन पर जुर्माना करना तथा दहेज की जो रकम हो उसे जब्त कर लेना आवश्यक है। जिस समय लगने (विवाह का शुभ समय) हो उस समय सरकार कुछ उडन दस्ते तैयार करे जो दहेज लेन–देन का पता लगाये। इस सम्बन्ध मे थोडा सा सी आई डी की सहायता लेना भी आवश्यक है। कुछ स्वय सेवियो के भी दल गठित करके दहेज के लेन–देन पर रोक लगानी चाहिए। अखिल भारतीय दहेज वर्जन समिति की तरफ से कुछ स्वय सेवियो के जत्थे तैयार किये जाने चाहिए जो दहेज प्रथा को हतोत्साहित करने के साथ नैतिक बल का आश्रय लेकर जनता को दहेज न लेने के लिये मजबूर कर सके।



अध्याय 14

हिन्दू परिवार

परिवार की समाज मे केन्द्रीय स्थिति– परिवार समाज की आधारभूत जैविक और सामाजिक इकाई है। परिवार की इस कन्द्रीय स्थिति को ही लक्ष्य कर पार्सन्स और बेलस जैसे समाजशास्त्रियो ने इसे समाज की लघु व्यवस्था अथवा उपव्यवस्था (sub system) के रूप मे स्वीकार किया है।[1] व्यक्ति को मानव स्वभाव (human nature) प्रदान करने मे परिवार का अभूतपूर्व हाथ है। जन्म के समय कोई भी शिशु मानव नही होता है। वह एक अविभाज्य जैविक इकाई होता है लेकिन जन्म के बाद उसमे परिवर्तन होना आरम्भ हो जाता है। वह दूसरे व्यक्तियो के सम्पर्क मे आता है और सचार की प्रक्रिया द्वारा दूसरे व्यक्तियो की मनोवृतियो को अन्तरीकृत करता है सामाजिक आदर्शों (social nforms) को सीखता है। सक्षेप मे व्यक्तित्व का निर्माण करता है । इसके पश्चात ही वह वास्तविक अर्थ मे मनुष्य (person) बनता है। परिवार नवजात व्यक्ति को समाज के सॉचे मे ढालने का कार्य करता है। अपने मध्य मे जन्म लेने वाले लोगो के आरम्भिक जीवन मे यह परिवार सम्पूर्ण समुदाय के रूप मे कार्य करता है परनतु जैसे–जैसे शिशु यौवन और बाद मे प्रौढता की ओर अग्रसर होने लगता है वैसे–वैसे इसका प्रभाव भी क्रमश मन्द पडने लगता है।

प्राय सरल समाजो और अधिक समुन्नत पितृमूलक समाजो मे सम्पूर्ण सामाजिक सरचना पारिवारिक इकाइयो से बनी है। केवल अधिक विकसित सभ्यताओ मे ही परिवार इस कार्य को नही पूरा करता है फिर भी इनमे विद्यमान स्थानीय समुदाय और सामाजिक वर्गों के विभाजन (डिवीजन) परिवारो से ही मिलकर बनते है। अरस्तू ने समुदाय की परिभाषा परिवार समूहो क रूप मे की है। उनकी राय मे समुदाय परिवारो का समूह है"।

समाज के सतत अस्तित्व के लिए भी परिवार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सस्था[2] है। समाज का क्रम न टूटने पावे इसके लिए आवश्यक है कि कुल परम्परा भी नष्ट न हो। समाज की निरन्तरता और अटूट वशक्रम के लिये सन्तानोत्पादन का कार्य अति महत्त्वपूर्ण है। सन्तानोत्पादन परिवार के मौलिक कार्यों मे से एक है। परिवार बच्चे को उत्पन्न कर, उसका पालन–पोषण कर उसे समाज मे एक स्थान देता है। सम्भवत: इसीलिए विद्वानो ने इसे पद प्रदान करने की ऐजेन्सी (status giving agency) कहा है। व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था मे एक

1 Talcott Parsons and Robert F Bales Family , Socialization and Interaction Process The Free Press, Glencose, 1955, p 19

2 देखे वेदालकार हरिदत्त हिन्दू परिवार मीमाशा सरस्वती सदन मसूरी 1963 पृ० 1

निश्चित पद प्राप्त कर उससे सम्बन्धित कुछ अधिकारो और कर्तव्यो को पूरा करता है। इन अधिकार और कर्तव्यो की पूर्ति मे ही समाज का अस्तित्व निहित है। समाज एक fuctional whole है। Functional whole के रूप मे समाज तभी बना रह सकता है जब उसके सदस्य अपनी निर्धारित भूमिकाओ को पूरा करते रहे और जो पद समाज के रिक्त होते जावे उन्हे परिवार और दूसरे व्यक्तियो द्वारा भरता रहे। यदि समाज के रिक्त पदो को भरा न जाय तो परिवार और समाज तथा मानव प्रजाति का अन्त हो जाय क्योकि व्यक्तियो की मृत्यु से पर उत्तरोत्तर खाली हो जायेगे और ऐ ऐसी भी स्थिति आ जायगी जब सभी पद खाली हो जायेगे और सभी पदो को रिक्त होने का अर्थ है मानव प्रजाति का नाश और स्वय समाज का अन्त । अत इस दृष्टि से भी परिवार समाज की मौलिक इकाई है।

सार्वभौम सस्था– परिवार ऐसा सगठन है जो सर्वव्यापक है। समाज मे विकास के हर स्तर पर हमे परिवार का कोई न कोई रूप अवश्य मिलता है। वैवाहिक सूत्र मे आबद्ध पति–पत्नी और उनके अविवाहित बच्चो से बना हुआ परिवार सभी स्थानो और कालो मे पाया जाता है। विकास वेत्ताओ का कहना है कि मानव सस्कृति के आदि काल मे पारिवारिक सगठन नही था लेकिन यह दृष्टिकोण काल्पनिक मालूम होता है क्योकि आज तक आदिवासी तथा अन्य प्रकार के जो भी समाज प्राप्त हुए हैं सबमे परिवार का कोई न कोई रूप अवश्य विद्यमान है।

सास्कृतिक परिवर्तनशीलता– पारिवारिक सगठन प्रत्येक सस्कृति मे देखने को मिलता है लेकिन परिवार का रूप सभी सस्कृतियो मे एक सा नही है। मानव समाज मे परिवार के अनेक रूप दृष्टिगोचर होते है । यह रूप की परिवर्तनशीलता कुछ तत्त्वो पर निर्भर करती है जो इस प्रकार है–

(1) विवाह सम्बन्ध के रूप (Forms of Matıng Relatonshıp)–विवाह सम्बन्ध जन्मजन्मातर का हो सकता है अथवा एक जन्म या जन्म के थोड़े काल तक का ही हो सकता है। किसी संस्कृति में एक विवाह प्रथा का आदर्श है तो दूसरी मे बहु–विवाह प्रथा का। कुछ आदिम समाजो मे यूथ विवाहो (group marrıage) का प्रचलन भी पाया गया है। कोई समाज इनमे से एक से अधिक रूपो की स्वीकृत दे सकता है। उदाहरणार्थ तिब्बतीय समाज मे आर्थिक दृष्टि से अकिंचन लोगो मे बहुपति विवाह और जिनकी आर्थिक स्थिति ठीक है उनमे एक विवाह प्रथा और जो धनी शासक है उनमे (एक से अधिक पत्नियो का रखना) बहु–पत्नी विवाह प्रचलित है।

(2) वश गणना (Reckonıng of descent) – कुछ समाजो मे वश गणना पुरुष पक्ष से होती है और कुछ मे स्त्री पक्ष से। दोनो प्रकार की प्रणालियॉ मानव सस्कृति मे सफलता पूर्वक व्यवहृत हुई है।

(3) जीवन साथी का चुनाव– जीवन साथी के चुनाव सम्बन्धी

नियम भी प्रत्येक समाज मे पाये जाते है। कही किसी दिये हुए क्षेत्र की सीमाओ के अन्दर ही विवाह करने का नियम है और कही उसे क्षेत्र से बाहर विवाह करने का नियम है।

उपरोक्त तत्त्वो की विविधता के कारण परिवार के भी विविध रूप है। चूँकि सभी सस्कृतियो मे जीवन साथी के चुनाव वश गणना और विवाह सम्बन्ध के रूपो मे साम्य नही है अत परिवार के रूप भी एक सस्कृति मे दूसरी सस्कृति से भिन्न होते है। परिवार की परिवर्तनशीलता को ही लक्ष्य कर आगबर्न और निमकाफ ने परिवार के ढॉचे के स्थिर न होने की बात कही है[3]।

परिवार की परिभाषा (De finition of Famıly)

पारिवारिक सगठनो के बदलते हुए रूपो के कारण परिवार की सार्वभौम परिभाषा करना कठिन है। यहॉ तक कि एक ही समाज मे कई पारिवारिक स्थितियॉ मिलती है—जैसे (1) विवाह सूत्र मे बधे केवल स्त्री—पुरुष, (2) स्त्री—पुरुष और उनके बच्चे (3) अपने बच्चो सहित विधवा स्त्री और (4) बच्चो सहित विधुर पुरुष। उपरोक्त चार रूप (Indıvıdual famıly) मे ही मिलते है। इण्डिवीजुअवल फैमिली को हम ऐसे परिवार के रूप मे परिभाषित नही कर सकते है जिसमे स्त्री—पुरुष और उनके बच्चो का ही समावेश हो। वैयक्तिक परिवार की परिभाषा ऐसी होनी चाहिए जिसमे कम से कम उपरोक्त चारो रूपो का समावेश हो। आगबर्न और निमकाफ ने वर्तमान परिवार (माडर्न फैमिली) अथवा Indıvıdual Famıly की परिभाषा देने मे उपरोक्त तत्त्वो को ध्यान मे रखा है। इसलिये यहॉ पर उनकी परिभाषा का उल्लेख करना अधिक लाभप्रद होगा—

"When we thınk of a famıly, we pıcture ıt as a more or less durable assocıatıon of husband and wıfe wıth or wıthout chıldren, or of a man or woman alone, wıth chıldren "[4]

मैकाइवर और पेज परिवार के बनने मे विवाह का अभूतपूर्व योग मानते है इसलिये वे परिवार को परिभाषित करने मे यौन सम्बन्धो और उनसे जनित सन्तान के पालन—पोषण को ध्यान मे रखते हैं। आपके मत से परिवार एक ऐसे समूह के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है जो यौन सम्बन्धो द्वारा परिभाषित हो और इतना छोटा तथा स्थायी हो कि उसमे जन्म लेने वाले बच्चो की देखभाल सुगमता से हो सके[5]। इन विद्वानो की परिभाषा पर गौर से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि ये मानव शिशु के दीर्घ शैशवकाल से सुपरिचित

है। दीर्घ शैशवास्था के कारण ही वे परिवार के स्थायी (enduring) होने पर बल देते हैं।

परिवारों का वर्गीकरण– परिवार के भिन्न–भिन्न रूपो को दो कोटियो मे बाँटा जा सकता है । पहला वह परिवार है जिसमे स्त्री पुरुष और बच्चे सम्मिलिति हैं। यह परिवार का चिरस्थायी रूप है। समाजशास्त्रीय ग्रन्थो मे इसके लिये अनेक नाम प्रयोग मे लाये गये है जैसे Family of procreation Nuclear family, Natural Family, Individual Family Modern Family आदि। दूसरी कोटि के अन्तर्गत उन सभी प्रकारो का समावेश हो सकता है जो विस्तृत परिवारो की सज्ञा पाये हुए है। इसमे बहुपति बहुपत्नी और सयुक्त परिवारो को स्थान दिया जाता है। हमारा प्रयोजन यहाँ हिन्दू परिवार की व्याख्या करना है। इसलिये हिन्दू परिवार की ही सविस्तार विवेचना की जायेगी।

हिन्दू परिवार– हिन्दुओ को सामाजिक सरचना को समझने के लिए जिस प्रकार वर्ण–व्यवस्था, जाति–व्यवस्था और धर्म के विचारो को समझना आवश्यक है उसी प्रकार हिन्दू परिवार प्रणाली का सम्यक ज्ञान भी हिन्दुओ की सामाजिक सरचना को समझने के लिये उपयोगी होगा। के एम पणिक्कर ने अपनी पुस्तक "हिन्दू सोसाइटी ऐट क्रास रोडस मे वर्ण के साथ हिन्दू परिवार (सयुक्त परिवार) को हिन्दू समाज की आधारभूत सस्था माना जाता है। हिन्दुओ के परिवारिक सगठन ने भी यहाँ के निवासियो के जीवन को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। सयुक्त परिवार प्रणाली काफी पुरातन है।[6] वैदिक काल मे भी यह परिवार व्यवस्था थी। कई मत्र यह सिद्ध करते हैं कि वैदिक युग मे पिता अपने पुत्र और पौत्रो के साथ रहता था और पुत्र वधू भी अपने पति के पिता (श्वसुर) के घर रहती थी। इहैव स्त मा वियौष्ट विश्वमायुर्व्यश्नुतम। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिमोदमानौ स्वे गृहे (ऋ 10/85/42) आदि श्रुतिवाक्यो से उपरोक्त तथ्य की ही तरफ संकेत मिलता हैं। इन श्रुति वाक्यो का अर्थ है –

'तुम यहाँ इस घर में रहो, वियुक्त मत होओ। अपने घर मे पुत्रो और पौत्रो के साथ खेलते हुए आनन्द मनाते हुए सारी आयु का उपभोग करो। यह मत्र प्रत्येक विवाह में पढा जाता है। इस मत्र से यह विचार पुष्ट होता है कि वैदिक काल मे भी सयुक्त परिवार व्यवस्था का प्रचलन था। इसके अतिरिक्त भी एक अन्य मत्र है जिसे पुरोहित विवाह मे उच्चारित करता है जो इस प्रकार है–सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वा भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधिदेवृषु (ऋ0 10/85/46)। इस मत्र का अर्थ है कि 'तू सास, ससुर, नन्द और देवर पर शासन करने वाली रानी बन। यह मत्र भी इस बात की ओर सकेत करता है कि वैदिक युग मे सयुक्त परिवार व्यवस्था थी।

हिन्दू परिवार का अर्थ – हिन्दू परिवार की परिभाषा करने मे विद्वानो ने इसकी सयुक्त प्रकृति पर विशेष ध्यान रखा है। कुछ लोग सामान्य निवास

6- Mandelbaum, David G "The Family in India"- Edited by Ruth Nanda Anshen, New York, Harper & Brothers, Publishers p 167

सामान्य पाकशाला और सदस्यो की सख्या को हिन्दू परिवार का आधार मान कर इसे परिभाषित करते है। आई पी देसाई को परिवार के आकार के आधार पर किसी भी परिवार को सयुक्त कहना पसन्द नही । उन्होने पीढियो की सख्या और सम्पत्ति आय पारस्परिक सहयोग के आधार पर ही किसी परिवार को सयुक्त होने की सज्ञा दी है। श्री आई०पी० देसाई के मत से ऐसा परिवार सयुक्त नही होगा जिसमे दो भाई एक साथ रहते हैं और भोजन तथा सम्पत्ति की दृष्टि से भी सयुक्त है। मेरे विचार से वे सभी परिवार सम्मिलित (सयुक्त) होगे जिनमे कई दम्पति रहते है और वे एक रसोई मे भोजन करते हैं जिनकी सामान्य सम्पतित है रहने का स्थान सामान्य है जो धर्म–कर्म की दृष्टि से समान है और रक्त सम्बन्ध से बँधे है। 'Kinship Organisation in India' नामक पुस्तक मे श्रीमती इरावती कर्वे ने सयुक्त परिवार की परिभाषा इस प्रकार दी है– सयुक्त परिवार ऐसे लोगो का समूह है जो प्राय एक ही घर मे रहते है जो एक पाकशाला का बना भोजन खाते है जिनकी सम्मिलित सम्पत्ति होती है और जो सामान्य पूजा पद्धति मे भाग लेते है और जो खास प्रकार के रक्त सम्बन्ध द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित होते है।[7]

आई पी देसाई की राय मे 'सयुक्त परिवार वह है जिसमे मूल परिवार की अपेक्षा अधिक (तीन या अधिक) पीढियो के सदस्य पाये जाते हैं और ये सदस्य सम्पत्ति आय और पारस्परिक अधिकारो और दायित्वो द्वारा आपस मे आबद्ध होते है।[8]

श्री आई पी देसाई की परिभाषा की अपेक्षा इरावती कर्वे की परिभाषा अधिक व्यापक है। जैसा कि पहले सकेत किया जा चुका है कि श्री देसाई की परिभाषा के अनुसार दो भाई अगर अपनी पत्नियो सहित एक ही घर मे रहते है तो वे सयुक्त परिवार का निर्माण नही करेगे क्योकि उनमे generation-depth का अभाव है लेकिन इरावती कर्वे ने पीढियो का कोई प्रतिबन्ध नही लगाया है। अत उनकी परिभाषा के अनुसार परिवार के उक्त उदाहरण का समावेश भी सयुक्त परिवार मे हो जाता है।

हिन्दू परिवार का सयुक्त परिवार नाम क्यो ?– शास्त्रो मे हिन्दू परिवार अथवा सयुक्त परिवार के लिए कुल शब्द का प्रयोग किया गया है। एक कुल के लोग रक्त सम्बन्धो द्वारा परस्पर सम्बन्धित रहते थे। उनकी एक ही रसोई एक ही घर एक ही कुल देवता तथा सामान्य सम्पत्ति होती थी। पाश्चात्य विद्वानो ने भारतीय परिवार प्रणाली को ''सयुक्त परिवार' की सज्ञा दी है क्योकि

पश्चिमी जगत मे आधुनिक औद्योगीकरण के फलस्वरूप एकाकी परिवार का आविर्भाव आवश्यकता के अनुरोध से हो चुका है। परन्तु हमारे परिवार के लिए यह नाम बहुत अधिक उपयुक्त (ठीक) नही है क्योकि भारतवर्ष मे तो परिवार की यही एक प्रणाली आदिकाल से चली आ रही है। इसलिए परिवार या कुल के पहले सयुक्त (ज्वाइण्ट) विशेषण लगाने की कोई आवश्यकता नही है। सयुक्त परिवार प्रणाली तो उन सभी भागो मे पायी जाती है जहॉ जीविका का मुख्य साधन कृषि है।

सयुक्त परिवार समाजवाद का पोषक है — सयुक्त परिवार मे सपत्ति का स्वामित्व उत्पादन और उपभोग सम्मिलित होता है। परिवार का प्रमुख ही सम्पत्ति का मालिक होता है। परिवार के सभी सदस्य अपनी आय परिवार के ट्रस्टी के पास जमा करते है। वह सभी व्यक्तियो की आवश्यकताओ की पूर्ति का प्रबन्ध इसी सम्मिलित परिवारिक कोष (Common Famıly Fund) से करता है। इन सदस्यो की आवश्यकताओ की पूर्ति मे इस बात का भेद भाव नही रखा जाता है कि किसने अधिक कमाया है किसने कम और किसने बिलकुल नही। इस Common Fund से परिवार के उस सदस्य की भी समस्त आवश्यकताओ की तुष्टि होती है जिसने Common Fund मे किचित भी योगदान (contrıbutıon) नही किया है। इस सम्पत्ति का उपयोग आवश्यकतानुसार (to each accordıng to hıs needs) होता है न कि 'to each accordıng to hıs deeds' के आधार पर अथवा सम्पत्ति मे contrıbutıon करने की योग्यता के आधार पर। इस अर्थ मे सयुक्त परिवार समाजवाद के सिद्धान्त का पोषक है क्योकि "to each accordıng to hıs needs" समाजवाद का प्रमुख सिद्धान्त है। अत सयुक्त परिवार मे व्यक्ति योग्यतानुसार कमाता है और आवश्यकतानुसार प्राप्त करता है।

हिन्दू परिवार के सदस्यो के पारस्परिक सम्बन्ध

पति और पत्नी— परिवार की रचना मे मूल स्थान पति और पत्नी का है और इनके सम्बन्धो पर ही परिवार की सफलता निर्भर है। हिन्दू परिवार मे पति का स्थान शीर्षस्थ है। पति पत्नी का स्वामी है, भर्ता है। पति के लिए स्वामी और भर्ता आदि सम्बोधन पत्नी के ऊपर पति की प्रभुता के सूचक हैं। स्त्री रक्षणीय है। पति उसका रक्षक है इसीलिए तो उसे पति नाम दिया गया है। पति का अर्थ है वह जो किसी की रक्षा करे। पति पत्नी की रक्षा करता है। इसलिए पति का पत्नी पर अधिकार है और इस अधिकार की चर्चा हिन्दू समाज व्यवस्था मे प्राय की जाती है। स्त्री को अबला नाम दिया गया है जो उसके निर्बल होने की तरफ सकेत करता है। पुरुष प्राय शारीरिक दृष्टि से नारी से अधिक शक्तिशाली होता है। स्त्री मे समर्पण की भावना प्रबल होती है। इसी समर्पण के कारण पत्नी पर पति का प्रभुत्व रहता है। प्राचीन काल मे स्त्री के लिए जीविका के द्वार

वर्तमान युग की भाँति नही खुले थे इसलिए वह आर्थिक दृष्टि से पराधीन थी। यह भी पति के भर्ता बनने का एक कारण है। स्त्री का यही धर्म शास्त्रो मे वर्णित है कि मनसा वाचा और कर्मणा से पति की अनन्य भक्ति करे पतिपारायण बने। हर प्रकार से पति की सेवा करे। स्वप्न मे भी पर पुरुष को न देखे। ऐसी पत्नी को जो स्वप्न मे भी पर पुरुष का दर्शन नही करती उत्तम सती साध्वी कह कर तुलसीकृत रामायण मे पुकारा गया है। देखिये–**उत्तम के अस बस मनमाही। सपनेहु आन पुरुष जग नाही।।** पत्नी की इस एकान्त भक्ति का पुरुषो ने गलत अर्थ मे इस्तेमाल किया यहाँ तक कि महाभारत काल मे उसके जुए पर लगा दिये जाने का भी दृष्टान्त मिलता हैं। महाभारत मे ऐसे अनेक स्थल आये हैं जहाँ पति द्वारा पत्नी का दान किये जाने का उल्लेख है।

पत्नी गृहस्थ का मूल है। उसे 'गृहिणी' और 'गृहस्वामिनी' नाम इसीलिए दिया जाता है। नीति मन्जरी मे गृह की परिभाषा मे यह बताया गया है कि काष्ठ पाषाण का बना हुआ घर गृह नही है बल्कि जहाँ घरवाली है वही घर है (न गृह काष्ठपाषाणै दयिता यत्र तद् गृहम्)। महाभारत मे भी "न गृह गृहमित्याहुर्गृहिणीगृहमुच्यते। गृह तु गृहिणी हीन अरण्य सदृश मतम् कहकर गृह की परिभाषा घरवाली के रूप मे दी गई है।

वैदिक युग मे पत्नी का स्थान बहुत ऊँचा था। उसे सहधर्मिणी कहा गया। पत्नी की आवश्यकता व्यक्तिगत सुख और सामाजिक दृष्टि से उतनी नही थी जितनी धार्मिक साथी पाने की दृष्टि से। यज्ञ आदि कर्म मे पत्नी का उपस्थित होना आवश्यक समझा जाता था।[9] शतपथ ब्राह्मण मे पत्नी विहीन पुरुष को अयज्ञिय कहा गया है (अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीक ।)। श्री रामचन्द्र जी को अपना अवश्मेघ यज्ञ पूरा करने के लिए सीता जी की सोने की प्रतिमा बनानी पडी थी।

पत्नी के कर्तव्यो मे पातिव्रत्य और पति सेवा को ही धर्मशास्त्रो मे प्रमुख स्थान दिया गया है। तुलसीकृत रामायण मे भी स्त्रियो के लिए पतिव्रत्य धर्म की ही प्रशसा की गयी है। हिन्दू परिवार मे सम्भवत पति सेवा का सर्वश्रेष्ठ आदर्श सीता ने रखा है। उन्होने पति की सेवा के लिए (श्वसुर की आज्ञा न होने पर भी) जगल जाना स्वीकार किया और पति पत्नी के सम्बन्ध की महानता को जीव और देह तथा वारि (जल) और नदी के रूपक द्वारा समझाया। पति के अभाव मे पत्नी की वही दशा होगी जैसी जीव के अभाव मे शरीर की और पानी के अभाव मे नदी की।[10] रामचन्द्र जी उनकी सुकुमारिता की तरफ सकेत करके वन–दुखो को सहन न कर सकने के कारण उन्हे वन मे अपने साथ जाने से रोकते है। सीता जी मे पति परिचर्या की भावना प्रधान है इसीलिए तो वे कहती है– **"मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू–तुमहि उचित तप मो कह भोगू।"** इस प्रकार हठ पूर्वक सीता जी पति सेवा के लिए अपने पति के साथ जगल मे जाती

है और वन मे भीषणतम कष्टो को सहन करने के लिए तैयार हो जाती है। अँधेरे मे छाया तक व्यक्ति को छोड देती है लेकिन सीता जी ने राम का साथ नही छोडा। सती सावित्री सत्यवान के साथ यमलोक तक गयी इसे कौन नही जानता? पुराणो मे ऐसी भी कथा आती है जिसमे कौशिक ब्राह्मण की पतिव्रता स्त्री अपने कोढी और लॅगडे पति को उसकी कामना की पूर्ति के लिए अपने कन्धे पर बिठा कर ले जाती है और दूसरे दिन अपने पातिव्रत्य के प्रभाव से सूर्योदय को रोक देती है। ऐसी कथाओ का अभिप्राय पातिव्रत्य का गौरव गान करना ही है। मनु ने मन वचन और काया से पर पुरुष के साथ व्यभिचार न करने वाली स्त्री को पति के साथ स्वर्ग मे निवास करने वाली साध्वी स्त्री बताया है और पर पुरुष के साथ व्यभिचार करने वाली स्त्री की निन्दा की है। ऐसी व्यभिचारिणी स्त्री को रोगो से पीडित होने तथा सियार की योनि पाने का उल्लेख किया है (मनु 9/29—30)। तुलसीकृत रामायण मे भी पति को ठगकर जारकर्म करने वाली स्त्री को शत कल्प तक नरक मे पडे रहने की बात कही गयी है और पति के प्रतिकूल जन्म लेने पर तरुणावस्था मे विधवा होने का उल्लेख है।[11] धार्मिक ग्रन्थो मे साध्वी नारियो के अनेक उदाहरण मिलते है। यह सतीत्व का आदर्श एकागी (one sided) है क्योकि यह बन्धन पुरुषो पर लागू नही किया गया यद्यपि मनु इसके बारे मे सचेष्ट मालूम पडते है। विवाह सूत्र मे बॅधने के बाद पत्नी का यह कर्तव्य है कि वे जीवन पर्यन्त एक दूसरे के प्रति आस्थावान बने रहे।[12]

पत्नी का एक नाम भार्या भी है क्योकि पति उसका भरण—पोषण करता है। भृत्यभरण भी हिन्दू परिवार का एक आदर्श है। इस आदर्श को पूरा करने वाला परिवार का प्रमुख अथवा कर्ता होता है। परिवार का प्रमुख अथवा कर्ता पति ही होता है। महाभारत मे कुछ सामान्य धर्म बताये गये हैं जिनमे अपने ऊपर निर्भर जनो का पालन पोषण भी एक है (अक्रोध सत्य वचन सविभाग क्षमा तथा प्रजन स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च। आर्जव भृत्यभरण नवैते सार्ववर्णिका)।

नारी का वर्तमान रूप अर्द्धांगिनी का है। अर्द्धांगिनी का अर्थ है आधा अग। वह पुरुष का आधा अग है। इसलिये मनु पुरुष को अपूर्ण मानते हैं । वे उसी पुरुष को पूर्ण मानते है जिसके पत्नी और बच्चे हो। स्त्री का अर्द्धांगिनी होना उसके अधिकार का द्योतक जान पडता है। वैदिक युग मे भी स्त्री और पुरुष के समान अधिकारो की पुष्टि अर्द्धांगिनी कह कर ही की गयी है। अत स्त्री पुरुष की समानता के बीज का रोपण वैदिक युग मे ही हो गया था। लेकिन इस बीज के अकुरित पल्लवित और पुष्पित होने का अवसर French Revolution के बाद मिला जब Liberty, equality, Fraternity के विचार हिन्दू समाज के सामने आये। आज के परिवार मे पत्नी का पति के समान दर्जा है। प्रभुता का स्थान अब समानता ने ले लिया है।

11—पति बचक पर पति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई।
पति प्रतिकूल जन्म जहँ लेई। विधवा होइ पाइ तरुणाई।।—तुलसीदास

पुत्र—स्त्री और पुरुष परिणय सूत्र मे इसलिए आबद्ध होते है क्योकि इसके मूल मे सतान प्राप्ति की भावना प्रधान है। हिन्दू समाज मे इसीलिए स्त्री को जननी कहा गया है। वह अपने पति की पत्नी ही नही है बल्कि वह अपने बच्चो की मॉ भी है। हिन्दू विवाह के तीन उद्देश्य माने जाते है—धर्म प्रजा और रति। इसका हम पहले ही सकेत कर चुके है कि हिन्दू परिवार का एक प्रमुख आदर्श वश परम्परा को अक्षुभी बनाये रखना भी है। व्यक्ति मे जिजीविषा की प्रधानता होती है। वह मर कर भी अपना नाम छोड जाना चाहता है। वह दोहरी मृत्यु का इच्छुक नही शरीर से वह मरना चाहता है लेकिन नाम से नही। वह अपनी सन्तान पैदा कर अपने शरीर को अमर कर लेता है। सन्तान के द्वारा वह नाम से नही मरने पाता है उसका नाम और वश सन्तान के द्वारा चलता रहता है और कुल परम्परा सतत् रूप से प्रवाहमान रहती है।

हिन्दू परिवार व्यवस्था मे पुत्र प्राप्ति को दम्पति की प्रबल अभिलाषा की पूर्ति के रूप मे स्थान दिया गया है। पुत्र का विशेष महत्त्व होने के कारण ही पुत्र प्राप्ति के लिए पुसवन सस्कार की व्यवस्था हिन्दुओ के सस्कारो मे है। पुसवन सस्कार मे होने वाली सतान पुरुष हो इसके लिए प्रार्थना की जाती है। प्रश्न है कि पुत्री की अपेक्षा पुत्र पाने की क्यो तीव्र कामना हिन्दू दम्पतियो मे पाई जाती है? हमारी समझ मे इसका प्रमुख कारण हिन्दू पुत्रियो का विवाह के बाद अपने पिता के घर से भिन्न पति के घर की सदस्या बनना है। हिन्दू शास्त्रो मे जो विवाह के लिए उद्‌वाह शब्द प्रयोग मे लाया गया है वह इसी बात का परिचायक है कि हिन्दुओ मे पति द्वारा पत्नी को अपने घर ले जाने की प्रथा है। पुत्र पिता के घर ही रहता है और बुढापे मे अपने वृद्ध पिता का पालन पोषण करता है, उसकी मृत्यु के बाद परिवार को चलाता है और धार्मिक कार्यों का उत्तराधिकारी बनता है। दूसरा कारण यह है कि पुत्र पिता की "पु" नामक नरक से रक्षा करता है।[13] यही कारण है कि उसे पुत्र कहा गया है। वैदिक साहित्य मे पुत्र के लिए वीर शब्द का प्रयोग हुआ है, जिससे यह सिद्ध होता है कि आक्रामक समूह आर्यों मे युद्ध मे वीरतापूर्वक लड़ने के लिए वीर पुत्र उत्पन्न होने की कामना की जाती थी।

पितृऋण की कल्पना द्वारा पुत्र प्राप्ति एक आवश्यक कर्तव्य बन गया। पितृऋण से उऋण होने का उपाय तर्पण है। तर्पण और श्राद्ध करने का अधिकार हिन्दू समाज मे पुत्रों को ही है। यही कारण है कि हिन्दुओं में नपुंसकता के कारण पुत्र प्राप्त न होने पर नियोग का प्रचलन था और पत्नी के वध्या होने पर पति को दूसरा विवाह करने की अनुमति मिली थी। पुत्र लौकिक सुखो का ही साधन नही बल्कि मोक्ष[14] दिलाने वाला भी माना जाता था। नियोग और

दूसरे विवाह के अलावा पुत्र काम यज्ञ औषधि उपचार और देवपूजन द्वारा पुत्र प्राप्ति के लिए कोशिश की जाती थी। अपुत्रता के कारण राजा दशरथ के दुखी होने का वर्णन हम पहले ही कर चुके है।

पुत्र का प्रधान कर्तव्य माता–पिता की सेवा करना और उनकी आज्ञाओ का पालक करना है माता–पिता की सेवा करने वाले श्रवण कुमार का नाम भारत की गैर पढी–लिखी जनता की भी जुबान पर है।[15] पिता की आज्ञा मानकर बन जाने वाले राम को कौन नही जानता है। अनुव्रत पुत्र पुत्री माता भवतु समन (अथर्व 3/30/2)–पुत्र के लिए माता–पिता की आज्ञा पालन का यह आदर्श वैदिक युग से प्रतिष्ठित है। नचिकेता से जब नचिकेता के पिता नाराज होकर यह कह देते हैं कि तुझे मृत्यु को देता हूँ तब वह कहता है कि उत्तम पुत्र वह है जो पिता के मुख से वचन निकलने के पहले पिता के सोचे हुए काम को करता है। पिता के कहने पर कार्य करने वाला मध्यम पुत्र है और पिता के वचन का अश्रद्धा से पूरा करने वाला अधम है। नचिकेता अपने को उत्तम कोटि वाला मानकर यमपुरी चला जाता है। भागवत मे एक चौथे प्रकार के पुत्र का उल्लेख मिलता है जो अपने पिता की आज्ञा का पालन नही करता है। ऐसे पुत्र को पिता की विष्ठा मात्र (भाग 9/18/44) कहा गया है।

हिन्दू समाज मे पुत्र द्वारा पिता और माता की आज्ञा मानने का कारण जन्मदाता और पालक होना है। माता–पिता के इस उपकार के वशीभूत होकर ही वह उनकी कठोर आज्ञा को मानने के लिए विवश है। दूसरे माता–पिता की आयु अधिक होती है जिससे वे पुत्र के मुकाबले मे अधिक अनुभवी होते हैं । पिता और माता को आचार्य के साथ देव माना गया है (पितृ देवो भव। मातृ देवो भव आचार्य देवो भव) बचपन मे माता–पिता का प्रभुत्व पुत्र पर रहता है और उस समय वह पिता की सभी आज्ञाओ का पालन करता है। आज्ञा न मानने पर उसे दण्ड दिया जाता है और आज्ञा पालन पर पुरस्कार। बचपन मे बच्चा सामाजिक दृष्टि से रिक्त (Socially Blank) और पर्याप्त लोचदार (elastic) होता है। उस समय उसे वाछित दिशा मे मोडा जा सकता है। इसीलिए उसे बचपन मे ही अज्ञापालन का आदर्श सामाजीकरण द्वारा अन्तरीकृत करा दिया जाता है और जिसे बाद मे वह जीवन मे चरितार्थ करता रहता है क्योकि बचपन की छाप अमिट होती है। इसके अलावा बचपन मे आर्थिक दृष्टि से पिता पर निर्भर रहता

15–हिन्दू वह जो लघु भाई की भलाई हेतु
राज तज वन मे समोद चला जाता है।
हिन्दू वह जो कि प्राप्त राज्य को भी त्याज्यमान
भाई की ही पादुका को मस्तक चढाता है।
हिन्दू वह जो कि सकल सुखो को त्याग,
सयम की आग मे जवानी को जलाता है।
हिन्दू वह जो भावरी दे कावरी बिठाके तात
माता को भी साथ भर काध से उठाता है।

है क्योकि पशु के मुकाबले मानव शिशु का शैशवकाल बहुत लम्बा होता है। पितृमूलक परिवार व्यवस्था होने के कारण घर का प्रमुख पिता ही होता है और गृहप्रमुख की आज्ञाओ का पालन सभी सदरयो के साथ पुत्र को भी करना पडता है। हिन्दू परिवार मे ज्येष्ठ पुत्र का विशिष्ट स्थान है। ज्येष्ठ पुत्र की उत्पत्ति के उपरान्त पिता पितृ ऋण से उऋण हो जाता है इसीलिये उसे धर्मज कहा जाता है । अन्य पुत्र मनु के अनुसार "कामज" कहलाते हैं।[16] चूँकि बडा पुत्र ही धर्मज्ञ होता है। इसलिए धार्मिक कृत्यो की पूर्ति का प्रथम अधिकार उसे ही प्राप्त है। हिन्दू परिवार मे रिक्थहरण (उत्तराधिकार) तथा महत्ता का प्रदर्शन पिण्डदान'' से माना जाता है। पिण्डदान और श्राद्ध का प्रथम अधिकार ज्येष्ठ पुत्र को ही प्राप्त है। ज्येष्ठ पुत्र परिवार को समुन्नत बना सकता है अथवा नष्ट कर सकता है क्योकि वह आदर का पात्र होता है और धर्म का पालन करने वाले उसे असम्मान की दृष्टि से नही देख सकते हैं (मनु 9/109)। जब तक ज्येष्ठ पुत्र वैसे ही व्यवहार करता है जैरो बड़े भाई को व्यवँहार करना चाहिए छोटे भाइयो को चाहिए कि वे उसकी माता–पिता के समान इज्जत करे और वह यदि जैसा व्यवहार करना चाहिए वैसा व्यवहार नही करता तो उसका बन्धुवत उसका सम्मान करना चाहिए। हिन्दू शास्त्रो ने ज्येष्ठ पुत्र को जो अधिकार दिये हैं उनकी पृष्ठभूमि मे उसकी शारीरिक और मानसिक प्रौढता है। अधिकार रूपी फलो की प्राप्ति कर्तव्य रूपी वृक्ष से हो सकती है। जहाँ ज्येष्ठ पुत्र के अधिकार अधिक है वही उसके कर्तव्य भी गुरुत्तर है। यदि वह अपने भाइयो के प्रति कर्तव्यो से च्युत हो जाता है तो उसका केवल प्रभुत्व ही समाप्त नही हो जाता है बल्कि पारिवारिक सम्पत्ति के अपने भाग से भी वह वचित हो जाता है।

पुत्री (कन्या)–हिन्दू परिवार मे पुत्र धन (asset) है और कन्या भार (lıabılıty)। पुत्र अपने पिता के वश की वृद्धि करता है जब कि कन्या दूसरे परिवार की सदस्या बनने के लिए वाध्य है। कन्या का पालन–पोषण बहुत कुछ ''पडोसी के वृक्ष को सीचने के समान है' । पडोसी के वृक्ष को सीचने से सींचने वाले को लाभ नही होता क्योकि वह उसे सीचने मे चाहे जितना कष्ट उठाये और परिश्रम करे वृक्ष के फल पडोसी के होगे न कि सींचने वाले के । हिन्दू परिवार मे कन्या उत्पन्न होने की कामना उन परिवारो मे की जाती है जहाँ पुत्र अधिक सख्या मे होते हैं। इसके विपरीत वे परिवार दुखी रहते हैं जहाँ पुत्रियाँ अधिक हैं और पुत्र बिल्कुल नही हैं। जहाँ तक स्नेह और प्रेम की बात है हिन्दू परिवारो मे पुत्र और पुत्री मे कोई भेद नहीं पाया जाता। जब कन्याये बड़ी हो जाती है तो अपनी माता के अधिक निकट हो जाती हैं और गृहस्थी के कामो में अपने को लगाती हैं। पुत्री के बड़े हो जाने पर गम्भीर मामलो मे पिता का उस पर प्रत्यक्ष नियत्रण नही रहता, पुत्री की माँ के ही माध्यम से ही वह उसे नियन्त्रित करता है। हिन्दू परिवार में जब पुत्र और पुत्रियाँ वयस्क हो जाते हैं तो पुत्र पिता के अधिक निकट हो जाते हैं और पुत्रियाँ माता के अधिक निकट हो

जाती हैं।

वैदिककाल से लेकर वर्तमान समय तक पुत्री का जन्म चिन्ता और दुख का विषय रहा है। मध्य युग मे तो कन्याओ के वध की कुप्रथा भी प्रचलित हो गयी थी। इस कुप्रथा के प्रचलन का मुख्य कारण दहेज था। दहेज प्रथा के अन्त न होने तक कन्याओ का जन्म चिन्ता और विषाद का विषय बना रहेगा।

मनुस्मृति मे पुत्र और पुत्री को समान माना गया है। पुत्र पिता की आत्मा है। पुत्री भी पुत्र के समान पिता की आत्मा है। किसी व्यक्ति के पुत्रहीन मरने पर आत्मरूप कन्या के होते हुए उसकी सम्पत्ति मे दूसरा व्यक्ति कैसे हिस्सा ले सकता है।[17]

भाई—बहिन—सामाजिक आदर्शों के अनुसार भाई—बहिन मे (विशेष रूप से भाइयो मे) एकता (solidenty) होनी चाहिए और उनमे परस्पर प्रेम होना चाहिए और उन्हे एक दूसरे की मदद करनी चाहिए। बडे भाई और बहिन (विशेष रूप से बहने) अपने छोटो की देख भाल मे अपनी माता के उत्तरदायित्व मे हाथ बटाये। व्यवहार मे 6 या 7 वर्ष की आयु तक भाई—बहिन साथ—साथ खेलते है और बाद मे बहिने घर के काम काज मे लग जाती हैं और भाई क्रीडा समूहो (play groups) मे विशेष रुचि लेने लगते हैं अत प्रारम्भिक जीवन मे भाई—बहिन के सम्बन्ध घनिष्ठ होते हैं और बाद मे उनका विकास अपनी—अपनी दिशा मे होता है।

बड़े भाई—बहनो का नियत्रण छोटे भाई बहनो पर रहता है। माता और पिता की अनुपस्थिति मे बडे भाई—बहिन छोटो के व्यवहार पर निगाह रखते है। बडे भाई अथवा बहिने अपने से छोटो को कभी—कभी डाट—फटकार भी सकते है लेकिन वे ऐसा बहुत कम ही करते हैं । जब छोटा भाई किसी चीज के लिये चिल्लाना शुरू करता है तो बडे भाई या बडी बहिन से यह अपेक्षा की जाती है कि उसे सतुष्ट करने से लिये उन्हे अपना भाग त्याग देना चाहिये। जब भाइयो मे झगड़ा होता है तो बड़े को ही समान्यत डाटा जाता है। छोटे भाई को बडे भाई की आज्ञा माननी चाहिये। पिता के म रहने पर बडा भाई छोटे भाइयो के प्रति पुत्रवत व्यवहार करे और छोटे भाई बड़े भाई को पिता तुल्य माने ऐसी मनु की आज्ञा है[18]। बहिन भाई का प्रेम और सरक्षण वैदिक युग से पाती रही है। भाई अपने भाग का चतुर्थांश अपनी बहिन के विवाह सस्कारार्थ दे। जो भाई अपने भाग का चतुर्थांश बहिन के विवाह के निमित्त नही देते है वे पतित है।[19] हिन्दू परिवार मे भाई बहिनो का प्रेम राखी और भ्रातृद्वितीया (भइया दौज) नामक त्यौहारो द्वारा प्रति वर्ष पुष्ट होता है।

अन्य सम्बन्धी —सयुक्त परिवार के अन्य सम्बन्धियो मे वधू, सास, ननद और देवर आदि मुख्य हैं। हिन्दू परिवार मे सास और बहू के बीच आधिपत्य और

17- मनुस्मृति 9/130
18- मनुस्मृति 9/108
19- मनुस्मृति 9/118

अधीनथा का सम्बन्ध है। सास आदेश और आज्ञाये जारी करती है और बहू के लिए ये शिरोधार्य हैं। बहू के लिये सास हर प्रकार से पूज्य है वदनीय है क्योकि वह उसके पति की जननी है। लौकिक जीवन मे सास की सेवा और परिचर्या करने वाली तथा उसे प्रसन्न करने वाली बहू ही प्रशसा के पात्र मानी जाती है। बाहू अपनी सास से मॉ का स्नेह पाने की अधिकारिणी है। सास की प्रशसा तभी होती है जब तक सास और बहू को अपनी पुत्री के तुल्य माने, उसके दुख दर्द को समझे उसे सताये नही । जब तक सास बहू उपरोक्त मान्यताओ का उल्लघन नही करती उनमे मधुर सम्बन्ध बने रहते हैं। प्राय सासारिक जीवन मे बहू और सास के बीच इतने मधुर सम्बन्ध देखने को नही मिलते क्योकि न तो सभी सासे आदर्श सासे होती है और न ही सभी बहुएँ। सास और बहू मे झगड़े भी होते है। इन झगडो का प्रबल और मुख्य कारण है सास द्वारा अपने वधू काल के अत्याचार का बदला अपनी बहू से चुकाना। इसी प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर सास अपनी वधू के साथ अन्यायपूर्ण और निन्दनीय व्यवहार करती हैं। सास के क्रूर और निर्दय व्यवहार से छुटकारा पाने के लिए बहुएँ सास से सघर्ष करती है। इसका परिणाम यह होता है कि सास और बहू तनावपूर्ण सम्बन्धो का विकास हो जाता है। महाभारत काल तक सास और बहुओ के सघर्ष का उल्लेख नही मिलता है। यहॉ तक बहुऍ सास का असीम प्रेम पाती रही है। बौद्ध साहित्य मे बहुओ और सासो के पारस्परिक कलह और सघर्ष की चर्चा मिलती है। वर्तमान समय मे सास और बहुओ के बीच विद्यमान सघर्ष से सभी परिचित है। सास का बहुओ के साथ अत्याचारपूर्ण व्यवहार सयुक्त परिवार के विघटन का एक प्रधान कारण है।

ननद और भाभी – ऋग्वेद मे ननद शब्द का उल्लेख एक बार मिलता है और वहॉ पर वधू को ननद पर शासन करने वाली (ननान्दरि साम्राज्ञी भव) बताया गया है। यह स्थिति सम्भवत बहुत थोड़े काल तक रही और बहू ननद द्वारा शासित होने लगी। सस्कृत मे ननद के लिए "ननन्द" शब्द व्यवह्रत हुआ है जिसका अर्थ है 'सेवा करने पर भी प्रसन्न न होने वाली।" इसका यह प्रयोजन नही है कि समस्त ननदे ऐसी ही होती हैं लेकिन अधिकाश तो ऐसी ही हैं जिनका व्यवहार कलह कराने वाला होता है। लोकगीतो का भी समाजशास्त्रीय साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। लेकिन लोकगीतो मे बहू के प्रति ननद का व्यवहार अत्याचारपूर्ण चित्रित किया गया है।

देवर और भाभी – देवर और भाभी का परस्पर सम्बन्ध पुत्र और माता जैसा रहा है। हिन्दू पारिवारिक सगठन में देवर भाभी के लिए पुत्र के समान और भाभी उसके लिए माता के समान है। देवर भाभी के उपरोक्त आदर्श सम्बन्ध का वर्णन रामायण मे सीता और लक्ष्मण के उदाहरण मे मिलता है। जिस समय सुग्रीब सीता जी द्वारा मार्ग मे फेंके हुए गहनों को लाकर पहचानने के लिए राम लक्ष्मण के सम्मुख रखता है, उस समय लक्ष्मण कहते हैं कि मैं सीता के केयूर

और कुण्डल नही पहचानता। हॉ नूपुरो को प्रतिदिन उनके चरण स्पर्श करने के कारण अवश्य पहचानता हूँ।[20] इस दृष्टात से सिद्ध होता है कि देवर भाभी का सम्बन्ध पवित्र प्रेम से ओत–प्रोत था।

सयुक्त परिवार मे परिवर्तन और विघटन

वर्तमान समय मे हिन्दू परिवार का प्राचीन रूप देखने को नही मिलता है वह अब बदल गया है। प्राचीन हिन्दू परिवार मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (Individual independence) व्यक्तिगत प्रयत्न (individual effort) और विवेक (rationality) के लिये कोई स्थान नही था। पारिवारिक स्वार्थों से भिन्न व्यक्तिगत स्वार्थ की बात कोई सोच ही नही सकता था। आधिपत्य और अधीनता के सम्बधों ने व्यक्ति के व्यक्तित्व को परिवार मे इतना घुला मिला दिया था कि परिवार से पृथक उसका कोई अस्तित्व नही रह गया था। परिवार के सदस्य के रूप मे उसकी सत्ता थी। परिवार के पृथक उसका कोई अस्तित्व ही नही था। इसके अलावा पारिवारिक सम्पत्ति के किसी अश की तरफ व्यक्ति को उगली उठाने का भी अधिकार नही था। परिवार के सभी सदस्य अपनी सारी आय सामान्य पारिवारिक कोष मे जमा करते थे। इस परिवार का ट्रस्टी घर का मुखिया होता था। परिवार की सभी आवश्यकताओ को घर का प्रमुख इसी कोष से पूरा करता था। सभी सदस्य एक ही घर मे रहते थे, एक ही रसोई का भोजन खाते थे। पारिवारिक पूजा और उत्सवो मे सभी सदस्य भाग लेते थे। वर्तमान समय मे सयुक्त परिवार के उपरोक्त लक्षणो का लोप हो रहा है जिससे सयुक्त परिवार विघटित हो रहा है, टूट रहा है।

(1) **नये विचार, नवीन आर्थिक व्यवस्था और प्रशासनिक व्यवस्था का प्रभाव–** ॲग्रेजो के आगमन के पूर्व सयुक्त परिवार का प्राचीन रूप कमोवेश सुरक्षित था। भारतवर्ष में अँग्रेजो के आने के बाद सयुक्त परिवार मे परिवर्तन आना शुरू हो गया। ॲग्रेज अपने साथ नये विचार, नयी आर्थिक व्यवस्था और नवीन प्रशासनिक व्यवस्था लेकर आये जिसके परिणामस्वरूप सयुक्त परिवार को भी धक्का पहुँचा ठेस लगी। पूँजीवाद और उदारवाद ने व्यक्तिगत स्वतत्रता और व्यक्तिगत प्रयत्न पर बल दिया। उदारवाद ने जन्म पर आश्रित विशेषाधिकारो निर्योग्यताओ पर प्रहार किया। सत्ता के विरुद्ध व्यक्ति को आवाज उठाने के लिये प्रेरित किया। इसके अलावा उदारवाद (liberalism) उन्ही परम्पराओ और प्रथाओ को स्वीकार करता है जो तर्क या विवेक की कसौटी पर खरी उतरे। सक्षेप मे उदारवाद ने व्यक्ति को अपने अधिकारो के प्रति जागरूक कर इन अधिकारो की प्राप्ति के लिए प्रेरित किया।

(2) **औद्योगीकरण ओर शहरीकरण का प्रभाव–** भारतवर्ष मे बढते हुए औद्योगीकरण का प्रभाव सयुक्त परिवार के लिए घातक सिद्ध हुआ। औद्योगीकरण

---

20 वा० रा० 4/6/22-23 नाह जानामि केयूरे नाह जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्य पादाभिवन्दनात।।

के कारण शहरो का जन्म हुआ परिवार से सम्बन्धित छोटे–छोटे उद्योग धन्धे नष्ट हो गये गॉव की जनसख्या शहर की तरफ गतिशील हुई। इन सभी बातो का परिणाम यह हुआ कि परिवार जो पहले उत्पादन और उपभोग की इकाई था अब केवल उपभोग की इकाई रह गया। पहले वे परिवार जिनका खर्चा कृषि से पूरा नही पडता था कुटीर उद्योग धन्धो के माध्यम से अपनी आय बढा लेते थे और इस प्रकार परिवार की आवश्यकताओ को पूरा कर लेते थे। कुटीर उद्योग धन्धो के नष्ट हो जाने से जब परिवार की आय की कमी पूरा करने के लिये उनका दूसरा विकल्प ढूँढने के लिए विवस हो जाना पडा। बिजली और वाष्प से चालित मशीनो के बने माल का मुकाबला न कर सकने के कारण छोटे –छोटे गृह उद्योग धन्धो का विनाश हुआ। गृह उद्योग धन्धो के नष्ट होने से अब परिवार के सदस्यो को कल–कारखानो मे नौकरी के लिये मजबूर हो जाना पड़ा और नौकरी की तलाश मे शहरो मे आकर बसना पड़ा।

हिन्दू परिवार के कुछ सदस्यो के शहरो मे बस जाने से उनका परिवार एक साथ रहना भोजन करना आदि मुश्किल हो गया और सयुक्त परिवार विघटित होने लगा। शहरो मे आवास की समस्या ने सभी भलीभॉति परिचित हैं। शहरी आवश्यकता के अनुकूल शहरो मे मकान छोटे–छोटे होते हैं जिनमे एक साथ कई दम्पति नही रह सकते है। जो मकान बडे हैं उनका किराया अधिक होता है जिससे वे साधारण परिवार के लोगो के बूते के बाहर होते हैं। इस आवासीय समस्या के कारण शहरो मे सयुक्त परिवार बिना टूटे कैसे रह सकेगे।

शहरीकरण और औद्योगीकरण के फलस्वरूप स्त्रियो को भी नौकरी की सुविधाये प्राप्त है। नौकरी मे लगी स्त्रियॉ सयुक्त परिवार मे रहना कैसे पसन्द करेगी क्योकि सयुक्त परिवार मे रहकर उन्हे मनमानी आजादी कैसे मिल पायेगी। वहॉ तो उनका व्यक्तित्व दबा रहेगा। अपना अलग परिवार बसाने मे उन्हे सहूलियते मिलती हैं अत वे सयुक्त परिवार से अलग रहना ही उपयुक्त समझती है ।

शहरी वातावरण सयुक्त परिवार के लिये अनपयुक्त है। यहॉं परिवार के सभी सदस्यो का जीविका कमाने के लिये जाने का समय एक नही होता है। कोई कभी जाता है कोई कभी। ऐसी हालत मे खाने पीने में सबकी इच्छाओ का ध्यान नही रख मिलता है। स्त्रियॉं जब यह देखती हैं कि उनके पति को गर्म व ताजा भोजन नही मिल पाता तो वे अपने पतियो को सयुक्त परिवार से अलग रहने के लिये राजी करने लगती हैं और अक्सर सफल हो जाती हैं। शहर के स्वतत्र वातावरण मे स्त्रियॉं सास, ससुर जेठ एव जेठानी की दाब मे रहना बिल्कुल नही पसन्द करतीं। फिर भला सयुक्त परिवार बिना टूटे कैसे रह सकते हैं।

(1) बढती जनसख्या– जनसख्या में तेज वृद्धि सयुक्त परिवार के

परिवर्तन एव विघटन का एक कारण है। जब जनसख्या सीमित थी तब तो एक साथ रहना खाना–पीना आदि सब कुछ सभव था और सयुक्त परिवारो के अनुकूल परिस्थिति थी लेकिन जब तेजी से आबादी बढ रही है तो सभी एक परिवार मे कैसे समा सकेगे और सबके खाने की व्यवस्था एक ही जगह कैसे हो सकेगी। जनसख्या के दबाव के कारण भुखमरी तथा बेकारी बढी जिससे गावो मे सयुक्त परिवार टूट रहे हैं और जीविका की तलाश मे लोग इधर–उधर जा रहे हैं।

(4) **गमनागमन की सुविधा–** भारतवर्ष मे अग्रेजी राज्य की स्थापना के पहले गमनागमन (आने जाने) की सुविधा कम थी। आज यातायात के समुन्नत साधनो के फलस्वरूप देश के एक कोने से दूसरे कोने मे आने जाने मे खास कठिनाई नहीं है। आने जाने की सुविधाओ मे वृद्धि के कारण उद्योगो मे भी काफी विकास हुआ है और जनसख्या की गतिशीलता मे वृद्धि हुई है। आज व्यक्ति रोजगार की तलाश मे घर छोडने को तैयार है। यातायात की सुविधा के कारण सयुक्त परिवारो पर व्यक्ति की निर्भरता मे कमी आ गयी है।

(5) **स्त्रियो की कलह–** सयुक्त परिवार मे असगठन और विघटन का प्रबल कारण स्त्रियो की कलह है। स्त्रियॉ अपना अपने बच्चे अपने पति का अधिक ख्याल रखती हैं जिससे लडाई झगडे की स्थिति बनी रहती है। स्त्रियॉ आपसी कलह द्वारा पुरुषो मे फूट पैदा कर देती हैं। आज की स्वतत्र नारी सयुक्त परिवार की पक्षपाती नही है। आज सास, बहू, देवरानी ननद जेठानी आदि साथ साथ नही रह सकती हैं और अगर रहती हैं तो परिवार मे भीषण कलह एव अशान्ति की सृष्टि करेगी। इससे तो यही अच्छा है कि वे साथ साथ न रहे। स्त्रियो की कलह से बचने के लिये सयुक्त परिवार विखण्डित होते है।

(6) **परिवार नियोजन–** जब छोटा परिवार सुख का आधार है तो बडे परिवारो मे रहना लोगों को कहाँ अच्छा लगेगा और लगना भी नही चाहिए। बडे एव [illegible] की समस्याये भी बडी और अधिक होंगी। अत. आज के सीमित परिवार वाले वातावरण मे सयुक्त परिवार अप्रभावित कैसे रह सकते हैं अर्थात् उनमे विघटन आना स्वाभाविक है।

(7) **परिवार के कार्यो मे कमी–** सयुक्त परिवारों के सामाजिक, धार्मिक आर्थिक सास्कृतिक तथा मनोरजन सबधी कार्यो मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये हैं जिससे इनकी उपयोगिता व्यक्ति के लिये कम रह गई है। संयुक्त परिवार से अलग रहकर भी व्यक्ति जब अपना विकास कर लेता है तो उसके लिये इसकी महत्ता ही क्या है? आजकल अन्य सस्थाये सयुक्त परिवार के कार्यो को करने लगी हैं। ऐसी हालत मे सयुक्त परिवार का महत्त्व घट जाना स्वाभाविक है।

(8) **स्त्री शिक्षा का प्रभाव–** औद्योगीकरण के अलावा स्त्री शिक्षा सयुक्त परिवार को रूपातरित और विघटित करने का अन्य प्रबल कारक है। सयुक्त परिवार मे स्त्रियो की स्थिति अत्यन्त सोचनीय थी। उनके लिये इसके अलावा

कोई विकल्प नही था कि वे सयुक्त परिवार के तुफानी समुद्र मे जितनी शाति से रह पाये रहे। हिन्दू समाज मे सम्पूर्ण नारी वर्ग को जीवन की साधारण स्वतत्रता साधारण अधिकारो एव साधारण शिक्षा से वचित रखा गया । पुरुष वर्ग ने अबला नारी को वर्जनाओ और निषेधो से बाँध दिया। प्राचीन परिवार की पत्नी एक ऐसी जीव की भाँति थी जो न दिल खोलकर हँस सकती थी और न अपने पैरो पर खडी हो सकती थी। स्त्री शिक्षा ने महिलाओ को उनकी अधिकारविहीन स्थिति का ज्ञान कराया। शिक्षा की बदौलत आज स्त्रियॉ सर्वाधिकार सम्पन्न है। उनमे अपने पैरो पर खडे होने की सामर्थ्य है। अब वे भोजन और वस्त्र के लिये दूसरो का मुँह ताकने के लिये विवश नहीं हैं। आज उनकी कूप मडूकता समाप्त हो गई है। वे उचित और अनुचित उपयोगी और अनुपयोगी नियमो को समझने लगी है और अपने अधिकारो के प्रति सजग हैं। उपरोक्त परिस्थतियॉ सयुक्त परिवार के लिये अनुकूल नही हैं।

(9) **कानून का प्रभाव–** शिक्षित नारी वर्ग ने अपनी सुरक्षा के लिये कानूनी सरक्षण भी प्राप्त कर लिया है। परम्परागत हिन्दू परिवार मे परिवारिक सम्पत्ति मे स्त्रियो का कोई अधिकार नही था। सन् 1929 के हिन्दू उत्तराधिकार (सशोधित) अधिनियम मे स्त्रियो को जैसे पुत्र को पुत्री कन्या की पुत्री आदि को साम्पत्तिक अधिकार मिले लेकिन विधवा स्त्री के साम्पत्तिक अधिकार के विषय मे इस नियम मे कोई व्यवस्था नही थी।

सन 1937 मे हिन्दू स्त्रियो को पारिवारिक सम्पत्ति मे अधिकार दिलाने हेतु अधिनियम बना जिसमे उन्हे साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त हुआ। इस अधिनियम के पूर्व मृतक की विधवा का परिवार की सम्पत्ति मे कोई हक नही था और मृतक का हिस्सा विधवा को न मिलकर survivorship के सिद्धात द्वारा सहभागी सस्था (coparcenary) के दूसरे सदस्यो को प्राप्त हो जाता था। इस कानून के पारित हो जाने से अब मृत व्यक्ति का व्यक्तित्व उसकी विधवा के रूप मे जीवित रहता है और विधवा अपने मृत पति के हिस्से की अधिकारिणी मानी जाने लगी है। अब वह परिवार के अन्य सदस्यो की भाँति परिवारिक सम्पत्ति के बँटवारे की मॉग कर सकती है। इस कानून ने सयुक्त परिवार के अति जीवन (survivorship) के सिद्धान्त को समाप्त कर दिया। कानून एक कदम और आगे बढ जाता है जब पत्नी को पति के विरुद्ध सरक्षण प्रदान करता है। 1946 के Bombay Hindu Married Women's Right to separate Residence and Maintenance Act ने हिन्दू विवाहित स्त्रियों को कुछ शर्तों के साथ पति से अलग रहने और निर्वाह (भरण–पोषण) करने की अनुमति दी। शर्तें निम्नलिखित हैं–

(1) पति का ऐसे असाध्य यौन रोग से पीड़िति होना जो स्त्री से न लगा हो।

(2) क्रूरता अथवा निर्दयता जिससे स्त्री का पति के साथ रहना असुरक्षित

तथा अवॉछनीय हो।

(3) स्त्री की इच्छा के विरुद्ध परित्याग।

(4) पति का दूसरा विवाह।

(5) पति द्वारा धर्म परिवर्तन।

(6) पति द्वारा रखैल रखना और प्राय उसके साथ रहना। और

(7) अन्य उचित कारण।

उपरोक्त उल्लिखित शक्तियो के सघात के फलस्वरूप सयुक्त परिवार विघटित हो रहे है।

सयुक्त परिवार का भविष्य

उक्त वर्णन से ऐसा लगता है कि सयुक्त परिवार का भविष्य अन्धकार मे है। भविष्य मे सयुक्त परिवार मिट जायेगे ऐसा ख्याल भ्रामक है। यह सच है कि सम्मिलित परिवार के लिये उपयुक्त और अनुकूल वातावरण नही है फिर भी लोगो की श्रद्धा इन परिवारो के प्रति है। उनकी निष्ठा जब तक इन परिवारो मे रहेगी इनका मिटना सम्भव नही है। सयुक्त परिवार टूट कर एकाकी परिवार बनते है। ये एकाकी परिवार फिर सम्मिलित परिवार का रूप धारण कर लेते हैं। अत सयुक्त परिवार बनने एव बिगड़ने की प्रक्रिया मे रहता है। अन्य शब्दो मे सयुक्त परिवार के निर्माण (formation) और विखण्डन (fission) का सिलसिला जारी रहेगा। जब तक यह सिलसिला जारी रहेगा सयुक्त परिवारो का अन्त न हो सकेगा। श्री कपाडिया डा श्यामाचरण दुबे आर पी देसाई आई पी देसाई आदि विद्वान सयुक्त परिवार की उपयोगिता को समझते हुए इसके अस्तित्व के पक्ष मे है और इसके अस्तित्व को खतरे से बाहर समझते है। डा दुबे के मतानुसार घरेलू कलह के कारण अगर सयुक्त परिवार से कोई अलग भी हो जाता है तो वह उत्सवो सस्कारो आदि के समय फिर से पारिवारिक अनुशासन का अग बन जाता है[21]।' आर पी देसाई इसे सामाजिक सेवा की महत्त्वपूर्ण सस्था मानते हैं। बीमारी, बेकारी और बुढापे मे सहायता के लिये सभी इसकी ओर ताकते हैं। श्री कपाडिया लिखते हैं कि हिन्दू भावनाये आज भी सयुक्त परिवार के पक्ष मे है[22]।' उक्त विद्वानो के मतो से स्पष्ट है कि अधिकाश व्यक्तियो के लिये सयुक्त परिवार आज भी आकर्षण की वस्तु है।



---

21 Dubey, S C, Indian Village, p 134

22 "Hindu Sentiments are even today in favour of joint family K M Kapadia, Marriage and Family in India Oxford University Press, London, 1958, p 219"

अध्याय 15

वर्तमान सामाजिक विधान

(Modern Social Legislation)

सामाजिक विधानो की आवश्यकता– समाजो मे सरलता से जटिलता की ओर बढने की प्रवृत्ति होती है। आदिम और सरल समाजो मे सामाजिक नियत्रण के प्राथमिक साधन जैसे जन रीतियाँ और प्रथाये सामाजिक व्यवस्था और शाति कायम रखने मे सक्षम होते हैं। जटिलता की वृद्धि के साथ समाज मे अनेकानेक समस्याएँ उत्पन्न होती जाती है और समाज की रचना पेचीदा हो जाने के कारण नियत्रण के ये प्राथमिक साधन विफल होते दिखाई देते है। औद्योगीकरण शहरीकरण और यातायात के विकसित साधनो ने आधुनिक समाज मे व्यक्ति और व्यक्ति के बीच भेद उत्पन्न कर दिया है अनेको भ्रम पैदा कर दिये हैं अन्याय, शोषण दरिद्रता अपराध और भिक्षावृत्ति को और अधिक गति प्रदान कर दी है। प्राथमिक सम्बन्धो की अपेक्षा गौण सम्बन्ध (Secondary Relations) अधिक विकसित हो रहे हैं। शहरो मे गौण सम्बन्ध प्रचुर होते है। समाज द्रुत गति से बदल रहा है। अब व्यक्ति का जीवन सबसे अधिक असुरक्षित है। पुराने आदर्श बदली हुई परिस्थितियो मे वास्तविकता से दूर हट जाने के कारण बेकार हो गए हैं। उपरोक्त परिस्थितियो को अगर सँभाला न गया तो समाज विश्रृखलित हुए बिना न रहेगा। अत समाज सुधार व समाज कल्याण के हेतु वर्तमान समय मे राज्य की सबसे अधिक आवश्यकता अनुभव की जाती है क्योंकि अब राज्य द्वारा हस्तक्षेप न करने की नीति (Laissezfaire) अतीत का नारा बन चुकी है। वर्तमान समाज मे शान्ति और सुव्यवस्था राज्य द्वारा ही स्थापित की जा सकती है क्योकि राज्य के पास शक्ति है जिसका भय मनुष्य मानता है और इसलिए राज्य द्वारा पारित कानून के पालन के लिए वह विवश है। राज्य सामाजिक विधान (Social Legislation) के जरिए समाजोद्धार (समाज की बुराइयॉ दूर करने) का कार्य करता है। जटिल परिवर्तित समस्याग्रस्त और विषम समाज के अभ्युदय और कल्याण के लिये सामाजिक विधान के महत्त्व को आज कौन अस्वीकार कर सकता है ?

इसके अतिरिक्त प्रथाएँ और जनरीतियाँ प्राय समाज मे परिवर्तन का विरोध करती हैं। हमारा परम्परागत भारतीय समाज अनेक कुरीतियो से आक्रान्त था। वर्षों से व्याप्त इन कुरीतियो को दूर करना आसान कार्य नही था। सामाजिक कानून के अभाव मे इन कुप्रथाओ का निराकरण लगभग असम्भव ही

था। परम्परागत भारतीय समाज के उन पुराने आदर्शों का मोह छोडना ही पडेगा जिन्होने सती प्रथा बाल विवाह और विधवा विवाह निषेध की स्वीकृति दे रखी थी वैवाहिक क्षेत्र मे पति–पत्नी के दाम्पत्य अधिकारो मे घोर–विषमता की सृष्टि कर दी थी। जब तक लोगो को इन आदर्शों के खोखलेपन का पता नही चला वे शोषित होते रहे अन्याय सहते रहे लेकिन नवजागरण (Renaissance) और फ्रान्स क्रान्ति के स्वतत्रता समानता और बन्धुत्व के विचारो ने उन्हे अपनी वास्तविक स्थिति का बोध कराकर खोये हुए अधिकारो की पुन प्राप्ति के लिए बेचैन कर दिया जिससे उन्होने कानूनी सरक्षण की माँग की और सरकार ने इस दिशा मे सामाजिक विधान बनाया और उन्हे कानूनी सरक्षण प्रदान किया। आज स्त्री को पारिवारिक सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त है विधवाओ को पुनर्विवाह की अनुमति मिल गई है विषम परिस्थितियो मे पत्नी को तलाक की कानूनी अनुमति प्राप्त है। बाल विवाहो पर प्रतिबन्ध लग गया है। उपरोक्त विधान नवचेतना और नवजागरण का परिणाम है।

भारतवर्ष जब आजाद हो गया तो उसने नये आदर्शों को स्वीकार किया और सविधान (Constitution) बनाकर इन नवीन आदर्शों को उसमे शामिल कर लिया। आज सामाजिक विधानो की सख्या काफी बढ़ गई है। भारतवर्ष कल्याणकारी राज्य बनने की दिशा मे कार्य कर रहा है और इस रूप में अपने नागरिको की पॉच दानवो (अभाव निर्धनता अज्ञान, बेकारी गन्दगी और बीमारी) के आक्रमण से रक्षा करने के लिए कटिबद्ध है। अत वर्तमान समय मे युग की पुकार (वर्तमान आवश्यकताओ) नए आदर्शों और परिवर्तन के कारण सामाजिक विधानो की सख्या मे वृद्धि हुई जिसमे हिन्दू समाज और सस्थाएँ अत्यधिक प्रभावित हुए हैं।

सामाजिक विधान क्या है ? (What is Social Legislation)– सामाजिक विधान का अर्थ जानने के लिए विधान क्या है? इसकी जानकारी अपेक्षित है। विधान (Legislation) के अन्तर्गत उन राजकीय नियमो (body of laws) का समावेश है जिनका पालन करने के लिए नागरिक बाध्य है। यदि व्यक्ति उन राजकीय नियमों का पालन नही करता है तो राज्य उसे दण्ड देगा। इन राजकीय नियमों के द्वारा राज्य समाज की वर्तमान आवश्यकताओं से सामजस्य स्थापित करता है। विधान के पूर्व 'सामाजिक' विशेषण लग जाने से समाज सुधार और समाज कल्याण से सम्बन्धित विधानो (Laws) का बोध होता है।

यह उक्ति कि 'कानून सामाजिक आवश्यकताओं से पीछे रह जाते हैं' सत्य ही है। आज का विधान बीते कल की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बनाया जाता है। (Legislation of today is to meet social needs of yesterday)। अत सामाजिक विधान का कार्य है कानूनी व्यवस्था का समाज से निरतर सामजस्य बनाये रखना क्योंकि समाज कानूनी व्यवस्था (Legal

System) से सदैव आगे रहता है और इसलिए सामाजिक विधान से आशय ऐसे विधान से है जो विद्यमान नियमो और तत्कालिक आवश्यकताओ के बीच का भेद मिटा सके।[1]

Plans and Prospects of Social Welfare in India मे सामाजिक विधान को कानूनो के उस समूह के रूप में परिभाषित किया गया है जो वर्तमान कानूनो को सविधान के अनुरूप बनाने तथा राजनीति के निर्देशक सिद्धान्तो मे वर्णित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना मे सहायता पहुँचाते हैं।[2]

सामाजिक विधान का क्षेत्र बहुत व्यापक है। सामाजिक विधान के अन्तर्गत श्रमकल्याण बालकल्याण महिलाकल्याण बाल–अपराध, अपराध और भिक्षावृत्ति निरोध अस्पृश्यता–निवारण परिवार और विवाह आदि को प्रभावित करने वाले कानून शामिल हैं। यहाॅ केवल हिन्दू परिवार विवाह और जाति प्रथा को प्रभावित करने वाले कानूनों की विवेचना की जा रही है।

हिन्दू परिवार पर प्रभाव डालने वाले विधान

हिन्दू परिवार को प्रभावित करने वाले कुछ कानूनो का विवेचन 'हिन्दू परिवार नामक अध्याय मे किया गया है। यहाॅ केवल हिन्दू उत्तराधिकार कानून (1956) का वर्णन किया जाएगा।

हिन्दू उत्तराधिकार कानून (Hindu Succession Act)--यह कानून 17 जून 1956 को लागू हुआ। इसका उद्देश्य पुराने हिन्दू कानून के दोषो को दूर करना था। हिन्दू कानून का यह दोष था कि नर और नारी के साम्पत्तिक अधिकारो मे घोर असमानता (विषमता) थी। इसके अतिरिक्त उत्तराधिकार की सर्वस्वीकृत व्यवस्था नही थी। उत्तराधिकार से सबधित मिताक्षरा और दायभाग प्रणालियों का प्रचलन था जिसमे मिताक्षरा जन्म स्वत्ववाद (Right by Birth) पर और दायभाग उपरम स्वत्ववाद (अर्थात् पिता की सम्पत्ति पर लडके का स्वत्व जन्म से नही बल्कि पिता की मृत्यु (उपरम) के बाद उत्पन्न होता है) पर आधारित है। उत्तराधिकारियो का क्रम निश्चित करने के प्रश्न पर भी दोनो सम्प्रदायो में मतभेद है। उपरोक्त कमियो को समाप्त करने के उद्देश्य से उत्तराधिकार कानून बनाया गया। इसके प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैं–

(1) वसीयतहीन उत्तराधिकार (Intestate[3] Succession) की लगभग

1- 'Legislation calculated to bridge the gulf between existing laws and the current needs of society may be called social legislation"- Social Legislation, issued on behalf of, The planning Commission, Govt of India, 1956, page 1

2- ' For the present purpose social legislation may be defined as the body of laws calculated to bring the existing laws into conformity with the Constitution and help establish the social order envisaged by the Directive Principles of State Policy"- Plans & Prospects of Social Welfare in India, issued on behalf of, The Planning Commission, Govt of India, Page 108

3- Intestate Succession means succession to the property of a person who dies without leaving a valid-will

एक जैसी व्यवस्था सभी हिन्दुओ के लिए करना। यह कानून विशेष रूप से वसीयतहीन उत्तराधिकार के विषय मे है क्योकि वसीयत की गई सम्पत्ति के विषय मे पहले से ही नियम बने हुए है।

(2) लडकियो को पैतृक सम्पत्ति मे स्वत्व देना और नर–नारियो के साम्पत्तिक अधिकारो की विषमता दूर करना इसका द्वितीय उद्देश्य है।

(3) बिना वसीयत किए मृत व्यक्ति की सम्पत्ति के उत्तराधिकारियो (Heirs) का कम निश्चित करना।

उपरोक्त उद्देश्यो को कार्यान्वित करने के लिए कानून मे निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गयी –

(1) **दायदो का नया क्रम**– इस कानून मे दायादो को निम्नलिखित चार भागो मे बॉट दिया गया है –

(1) प्रथम श्रेणी (class) के दायाद (heirs)।
(2) द्वितीय श्रेणी के उत्तराधिकारी।
(3) गोत्रज (Agnates)
(4) बन्धु (Congnates)

वसीयतहीन मृत व्यक्ति की सम्पत्ति सबसे पहले प्रथम श्रेणी के दायादों को एक साथ प्राप्त होती है। प्रथम श्रेणी के उत्तराधिकारियो के अभाव मे द्वितीय श्रेणी के उत्तराधिकारियो को सम्पत्ति प्राप्त होगी इनके जीवित न होने पर तृतीय श्रेणी के दायादो को और इनके भी अभाव मे चतुर्थ श्रेणी के दायाद सम्पत्ति के अधिकारी होगे।

प्रथम श्रेणी के उत्तराधिकारी (Heirs of Class 1)

(1) पुत्र (son)
(2) पूर्वमृत पुत्र का पुत्र (पौत्र) (son of a pre-deceased son)
(3) पूर्वमृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र का पुत्र (प्रपौत्र) (son of a predeceased son of a predeceased son)
(4) मृत व्यक्ति की विधवा (widow)
(5) पूर्वमृत पुत्र की विधवा (widow of a pre-deceased son)
(6) पूर्वमृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र की विधवा (widow of a predeceased son of a pre-deceased son)
(7) माता (mother)
(8) लडकी (daughter)
(9) पूर्वमृत लड़की की लडकी (Daughter of a predeceased daug
(10) पूर्वमृत लड़की का लड़का (Son of a predeceased daughter)
(11) पूर्वमृत लड़के की लडकी (daughter of a pre-deceased son)
(12) पूर्वमृत लडके के पूर्वमृत लड़के की लड़की (daughter of a pre-

deceased son of a predeceased son)

उपरोक्त दायादो मे सम्पत्ति के बॅटवारे के चार नियम है।

नियम 1— मृत व्यक्ति की विधवा को एक हिस्सा मिलेगा और यदि विधवाये एक से अधिक हैं तो वही एक भाग उन सब मे बॅट जायेगा।

नियम 2— मृत व्यक्ति के जीवित पुत्र और पुत्रियो तथा माता मे से प्रत्येक को एक हिस्सा मिलेगा।

नियम 3— मृत व्यक्ति के प्रत्येक पूर्वमृत अथवा प्रत्येक पूर्वमृत पुत्री की शाखा के उत्तराधिकारी आपस मे एक भाग लेगे।

नियम 4— नियम 3 मे referred भाग का वितरण—

(1) पूर्वमृत पुत्र की शाखा के दायादो मे वितरण इस प्रकार किया जायगा कि उसकी विधवा (अथवा विधवाएँ एक साथ) और जीवित लडके और लडकियॉ बराबर हिस्सा लेगे।

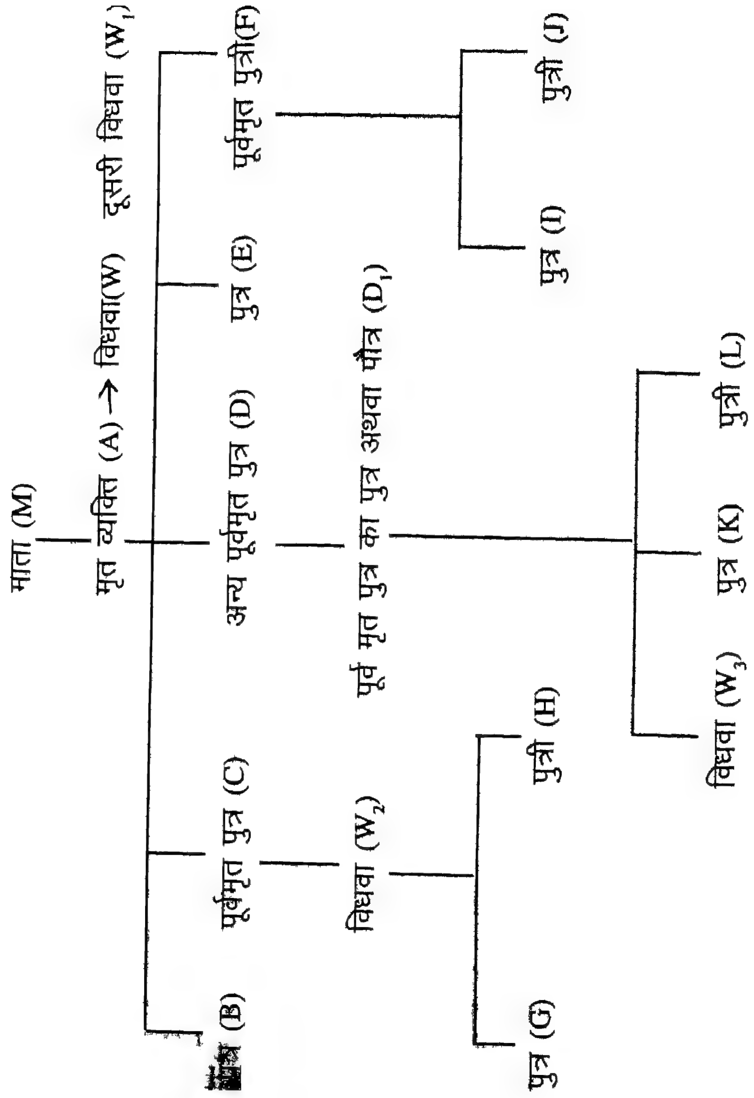
(11) पूर्वमृत पुत्री की शाखा के दायादो मे वितरण ऐसा होगा कि जीवित पुत्रो और पुत्रियो को बराबर भाग मिलेगा।

वर्ग (1) के उत्तराधिकारियो मे सम्पत्ति वितरण की योजना

वर्ग 1 के उत्तराधिकारियो मे सम्पत्ति का वितरण किस प्रकार हो इसका उल्लेख कानून के सेक्सन 10 मे किया गया है। वितरण की योजना बहुत ही सरल है। विधवा (अथवा विधवाएँ एक साथ) एक हिस्सा पायेगी और माता तथा जीवित पुत्र और पुत्रियॉ एक–एक हिस्सा पायेगे। दूसरे शब्दो मे माता पुत्र और पुत्री समान हिस्सा प्राप्त करेगे और विधवा को एक मिलेगा परतु यदि एक से अधिक विधवाये हैं तो वे सभी एक हिस्से को आपस मे बॉट लेगी। इसी प्रकार प्रत्येक पूर्व मृत पुत्र अथवा प्रत्येक पूर्वमृत पुत्री की शाखा के दायाद अपने बीच एक हिस्सा लेगे जिससे इस सिद्धान्त का निर्वाह हो सके कि प्रत्येक पुत्र और पुत्री को एक हिस्सा मिलना चाहिए। जहॉ किसी पूर्वमृत पुत्र अथवा पूर्वमृत पुत्री से सबधित उत्तराधिकारी है प्रत्येक शाखा को एक हिस्सा इसलिए दिया जाता है कि मानो पूर्वमृत पुत्र जिस दिन उसके पिता की मृत्यु हुई थी जिन्दा था और फिर ऐसे हिस्से को उस शाखा के सभी सदस्यो मे नियम 2 मे दिये विधान के अनुसार बॉट दिया जाता है।

निम्नलिखित उदाहरण पहली श्रेणी के उत्तराधिकारियो मे सम्पत्ति वितरण की सेक्सन 10 मे दी गयी व्यवस्था को स्पष्ट करता है—

A की मृत्यु होने पर उसकी सम्पत्ति सात भागो मे बॅटेगी—एक भाग पुत्र B को मिलेगा एक भाग पूर्वमृत पुत्र C के उत्तराधिकारियो—विधवा W_2 पुत्र G और पुत्री H को मिलेगा एक भाग पौत्र D_1 पूर्वमृत पुत्र D के पूर्वमृत पुत्र D_1 के उत्तराधिकारियो— विधवा W_3 पुत्र K और पुत्री Lको मिलेगा एक भाग पुत्री E को मिलेगा एक भाग पूर्वमृत पुत्री F के पुत्र I और पुत्री J को मिलेगा, एक भाग मृत व्यक्ति की माता M को मिलेगा और एक हिस्सा मृत व्यक्ति A


माता (M)
मृत व्यक्ति (A) → विधवा(W)
दूसरी विधवा (W_1)
(B)
पूर्वमृत पुत्र (C)
अन्य पूर्वमृत पुत्र (D)
पुत्र (E)
पूर्वमृत पुत्री(F)
विधवा (W_2)
पूर्व मृत पुत्र का पुत्र अथवा पौत्र (D_1)
पुत्र (G)
पुत्री (H)
पुत्र (I)
पुत्री (J)
विधवा (W_3)
पुत्र (K)
पुत्री (L)

की विधवाओ W और W_1 को मिलेगा।

W_2, G और H का भाग अथवा हिस्सा उनमे बराबर–बराबर बॅटेगा अर्थात सभी को 1/21वॉ हिस्सा मिलेगा W_1,K और L का हिस्सा उनमे बराबर–बराबर बॉटा जायगा जिसमे उनमे से प्रत्येक को सम्पूर्ण स्वत्व मे 1/21 भाग मिलेगा, I और J का हिस्सा दो समान भागो मे बॉटा जायगा जिससे दोनो मे से प्रत्येक को सम्पूर्ण स्वत्व का 1/14 भाग प्राप्त होगा W और W1 का एक भाग उनमे बराबर–बराबर बॅट जायगा और प्रत्येक को सम्पूर्ण स्वत्व (Whole estate) मे 1/14 भाग मिलेगा।

उपरोक्त उदाहरण मे यदि D_1 ने अपने पीछे दो विधवाएँ एक पुत्र और एक पुत्री छोडा होता तो W_1 का 1/21 भाग पुन दो हिस्सो बॉटा गया होता जिससे W_1 को 1/42 भाग मिलता और दूसरी विधवा को 1/42 भाग मिलता।

द्वितीय वर्ग के उत्तराधिकारी (Heirs of class II)

प्रथम वर्ग के दायादो के जीवित न होने पर बिना वसीयत किये हुए मृत व्यक्ति की सम्पत्ति द्वितीय वर्ग के उत्तराधिकारियो को प्राप्त होती है। इस वर्ग के उत्तराधिकारियो का कम इस प्रकार है–

(1) पिता–इसे समस्त सम्पत्ति मिलती है।
(2) (1) पुत्र की लडकी का लडका (2) पुत्र की पुत्री की पुत्री (3) भाई (4) बहिन। मृत व्यक्ति के पिता के जीवित न होने पर ये चारो एक साथ समान रूप से उत्तराधिकारी होते है।
(3) (1) पुत्री के पुत्र का पुत्र (2) पुत्री के पुत्र की पुत्री (3) पुत्री की पुत्री का पुत्र (4) पुत्री की पुत्री की पुत्री
(4) (1) भाई का पुत्र (2) बहिन का पुत्र (3) भाई की पुत्री (4) बहिन की पुत्री
(5) पिता का पिता, पिता की माता
(6) पिता की विधवा भाई की विधवा
(7) पिता का भाई पिता की बहिन
(8) माता का पिता (नाना) माता की माता (नानी)
(9) माता का भाई (मामा) माता की बहिन (मौसी)

उपरोक्त नौ वर्गों मे से प्रत्येक वर्ग अपने पहले का कोई भी दायद जीवित न होने पर ही उत्तराधिकारी बनता है।

तीसरे और चौथे वर्ग के दायादो का कम निश्चित करने के नियमो का उल्लेख इस कानून के खण्ड 12–13 मे है।

(2) सम्पत्ति पर स्त्रियो के पूर्ण स्वत्व की व्यवस्था– इस कानून के बनने के पूर्व हिन्दू समाज मे स्त्रियो को सम्पत्ति पर सीमित स्वत्व

(Limited Estate) प्राप्त था। अब स्त्री अपने लिए प्राप्त चल या अचल सम्पत्ति का विनियोग करने मे पूर्णरूपेण स्वतत्र है। इस अधिनियम के सेक्सन 14 के अनुसार इस कानून के पास होने के पूर्व अथवा बाद मे हिन्दू नारी को मिली सम्पत्ति पर उसका पूर्ण स्वामित्व होगा।[4]

विवाह सस्था को प्रभावित करने वाले अधिनियम (कानून)

वर्तमान सामाजिक कानूनो ने हिन्दू विवाह सस्था मे भी अनेक परिवर्तन ला दिये है। प्राचीन हिन्दू सामाजिक व्यवस्था मे विधवाओ को पुनर्विवाह की अनुमति नही प्राप्त थी और बाल विवाहो का प्रचलन था। विवाह की एकरूप पद्धति का अभाव था। पति पत्नी के दाम्पत्य अधिकारो मे काफी विषमता थी। विवाह के क्षेत्र मे पति पत्नी के लिए दोहरे मानदण्ड थे। पुत्र प्राप्ति के लिए पुरुष को दूसरा विवाह करने की अनुमति प्राप्त थी जबकि स्त्रियो का यही धर्म था कि स्वप्न मे भी परपति के दर्शन न करे और पूर्णरूपेण पतिपरायण बनी रहे। इसके अलावा दु खमय विवाहो से पत्नी को किसी भी तरह छुटकारा नही मिल सकता था क्योकि तलाक अथवा विवाह–विच्छेद के लिए परम्परागत हिन्दू समाज मे कोई व्यवस्था नही थी बल्कि उल्टे विवाह सबध अटूट था जो विषम परिस्थिति मे भी नही तोडा जा सकता था। हिन्दू विवाह की उपरोक्त कमियो को समाप्त करने के लिए कई कानून बनाये गए जो इस प्रकार हैं–

1–हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम (Hindu Widows' Remarriage Act of 1856)- इस कानून के पारित होने के पूर्व विधवाओ को पुनर्विवाह का अधिकार प्राप्त नही था। ईश्वरचन्द विद्यासागर के सतत् प्रयासो के फलस्वरूप सन् 1856 मे पहली बार विधवाओ को दुबारा विवाह करने का कानूनी अधिकार प्रदान किया गया। यह अधिनियम इस बात की घोषणा करता है कि किसी भी ऐसी स्त्री का दूसरा विवाह जिसका पति विवाह के समय मृत था अवैध नही होगा और इस विवाह से उत्पन्न सतान भी अवैध नही होगी। यदि विधवा नाबालिग (अवयस्क) है और पहले पति से उसका यौन सबध नही हुआ है तो उसके पिता पितामह माता अथवा अन्य किसी पुरुष सबंधी (Male Relative) की अनुमति लेना आवश्यक है अथवा विवाह Void होगा लेकिन विवाहोपरान्त यौन–सबध स्थापित हो जाने पर ऐसा विवाह Void नहीं होगा। अगर विधवा वयस्क हैं अथवा पहले विवाह में पति से साहचर्य हो गया है तो दूसरे विवाह के समय उसके अभिभावक की स्वीकृति लेना आवश्यक नही है। विधवा विवाह के कारण पूर्व मृत पति से उत्तराधिकार में मिलने वाली सम्पत्ति पर उसका अधिकार समाप्त हो जायेगा परन्तु कोई सम्पत्ति यदि उसे वसीयत

द्वारा दी गई है तो उस पर उसका अधिकार बना रहेगा। मृत पति के वसीयतनामे या परिवार के सदस्यो के समझौते द्वारा यदि उसे पुन विवाह का अधिकार नही दिया गया है तो ऐसी स्थिति मे मृत व्यक्ति की समस्त सम्पत्ति से विधवा को अधिकार छोडना होगा।

2–बाल विवाह निरोधक अधिनियम (Child Marriage Restraint Act of 1929)- इस अधिनियम के अन्तर्गत बाल विवाहो पर (जो कि समाज के लिए एक अभिशाप थे और जनसख्या, यौन अनैतिकता तथा बाल विधवाओ की वृद्धि मे सहायक थे) रोक लगा दी गई। यह अधिनियम समूचे भारतवर्ष मे लागू है। विवाह के समय यदि वर की आयु अठारह वर्ष और वधू की आयु 15 वर्ष से कम है तो दोनो मे विवाह नहीं हो सकता।

बाल विवाह में यदि वर की आयु 18 वर्ष से अधिक है लेकिन 21 वर्ष से कम है और कन्या की आयु 15 वर्ष से कम है तो उसे 15 दिन के कारावास अथवा एक हजार रुपया जुर्माना अथवा दोनो दण्ड दिये जा सकते हैं। यदि 21 वर्ष से अधिक आयु का वर 15 साल से कम की कन्या से विवाह करे तो उसे तीन मास के कारावास और जुर्माने का दण्ड दिया जा सकता है।

कोई व्यक्ति यदि बाल विवाह करता है अथवा उसे बढ़ावा देता है तो उसे 3 मास का कारावास और एक हजार रुपये तक का दण्ड दिया जा सकता है।

इस अधिनियम के अन्तर्गत यह विधान है कि किसी अपराधी महिला को जेल नही भेजा जायगा।

यह अधिनियम बाल विवाह पर प्रतिबन्ध लगाता है परन्तु बाल विवाह को अवैध नही घोषित करता।

बाल विवाह हो जाने के बाद एक वर्ष व्यतीत हो जाने पर ऐसे विवाह के सम्बन्ध में की गई शिकायत पर कोई सुनवायी नही होगी। बाल विवाहो की सूचना मिलने पर कोर्ट उसे रोकने का आदेश देगी। इस आदेश का उल्लघन करने पर तीन मास की कैद अथवा एक हजार रुपया जुर्माना अथवा दोनो का विधान है।

बाल विवाह का भविष्य

आधुनिक परिस्थितियो में बाल विवाह के लिए कोई गुजाइश नही है। आज हमारे देश में जब परिवार नियोजन को अधिकाधिक महत्त्व दिया जा रहा है और उस पर लाखों रुपये व्यय किये जा रहे हैं तो बाल विवाहो का औचित्य समझ मे नहीं आता। इसके अतिरिक्त हमारे समाज मे पाश्चात्य मूल्यो के घर कर जाने से विवाह की आयु में पर्याप्त वृद्धि हो गई है, लडके और लडकियाँ अधिक समय तक अविवाहित रह लेते हैं। बाल विवाह ऊँचे रहन-सहन के मार्ग मे बाधक हैं। बाल विवाह के कारण बच्चे भी जल्दी होने लगते हैं और जब तक

मनुष्य कमाने वाला होता है उसके कई बच्चे हो जाते है जिससे वह ऊँचे रहन सहन से वचित हो जाता है। मनुष्य मे ऊँचे रहन–सहन की इच्छा बाल विवाहो को बिलकुल समाप्त कर देगी। आज की परिस्थितियो मे छोटा परिवार ही सुखी परिवार बन सकता है। शिक्षा प्रसार रहन–सहन का ऊँचा स्तर लडके और लडकियो का अधिक काल तक अविवाहित रहना और छोटे परिवार के विचार ने बाल विवाहो के प्रतिकूल पर्यावरण की सृष्टि कर दी है इसलिए भारत मे अब बाल विवाह का भविष्य अन्धकार मे है।

3–**हिन्दू विवाह निर्योग्यता निवारक अधिनियम,** 1946 (The Hindu Marriage Disabilities Removal Act 28 of 1946)– यह अधिनियम पुराने हिन्दू कानून को प्रभावित करता है क्योकि इसमे सप्रवर और सगोत्र विवाहो को वैध घोषित किया गया है जबकि हिन्दू कानून के अनुसार सगोत्र और सप्रवर विवाह वर्जित थे।

4– **हिन्दू विवाह अधिनियम,** 1955 (The Hindu Marriage Act 28 of 1955) यह कानून जम्मू और कश्मीर को छोडकर सारे भारतवर्ष मे लागू है। इसमे हिन्दू विवाह से सम्बन्धित कानून का सहिताकरण किया गया है। 1946 के हिन्दू मैरिज डिसएबिलिटीज रिमूवल एक्ट और 1949 के हिन्दू मैरिज वैलिडिटी एक्ट इस अधिनियम के पास हो जाने से रद्द कर दिये गए और उनकी मान्यताओ को इस अधिनियम मे मिला दिया गया। यह कानून उन सभी पर लागू है जो धर्म से हिन्दू हैं।

इस कानून के अनुसार किन्ही दो हिन्दुओ के बीच विवाह होने के लिए निम्नलिखित शर्तें हैं–

(1) दोनो पक्षो मे से किसी का भी जीवन साथी जिन्दा न हो।

(2) दोनो पक्षो मे से कोई भी मूर्ख अथवा पागल न हो।

(3) वर ने 18 वर्ष की और वधू ने 15 की वर्ष आयु अवश्य पूरी कर ली हो।

(4) दोनो पक्षो को निषिद्ध पीढियो के सम्बन्ध की सीमा के अन्तर्गत नही होना चाहिए यदि दोनो पक्षो को शासित करने वाली कोई प्रथा अथवा परम्परा (usage) दोनो के बीच ऐसे विवाह की अनुमति न देती हो।

(5) दोनो पक्षो को एक दूसरे का सपिण्ड नही होना चाहिए जब तक दोनो को शासित करने वाली कोई प्रथा अथवा परम्परा सपिण्ड विवाह की अनुमति न देती हो।

(6) जहाँ वधू की आयु 15 वर्ष से कम हो विवाह के लिए उसके सरक्षक की स्वीकृति अवश्य प्राप्त करनी होगी। सरक्षक कौन है और हो सकता है इसका उल्लेख अधिनियम मे किया गया है।

इस अधिनियम मे दाम्पत्य अधिकारो की पुन प्राप्ति का विधान भी है। पति पत्नी मे से यदि कोई दूसरे को बिना उचित कारण के सहवास से वचित

करता है तो सहवासाधिकार से वचित व्यक्ति न्यायालय जाकर अपने दाम्पत्य अधिकारो की पुन प्राप्ति की मॉग कर सकता है।

न्यायिक प्रथक्करण इस नियम की अन्य विशेषता है। ऐसी परिस्थिति मे जब पति पत्नी का प्रथक रहना ही अभीष्ट हो तो दोनो मे से एक निम्नलिखित आधारो पर न्यायिक प्रथक्करण की आज्ञा प्राप्त करने का प्रर्थना–पत्र दे सकता है–

(1) प्रार्थना–पत्र देने के 2 वर्ष पूर्व से लगातार प्रार्थी के जीवन साथी ने उसे छोड रखा हो।

(2) प्रार्थी का जीवन साथी उसके प्रति अत्यधिक क्रूरता का व्यवहार करता हो।

(3) प्रार्थना पत्र देने के कम से कम एक वर्ष पूर्व से उसका जीवन साथी भयकर कोढ (Virulent form of leprosy) से पीडित हो।

(4) प्रार्थी का साथी व्यभिचार के दुष्कृत्य का दोषी हो।

न्यायिक पृथक्करण की व्यवस्था कर इस अधिनियम ने तलाक की सहसा मॉग को रोकने का प्रयास किया है सामजस्यहीन पति पत्नी को एक दूसरे से अलग रहकर विवाह विच्छेद अथवा पुनर्मिलन के लिए सोचने का मौका दिया है।

इस कानून के लागू होने के पहले अथवा बाद मे सम्पन्न किया हुआ विवाह निम्नलिखित शर्तों मे से किसी एक के आधार पर voidable होता है और न्यायलय द्वारा रद्द किया जा सकता है।

(1) प्रतिवादी का नपुसक होना।

(2) विवाह के समय प्रतिवादी (respondent) का पागल होना।

(3) वादी अथवा वादी के अभिभावक से विवाह के लिए बल (force) अथवा छल से स्वीकृति प्राप्त करना।

(4) प्रतिवादी का वादी (Petitioner) के अलावा किसी अन्य पुरुष से गर्भवती होना और वादी को विवाह के समय इस बात की जानकारी न होना।

विवाह–विच्छेद की व्यवस्था इस नियम की खास देन है। इस कानून मे विवाह–विच्छेद की कानूनी अनुमति मिली। विवाह–विच्छेद की व्यवस्था का दुरुपयोग न हो इसलिए दो प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए गये। पहला प्रतिबन्ध यह है कि विवाह होने के बाद तीन वर्ष तक तलाक के लिए कोई प्रार्थना पत्र नही दे सकता है। परन्तु यदि न्यायालय को यह विश्वास हो जाय कि प्रार्थी असाधारण कष्ट मे है तो तीन साल के पहले भी कोर्ट प्रार्थना पत्र स्वीकार कर सकता है। दूसरा प्रतिबन्ध यह है कि न्यायालय से विवाह–विच्छेद की डिग्री मिल जाने पर पति–पत्नी दोनो को इस डिग्री मिलने के एक वर्ष बाद तक दूसरा विवाह करने की अनुमति नही प्राप्त है। इन दो प्रतिबन्धो को लगाकर तलाक व्यवस्था को कठोर और जटिल बना दिया गया और तलाक दर मे वृद्धि को नियमित किया गया।

पति पत्नी मे से कोई भी एक निम्नलिखित कारणो के आधार पर कोर्ट से तलाक की अनुमति प्राप्त कर सकते है –

(1) यदि कोई एक पक्ष जारकर्म (Adultery) मे सलग्न है।

(2) यदि कोई एक पक्ष अपना रिलीजन बदलकर हिन्दू न रह गया हो।

(3) स्त्री या पुरुष प्रार्थना–पत्र देने के तीन वर्ष से लगातार भयकर और असाध्य कोढ से पीडित हो।

(4) यदि कोई पक्ष आवेदन पत्र देने के तीन वर्ष पूर्व से लगातार असाध्य पागलपन से पीडित रहा हो।

(5) यदि कोई एक पक्ष पिछले तीन वर्ष से सक्रामक यौन रोग से पीडित हो।

(6) यदि किसी एक पक्ष ने सन्यास लेकर ससार से नाता छोड दिया हो।

(7) यदि किसी एक पक्ष का पिछले सात वर्षों से कोई पता न हो और उसके जिन्दा होने की कोई खबर न सुनी गई हो।

(8) यदि न्यायिक पृथक्करण की डिग्री मिलने के बाद दो वर्षो से सहगमन न हुआ हो।

(9) यदि दाम्पत्य अधिकारो की पुन प्राप्ति की डिग्री का पालन दो वर्षो से न किया गया हो।

उपरोक्त कारणो के अलावा पत्नी को निम्नलिखित दो अतिरिक्त आधारो पर विवाह–विच्छेद की अनुमति प्राप्त है–

(1) यदि कानून लागू होने से पहले पति ने दूसरा विवाह किया हो और पहली पत्नी विवाह विच्छेद का प्रार्थनापत्र देते समय जीवित हो।

(2) यदि विवाह के बाद पति बलात्कार, अप्राकृतिक व्यभिचार (Sodomy) अथवा पशु गमन के दुष्कृत्य का दोषी हो।

जाति व्यवस्था मे व्याप्त छुआछूत उन्मूलन सम्बन्धी अधिनियम

अस्पृश्यता जाति–जन्य एक प्रमुख समस्या थी जो भारतीय समाज के लिए एक कलक है। जिन जातियो को कुलीन जातियॉ स्पर्श नही करती थी जिनकी छाया के भी पडने से वे अपवित्र हो सकती थी उन्हे 'अछूत नाम दिया गया था। अछूतो का जीवन करुणा जनक था। गॉवो के छोर पर बसने की अनुमति उन्हे दी जाती थी। मनु ने शूद्रो को टूटे–फूटे बर्तनो (भिन्नभाण्डेषु भोजन) मे भोजन करने की अनुमति दी है। उच्च जातियो के कुओ से जल खीचने की आज्ञा इन्हे नही थी। छुआछूत की उपरोक्त स्थिति काफी समय तक रही। आखिर बाद मे समाज सुधारक और मानवता प्रेमी महापुरुष इस सामाजिक व्याधि को समाप्त करने की दिशा मे प्रयत्नशील हुये। कबीर नानक, महादेव गोविन्द राना डे और महात्मा गॉधी ने इस दिशा मे अनेक प्रयत्न किये। महात्मा गांधी ने अछूतो को हरिजन नाम दिया और हिरजनोद्धार के कार्य में वे जीवन पर्यन्त

लगे रहे। सन् 1947 मे भारतवर्ष स्वतत्र हो गया। सन 1950 में भारत का सविधान बना। सविधान मे अस्पृश्यता उन्मूलन के लिए विशेष नियमो का समावेश किया गया। सविधान के Article 17 मे उल्लेख कर दिया गया कि अस्पृश्यता का अन्त किया जाता है और इसका किसी भी रूप मे व्यवहार निषिद्ध घोषित किया जाता है।

1955 मे पार्लियामेण्ट ने अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम पारित कर दिया। यह समस्त भारतवर्ष पर लागू है। इस अधिनियम का वास्तविक उद्देश्य अनुसूचित जातियो पर किसी भी निर्योग्यता का थोपना कानून–विरोधी घोषित करना है। इस कानून मे इस बात का उल्लेख है कि जो कुछ आम जनता अथवा हिन्दुओ के लिए सुलभ है वही अनुसूचित जातियो के सदस्यो को सम्मिलित करते हुए सभी को सुलभ होना चाहिए। उसमे ऐसे व्यवहार को अपराध घोषित किया गया जो Article17 मे मिले अधिकारो के प्रयोग पर रोक लगाता है। इस अस्पृश्यता उन्मूलन (अपराध) एक्ट के मुख्य प्राविधान निम्नलिखित है–

(1) धारा 3 मे अस्पृश्यता के आधार पर सार्वजनिक पूँजी के स्थान मे प्रवेश उसमे पूजा प्रार्थना या अन्य किसी धार्मिक कार्य करने घाट कुए तालाब या अन्य प्रकार के स्नान के स्थान का उपयोग करने से किसी को रोकने पर रोकने वाले व्यक्ति को 6 मास की कैद या 500 रुपया जुर्माना या दोनो ही दण्ड देने की व्यवस्था है।

(2) धारा 4 के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को दुकानो सार्वजनिक जलपानगृहो होटलो और सार्वजनिक मनोरजन के स्थानो मे प्रवेश का अधिकार है किसी होटल धर्मशाला सराय अथवा मुसाफिरखाना मे रखी समस्त वस्तुओ के प्रयोग का अधिकार है किसी प्रकार के व्यापार चुनने किसी भी नदी चश्मे (Stream) कुऑ तालाब अथवा किसी स्नान–घाट शमशान भूमि अथवा कब्रिस्तान के उपयोग का अधिकार है, सार्वजनिक यातायात के प्रयोग करने का अधिकार है किसी भी स्थान मैं रहनें या मकान बनाने का अधिकार है। उपरोक्त अधिकारो मैं रुकावट डालने वालो के लिए भी उक्त दण्ड की व्यवस्था है।

(3) धारा 5 के अनुसार आम जनता के लिए स्थापित या चलाया जाने वाला प्रत्येक अस्पताल दवाखाना शिक्षा सस्था अथवा छात्रावास सभी के लिए सुलभ होगा और इन सस्थाओ मे भर्ती प्रत्येक व्यक्ति समान व्यवहार का अधिकारी होगा। इन सस्थाओ मे प्रवेश के लिए यदि कोई व्यक्ति छुआछूत के आधार पर इन्कार करता है अथवा इन सस्थाओ मे भर्ती व्यक्तियो के प्रति भेद–भाव की नीति अपनाता है तो वह 6 मास के कारावास अथवा 500 रुपया जुर्माना अथवा दोनो दण्डो का भागी होगा।

(4) धारा 6 के अनुसार छुआछूत के आधार पर कोई भी दुकानदार सामान बेचने के लिए अथवा कोई भी व्यक्ति आम जनता को अर्पित की जाने वाली अपनी सेवा के लिए किसी को इन्कार नही कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति

अन्य लोगो के लिए सुलभ समान शर्तों पर इन सेवाओ को पाने का अधिकारी है। यदि कोई दुकानदार किसी वस्तु को बेचने से या कोई व्यक्ति अपनी सेवा प्रदान करने से किसी व्यक्ति को अस्पृश्यता के आधार पर इन्कार करता है तो वह उक्त दण्ड का भागी होगा।

(5) धारा 7 के अन्तर्गत अस्पृश्यता को बढावा देने वालो और अस्पृश्यता न मानने वाले लोगो का अनादर करने वाले लोगो को उक्त दण्ड का भागी घोषित किया गया है।

(6) धारा 9 मे सरकार द्वारा सहायता प्राप्त किन्ही सस्थाओ के प्रबन्धक यदि इस कानून के अन्तर्गत अपराधी सिद्ध हो गये हो तो इन सस्थाओ की सहायता अथवा सहायता का कोई अश निलम्बित करने की व्यवस्था है।

(7) धारा 11 मे छुआछूत सबधी अपराध दुबारा करने पर और अधिक कठोर दण्ड की व्यवस्था है।

सामाजिक कानून और सामाजिक दोषों का निराकरण

किसी भी समाज और सस्थाओं के दोषों को दूर करने के लिए राज्य की स्वीकृति का होना आवश्यक है और राज्य की स्वीकृति का सबसे उपयोगी, कारगर और महत्त्वपूर्ण साधन कानून है। सामाजिक कानून समाज–सुधार की नीव तैयार करते हैं। हिन्दू परिवार विवाह और जाति जैसी संस्थाओं में व्याप्त कमियो के निराकरण के लिए भारत सरकार द्वारा सामाजिक कानून बना दिये गये हैं लेकिन इन कमियों का अभी भी अन्त नहीं हो पाया है जबकि इन कानूनो को बने काफी समय हो गया है। उदाहरणार्थ बाल विवाहों पर कानूनी रोक लगा दी गई है विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति प्राप्त है कुछ विषम परिस्थितियो मे स्त्री–पुरुष को विवाह–विच्छेद की आज्ञा मिली हुई है लेकिन फिर भी काफी सख्या मे विधवाये अभी अविवाहित है और बाल–विवाह भी होते है। कितने ऐसे स्त्री–पुरुष हैं जिन्होने तलाक का आश्रय लिया। विवाह विच्छेद करने वाले स्त्री--पुरुषो की सख्या कुछ बढ रही है। यह सब क्यो होता है? इसका प्रमुख कारण यह है कि बाल विवाह निषेध विवाह–विच्छेद और विधवा पुनर्विवाह के कानून समाज पर थोप तो दिये गए पर जनमत को इनके पक्ष में नहीं मोड़ा जा सका अथवा दूसरे शब्दो में जनमत का समर्थन इन्हे नही प्राप्त हुआ। यह सत्य है कि कानून सामाजिक बुराइयो को दूर करने मे महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करते हैं फिर भी केवल कानून ही के जोर से सामाजिक समस्याओ का समाधान सभव नही। कानून बना देने से ही समस्या हल नहीं हो जाती। सामाजिक समस्या का असली हल तो सामाजिक कानूनों के पालन पर निर्भर है। कानून के पक्ष में जब तक जनमत नहीं होगा कानूनों का सम्यक पालन भी नही हो सकता। अत सामाजिक कानूनों की प्रभाविकता में तब तक कमी रहेगी जब तक वे लोकमत द्वारा समर्थित नहीं होगे।

अध्याय 16

मुस्लिम सामाजिक सस्थाएँ

(Muslım Socıal Instıtutıons)

सहिष्णुता हिन्दू समाज की एक प्रमुख विशेषता रही है। भारतवर्ष मे सभी धर्म के लोगो को अपना बनाने की प्रवृत्ति भी आरम्भ से ही रही है। ईसाइयो और मुसलमानो को हिन्दू समाज ने अपना अग बनाकर पचाने की कोशिश की लेकिन इस क्रिया मे हिन्दू सफल नही हुए। एक ओर जहाँ मुसलमानो ने कुछ हिन्दू बातो को ग्रहण किया जैसे वे हिन्दू देवताओ की भक्ति मे कविताएँ रचने लगे वही दूसरी ओर उन्होने भारतीय समाज को प्रभावित किया जिससे अनेक हिन्दू मुसलमान बन गए। जायसी आदि कवियो ने हिन्दू दार्शनिक परम्परा को अपनाया। मुसलमानो का केन्द्र भारतीय समाज न होकर अरब का जनजातीय समाज था जिससे इनकी सामाजिक और धार्मिक विचारधारा हिन्दुओ से भिन्न बनी रही। अस्तु भारतीय समाज की सम्यक जानकारी करने के लिए मुस्लिम सामाजिक सस्थाओ का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

मुस्लिम सामाजिक व्यवस्था की जानकारी करने के लिए इस्लाम धर्म मुस्लिम विवाह और परिवार की चर्चा का विशेष महत्त्व है। इस्लाम धर्म की नीतियो व मूल्यो के आधार पर मुसलमानो ने अपने सामाजिक सगठन का निर्माण किया। यहाँ तक कि सम्पूर्ण मुस्लिम सामाजिक जीवन पर इस्लाम धर्म की अमिट छाप है। कुरान इस्लाम धर्म की सबसे पवित्र पुस्तक मानी जाती है और कुरान की शिक्षाएँ मुसलमानों के लिए आदर्श हैं। अत पहले इस्लाम धर्म की विवेचना करना ही प्रासागिक और सगत है।

इस्लाम धर्म— मुस्लिम धर्म के प्रवर्तक हजरत मोहम्मद साहब ने इस धर्म का आविष्कार अपने मन से नही किया बल्कि उन्हे इस धर्म का इलहाम हुआ था। इलहाम का अर्थ भगवत्प्रेरणा से लगाया जा सकता है। जिन सभी बातो को हजरत मोहम्मद साहब ने इलहाम की स्थिति मे कहा था वे सभी बाते कुरान मे सग्रहीत है। अन्य शब्दो मे कुरान मे मोहम्मद साहब को पैगम्बर कहा गया है। पैगम्बर का अर्थ होता है पैगाम (सन्देश) ले जाने वाला। मोहम्मद साहब ने ईश्वर के सदेशों को मुसलमान जनता के समक्ष रखा इसलिए पैगम्बर कहलाए। आपने ईश्वर और मनुष्य के बीच धर्मदूत का काम किया। इस्लाम धर्म मे प्रत्यैक मुसलमान के लिए निम्नलिखिल पॉच कृत्य निर्धारित किये गये हैं।

1 **कलमा पढना—** इस कृत्य मे ला इलाह इल्लिलाह

मुहम्मदुर्रसूलिल्लाह नामक मत्र पढा जाता है। इस मत्र का अर्थ इस प्रकार है। ईश्वर एक है और मुहम्मद इसके रसूल हैं । कलमा पाठ की मुसलमानो मे बडी महिमा है।

2 **नमाज पढना—** इस कृत्य में पॉच बार भगवान् से प्रार्थना की जाती है।

3 **रोजा—**रमजान के महीने मे रोजा रखना प्रत्येक मुसलमान के लिए आवश्यक है। रमजान का महीना रोजा रखने के लिए सम्भवत इसलिए चुना गया है क्योकि इस महीने मे पहले—पहल कुरान उतरा था। रमजान के महीने भर मुसलमान लोग सूर्यास्त के बाद एक शाम खाना खाते है। खजूर से रोजा खोलने का एक आम प्रचलन है। लगता है खजूर से इस्लाम धर्म का निकट का और गहरा सम्बन्ध है।

4 **जकात—** वर्ष भर मे जो आमदनी हो उसका चालीसवाँ हिस्सा दान दे देना चाहिए।

5 **हज—** जिसे हिन्दू लोग तीर्थ यात्रा कहते हैं उसे मुसलमानो मे हज कहा जाता है अर्थात् तीर्थों का भ्रमण हज कहलाता है। मुसलमानो के तीर्थ मक्का और मदीना मे हैं इसलिए मुसलमान लोग 'हज करने के लिए मक्का और मदीना जाते हैं। आजकल सतो की समाधियो को भी मुसलमान लोग तीर्थ मानने लगे हैं।

इस्लाम धर्म की अन्य प्रमुख बाते

इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मोहम्मद साहब ने इस बात पर सर्वाधिक बल दिया कि ईश्वर एक है और इसलिए उसी की पूजा की जानी चाहिए। ऐसा प्रसिद्ध है कि जब मोहम्मद साहब मरने लगे तब उन्होने अपने शिष्यो को आदेश दिया कि वे खजूर के उस पेड को काट डाले जहाँ पर बैठकर मोहम्मद धर्म का उपदेश दिया करते थे। खजूर काट डालने की आज्ञा मोहम्मद साहब ने अपने शिष्यो को इसलिए दी जिससे इनके मरने के बाद मुसलमान लोग उस खजूर के पेड की पूजा न करने लगे जिसके नीचे बैठकर ये उपदेश दिया करते थे। इसके अतिरिक्त मोहम्मद साहब ने अपने को मर्त्य भी घोषित किया।

मुसलमानों के धार्मिक व सामाजिक जीवन मे कुरान के फातिहा नामक अध्याय का विशेष महत्त्व है। दिनकर जी अपनी पुस्तक 'सस्कृति के चार अध्याय मे लिखते हैं कि "मुस्लिम मानसिकता के निर्माण मे सबसे अधिक प्रभाव इसी अध्याय का रहा है। यह कर्मफल की विवेचना का अध्याय है जिसकी ओर प्रत्येक मुसलमान का ध्यान हर रोज़ पाँच बार दिलाया जाता है। इस्लाम में स्वर्ग और नरक की भी कल्पना की गयी है। कुरान में अति भयानक और विकराल विभिन्न नरको की कल्पना मिलती है। इस्लामी मान्यता के अनुसार "स्वर्ग सातवे आकाश पर अवस्थित है। वहाँ एक सुन्दर पुष्पवाटिका है जिसके पास झरने व फव्वारे हैं। स्वर्ग मे दूध व मधु की नदियाँ बहती हैं आदि—आदि"। इस्लाम धर्म

के मतानुसार मृत्यु के साथ जीवन समाप्त नही हो जाता। जब तक कयामत (सृष्टि का अन्त) नही आयेगी जीव को कब्र मे पडा रहना होगा। कब्र मे पडी आत्मा को कयामत के दिन ईश्वर के समक्ष उठकर जाना पडता है। कुरान मे कयामत का वर्णन हिन्दुओ के महाप्रलय के समान है। जब कयामत आयेगी तो सूर नामक शख से तीन बार आवाज उठेगी। सूर नामक शख की आवाज सुनकर सभी आत्माएँ भगवान् के सामने खडी होगी। प्रत्येक आत्मा के पाप और पुण्य का लेखा जोखा लिया जाएगा। जिनके पाप अधिक होगे वे नरकगामी होगे और जिनके पुण्य अधिक होगे उन्हे स्वर्ग मिलेगा।

इस्लाम धर्म के निषेध— इस्लाम धर्म के अन्तर्गत निम्नलिखित बातो का निषेध है।

(1) ब्याज लेना पाप है। इसलिए ब्याज लेना वर्जित है।

(2) एक साथ चार से अधिक पत्नियाँ रखना वर्जित है।

(3) सुरापान वर्जित है।

मुस्लिम विवाह

चूँकि मुसलमानो के सामाजिक सगठन पर इस्लाम धर्म के उदय के पूर्व के अरबी समाज की स्पष्ट छाप है, मुसलमानों की सामाजिक परम्पराएँ मूलत अरबी हैं और अशत भारतीय, अत इस्लाम धर्म के अभ्युदय के पूर्व अरबी समाज की विशिष्टताओ का उल्लेख करना आवश्यक है। मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया' के लेखक श्री के एम कपाडिया ने अपनी उक्त पुस्तक मे किनशिप एण्ड मैरिज इन अर्ली अरैबिया के लेखक डब्लू राबर्टसन स्मिथ के आधार पर इस्लाम धर्म के उदय के पूर्व के अरबी समाज की निम्नलिखित विशेषताओ का उल्लेख किया है।

(1) अरब मे कबीलाई समाज मे बहुविवाह प्रथा प्रचलित थी। अरब समाज के कबीले आपस में लड़ा करते थे। मातृसत्तात्मकता इन कबीलो की विशेषता थी।

(2) नारी को यौन क्षेत्र मे स्वतत्रता प्राप्त थी। उसे अपना पति चुनने की आजादी थी। वह पति को अपने तम्बू मे बुलाती थी और जब चाहती थी निकाल बाहर कर देती थी।

(3) सन्तान पर पत्नी के संबधियो (बन्धु बान्धव) का अधिकार रहता था और उन्ही की देखभाल में बच्चे पलते थे।

इस्लाम के पूर्ववर्ती समाज मे अनेक प्रकार के विवाहो का वर्णन मिलता है। तब क्रय और अपहरण विवाहो का प्रचलन था। अपहरण विवाहों का कारण कबीलाई सघर्ष हो सकता है। तत्कालीन अरबी समाज में नारी सम्पत्ति समझी जाती थी। नियोग जैसी प्रथा तत्कालीन अरबी समाज मे विद्यमान थी। वीर व मेधावी पुत्र प्राप्त करने के लिए पत्नी को वीरता व मेधा के लिए प्रसिद्ध व्यक्ति

के साथ सहवास के लिए भेज दिया जाता था और इस प्रकार उत्पन्न सन्तान पति की वैध सन्तान मानी जाती थी। अल्पकालीन विवाहो (मुता विवाह) का वर्णन भी मिलता है। अरब मे थोडे समय के लिए विवाह करने की एक साधारण प्रथा थी। इस्लाम मे मुता विवाह का विकास अरब समाज के अल्पकालीन विवाहो के आधार पर हुआ होगा।

मुस्लिम विवाह अर्थ और प्रकृति– मुस्लिम कानून के अनुसार विवाह पारस्परिक आनन्द प्रजनन और सतानो को वैध करने के लिए दो विषमलिगी व्यक्तियो के बीच हुआ एक सविदा (contract) है। मुस्लिम विवाह को सविदा[1] कहने की एक सामान्य प्रवृत्ति चल पडी है। सविदा की कानूनी विशेषताओ मे प्रस्ताव (Offer) स्वीकृति (Acceptance) और प्रतिदेय (Con sideration) मुख्य हैं। ये तीनो बाते मुस्लिम विवाह मे विद्यमान हैं। मुसलमानो मे विवाह के लिए प्रस्ताव वर पक्ष की तरफ से कन्यापक्ष के सामने रखा जाता है और वर के इस प्रस्ताव को कन्या दो पुरुष गवाहो अथवा एक पुरुष और दो महिला गवाहो की उपस्थिति मे स्वीकार करती है। जब वर और कन्या दोनो विवाह करने के लिए सहमत हो जाते हैं तो दोनो अपनी लिखित सहमति प्रकट करते है। मुस्लिम विवाह मे महर (Dower) का भी आयोजन है। महर प्रतिदेय का ही एक रूप है। महर वह धनराशि होती है जिसे वर से प्राप्त करती है। विवाह के बाद पत्नी महर की अधिकारिणी हो जाती है। अत कानूनी दृष्टि से सविदा पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुचेगे कि मुस्लिम विवाह एक सविदा है। परन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टि से मुस्लिम विवाह सविदा नही है। मुस्लिम ही क्यो किसी भी धर्म के मानने वाले लडकों और लडकियो के बीच होने वाला विवाह समाजशास्त्रीय दृष्टि से सविदा नही है।

मुस्लिम विवाह हिन्दू विवाह की भाँति एक प्राथमिक सबध है न कि सविदा। सविदा एक ऐसा समझौता है जिसमे समझौता करने वाले दोनो पक्ष भविष्य मे निश्चित समय तक निश्चित ढग से व्यवहार करने के लिए बाध्य होते है।[2] विवाह मे भाग लेने वाले दो पक्ष (नर और नारी) भविष्य मे कैसा व्यवहार करेगे इसका निर्धारण विवाह के समय नही हो सकता और न ही होता है और न उनके पारस्परिक अधिकार और कर्तव्यो की सूची ही बनाई जाती है। समझौते (सविदा) की सबसे बडी विशेषता यह होती है कि इसमे पारस्परिक अधिकार और कर्तव्य पहले से ही निश्चित होते हैं और सीमित होते हैं। समझौते मे भाग लेने वाले दो पक्षो मे से अगर कोई एक पक्ष उन दायित्वो को पूरा करने के लिए दूसरे पक्ष से कहता है जिनका उल्लेख सविदा मे नहीं है, तो वह पक्ष उन्हे पूरा

करने के लिए बाध्य नही है क्योकि उनका उल्लेख सविदा मे नही है। उदाहरण के लिए अगर दो व्यापारियो मे किसी व्यापारी से यह कहे कि मेरे लडके को उच्च शिक्षा हेतु विदेश भेज दीजिए तो दूसरा व्यापारी फौरन यह कहेगा कि इसके बारे मे तो हमारे और आपके बीच कोई समझौता नही हुआ था। अगर कोई लडका अपने माता–पिता से यह इच्छा व्यक्त करे कि वह उच्च शिक्ष के लिए विदेश जाना चाहता है तो माता–पिता उसे उपरोक्त जवाब नही दे सकते। वे या तो उसे भविष्य मे कभी भेजने का वायदा करेगे या वित्तीय असमर्थता के आधार पर उसे न भेज सकने की बात कहेगे। अत मुस्लिम विवाह की प्रकृति सविदा से मेल नही खाती। इसके अलावा सविदा मे भाग लेने वाले व्यक्तियो के स्वार्थों मे भिन्नता भी हो सकती है। क्योकि कभी–कभी एक पक्ष की हानि से दूसरे पक्ष को लाभ होता है। दुकानदार और ग्राहक महाजन और ऋणी के सविदे में एक पक्ष की हानि से दूसरे पक्ष को लाभ हो सकता है। परन्तु विवाह के दोनो पक्षो के उद्देश्यो मे समानता पायी जाती है। यह नही है कि पति की हानि से पत्नी का लाभ हो और पत्नी की हानि से पति को लाभ। सच बात तो यह है कि एक की हानि से दूसरे को भी हानि होगी। इससे भी यही सिद्ध होता है कि विवाह समझौता नही है। इसके भी अलावा सविदा हमेशा अवैयक्तिक (impersonal) होता है जबकि विवाह सबध वैयक्तिक होता है। यदि पति का अपनी पत्नी पर अवैयक्तिक प्रेम है तो यह पति का सबसे बडा अपराध है।(No offence is greater in a husband than this that he should treat his love impersonally) वैयक्तिक सबध का सबसे अनिवार्य गुण है कि यह transferable नही है। इसका सम्बन्ध निश्चित व्यक्तियो (determinate individuals) से होता है जिनका स्थानापन्न किसी दूसरे व्यक्ति को नही बनाया जा सकता है। नया सबध बन सकता है पुराना सबध समाप्त हो सकता है परन्तु एक ही सबध मे एक व्यक्ति की जगह दूसरे को स्थानापन्न नही बनाया जा सकता।[3] चूँकि मुस्लिम विवाह वैयक्तिक सबध है इसलिए इसे सविदा नही कहा जा सकता है।

स्मरण रहे कि शुद्ध सविदात्मक सबध तो समाज मे पाया ही नही जाता क्योकि हर सविदा मे कुछ असविदात्मक (non-contractual) तत्त्व विद्यमान होते है। प्रत्येक सविदा मे सविदा की शर्तों मे अनुल्लिखित कुछ प्रतिबन्धो के आधार पर भग होने की प्रवृत्ति दिखती है। उदाहरणार्थ यदि सविदा नाबालिग के साथ हुआ है अथवा छल से किया गया है तो वह रद्द समझा जायेगा। इसके अतिरिक्त विवाह एक प्राथमिक सबध है न कि गौण (Secondary) अथवा सविदात्मक सम्बन्ध।

रिबेन लेवीकृत पुस्तक 'दि सोशल स्ट्रक्चर आव् इस्लाम' मे उल्लेख है कि मोहम्मद साहब के समय मे और उनके पूर्ववर्ती समय मे हरण विवाह के साथ–साथ कय विवाह का प्रचलन मुस्लिम समाज मे था। इस कय विवाह की

3- डेविस वही पृ 297

प्रथा मे वर को कन्या के पिता या अन्य निकट के रक्त सबधी को कुछ मुद्रा राशि (जिसे महर कहते हैं) देनी पडती थी और कुछ धनराशि (सदाक) स्वय कन्या को प्राप्त होती थी। महर और सदाक की कोई निश्चित मात्रा का निर्धारण नही था। मोहम्मद के समय मे ही क्रय विवाह की व्यवस्था अपने मौलिक रूप से थोडा भिन्न हो गई थी। वर द्वारा धनराशि का भुगतान तो अब भी किया जाता था लेकिन यह भुगतान केवल वधू को ही किया जाता था, न कि उसके पिता या अन्य समीप के रक्त सबधी को। इसका परिणाम यह हुआ कि महर और सदाक समानार्थक बन गये।

मुस्लिम विवाह मे महर का विचार मुख्य है। अत यहाँ महर की प्रकृति का विवेचन अति आवश्यक है। मुस्लिम कानून पुस्तको मे महर की अधिकतम राशि का उल्लेख नही है और सफी लोगो के अनुसार कोई न्यूनतम धनराशि भी महर के लिए निर्धारित नही है। सफी लोग ऐसे विवाह की अनुमति नही देते हैं जहाँ महर की धनराशि एक दीनार (दस दिरहम[1]) से कम हो। यह धनराशि इसलिए दी जाती है क्योकि एक परम्परा के अनुसार मोहम्मद ने अपनी कई पत्नियो को दस दिरहम का महर और अनेक गृहस्थी की वस्तुएँ जैसे चक्की जलघट और अन्य लकडी का सामान दिया था।

महर की राशि वधू को तभी दी जायगी जब वह स्वतत्र औरत हो। यदि वह दास है तो महर की राशि का भुगतान उसके स्वामी को किया जायेगा। कुमारी कन्या के लिए तलाक प्राप्त स्त्री और विधवा की अपेक्षा महर की धनराशि काफी अधिक होगी।

सामान्य तौर से महर की सम्पूर्ण धनराशि का भुगतान विवाह के तत्काल बाद नही किया जाता है। महर की धनराशि का कितना अश विवाह की पूर्णता (Consummation) के पूर्व अदा किया जायेगा इस विषय मे भिन्न–भिन्न क्षेत्रो मे प्रथा भिन्न–भिन्न है। महर का आधा अश अथवा दो तिहाई अश Consummation के पूर्व चुकाया जा सकता है और शेष तब तक के लिए सुरक्षित रखा जा सकता है जब तक कि पति, पत्नी से विवाह–विच्छेद न करे। मुस्लिम विवाह मे महर का निर्धारण अनिवार्य है चाहे इसकी मात्रा बहुत कम ही क्यो न हो। परन्तु यदि महर का निर्धारण नही होता तो विवाह अवैध माना जायेगा। मुसलमानो मे महर के चार रूप प्रचलित हैं जो इस प्रकार हैं–

(1) **निश्चित महर** (Specified Dower) – यह महर का वह रूप है जिसमे स्त्री को मिलने वाले महर का निर्धारण वर वधू की पारस्परिक सहमति से होता है।

(2) **उचित महर** (Proper Dower)– कभी–कभी महर की राशि विवाह के समय निश्चित नहीं की जाती है और जब बाद में इसके भुगतान का प्रश्न उठता है तो पत्नी के लिए धन की जिस मात्रा का भुगतान कोर्ट उचित समझता है उसे उचित महर कहा जाता है। उचित महर का निर्धारण करने मे

न्यायालय पत्नी के पिता और उसके पति की स्थिति को ध्यान मे रखता है और साथ ही उसके पिता के परिवार मे अन्य विवाहित लडकियो को कितना महर मिला है इसका भी ख्याल रखता है।

(3) **सत्वर महर** (Pıompt Doweı)- स्त्री द्वारा मॉग करने पर तुरन्त भुगतान किया जा सकने वाला महर सत्वर महर कहलाता है। इसका भुगतान विवाह के समय या विवाह के बाद तत्काल किया जाता है । इसका प्रचलन मुसलमानो मे बहुत कम है।

(4) **स्थगित महर** (Defeııed Doweı)- मुस्लिम समाज मे महर के इस रूप का प्रचलन सबसे अधिक है। यह वह महर होता है जिसका भुगतान या तो विवाह–विच्छेद होने पर या अन्य किसी निश्चित घटना के घटित होने पर हो अर्थात् यह महर की राशि भविष्य मे किसी निश्चित तिथि पर देय होगी।

मुस्लिम विवाह की औपचारिकताएँ[5]

विवाह की औपचारिकताओ को मुसलमान लोग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समझते है। ये औपचारिकताएँ वास्तव मे एक निर्धारित ढग से सगाई (betrothal) के कुछ दिन पश्चात आरम्भ होती है। उदाहरणार्थ बगदाद मे प्रचलित परम्परा के अनुसार विवाह के एक दिन पहले वर उस घर की समस्त औरतो की सूचना प्राप्त करता है जहाँ से उसकी सगाई हुई है और उनमे से प्रत्येक को मिठाइयो और सिल्क के रूमालो के साथ जूतो की एक जोडी या अन्य कोई छोटा उपहार भेजता है। औरते इन उपहारो को विवाह मे आये अतिथियो को बॉटती है। यह उपहार कई व्यक्तियो के सिर पर रखे हुए trays मे वर की स्थिति की सामर्थ्यानुसार धूम–धाम से भेजा जाता है। इस उपहार के पीछे अरब की तुरही और ढोल का एक बैंड चलता है। उसके पीछे आनन्द मनाता हुआ स्त्रियो का झुण्ड चलता है। विवाह के एक दिन पूर्व वर विवाह–सविदा पर हस्ताक्षर करने वाले गवाहो को आमन्त्रित करता है।

विवाह के दिन इमाम वर और वधू दोनो के परिवारो से एक–एक प्रतिनिधि बुलाता है। ये प्रतिनिधि ही दो गवाहो का कार्य करते है। मुस्लिम प्रथा के अनुसार साक्षी अथवा गवाहो की विवाह के समय उपस्थिति पर विशेष बल दिया गया है। विवाह–सविदा पर इन्ही गवाहो के हस्ताक्षर होते है। गवाही का कार्य करने वाले पुरुष ही होने चाहिये। इन गवाहो का वयस्क स्वतत्र और मुसलमान होना आवश्यक है । यदि दो पुरुष गवाह न मिल सके तो एक पुरुष गवाह और दूसरे पुरुष की जगह दो स्त्रियो से काम चलाया जा सकता है।

विवाह सविदा पर हस्ताक्षर होने के समय इमाम वर और वधू के परिवारो के प्रतिनिधियो से विवाह की शर्तो की सहमति के बारे मे औपचारिक ढग से पूछता है और यदि उन्हे विवाह की शर्तें मान्य होती हैं तो इमाम वर और वधू का हाथ एक साथ इस प्रकार रखता है कि दोनो के अँगूठे स्पर्श करते रहे। इसी

5 रिवेव लेवीकृत पुस्तक दि सोशल स्ट्रक्चर आव् इस्लाम पर आधारित।

स्थिति मे इमाम उन्हे प्रार्थना पढते समय जुडवाए रहता है। विवाह मे उपस्थित सभी व्यक्ति फातिहा (कुरान का प्रथम अध्याय) पढते हैं। फातिहा पाठ के साथ ही विवाह की औपचारिकता समाप्त हो जाती है। इसके बाद मे विवाह भोज होता है। बिना किसी पर्याप्त उचित कारण के कोई भी आमन्त्रित व्यक्ति इस भोज मे अनुपस्थित नही हो सकता है।

मुस्लिम विवाह की कतिपय रस्मे— हिन्दू आदि विवाहो की तरह मुस्लिम विवाह की भी कुछ अपनी रस्मे हैं। ये रस्मे जैसा कि पहले सकेत किया जा चुका है अशत अरबी है और अशत भारतीय। मुस्लिम विवाह की रस्मे इस प्रकार है-

(1) **मॅगनी**— इस रस्म से विवाह (निकाह) की शुरूआत होती है। मॅगनी का सबध मॉगने से है। मॅगनी की रस्म मे वर पक्ष की ओर से कन्या मॉंगी जाती है। मॉग स्वीकार हो जाने पर कन्या को वर की तरफ से अँगूठी या कडे भेंट किए जाते है।

(2) **इमाम जामन**— यह चॉदी या सोने का सिक्का होता है जिसे सिल्क के कपडे मे लपेट कर वर की मॉ द्वारा कन्या की बॉंह मे बॉंध दिया जाता है।

(3) **माझा**— इस रस्म मे कन्या पीला वस्त्र धारण करती है। यह कृत्य निकाह के कुछ दिन पूर्व होता है। इन दिनो मे नाइन कन्या के घर जाकर उसके उबटन लगाती है और नाई वर के उबटन लगाता है। यह कृत्य निकाह के दिन तक होता रहता है।

(4) **साचिक**— इस रस्म मे कन्या को मेहदी और अन्य उपहार दिये जाते हैं खासकर निकाह के समय कन्या के पहनने के हेतु कीमती वस्त्र और आभूषण वर के यहॉ से भेजे जाते हैं।

(5) **निकाह**— मुस्लिम विवाह का प्रमुख कृत्य है। निकाह का वर्णन मुस्लिम विवाह की औपचारिकताएँ नामक शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है।

6 **सलामी**— विवाहोपरान्त दूल्हा घर के बड़ों को सलाम करता है और इसके बदले मे उपहार प्राप्त करता है। ये उपहार सलामी कहलाते हैं।

7 **हल्दी**— हल्दी मलने की रस्म को हल्दी कहते हैं। यह रस्म भारतीय है।

8 **चौथी**— यह भारतीय रस्म है और साथ ही मुस्लिम विवाह की अन्तिम रस्म है। इसे दुख्ल (सुहागरात) की रस्म भी कहते हैं। इसका सम्बन्ध सम्भोग से है।

निषेध— मुसलमानों मे सामान्यतौर से मूर्तिपूजक स्त्री (idolatress) से विवाह करने की अनुमति कुरान नही देता है। कुछ अपवादों के साथ ओल्ड टेस्टामेन्ट की पुरोहित संहिता में उल्लिखित किन्शिप की निषिद्ध पीढ़ियो के

अन्तर्गत आने वाले लडको और लडकियो मे भी विवाह मना है। एक औरत किसी ऐसे पुरुष से विवाह नही कर सकती है जो मुसलमान न हो। अर्थात औरत को मुसलमान पुरुष के ही साथ विवाह करने का अधिकार है। पुरुष किसी भी किताबिया[6] औरत से विवाह करने के लिए स्वतत्र है।

मुसलमानो मे तलाक (Divorce among Muslims)

मुसलमानो मे तलाक एक सामान्य और सरल घटना है। मुस्लिम समाज मे पुरुष जब चाहे तब अपनी इच्छानुसार बिना किसी कारण का उल्लेख किए हुए अपनी पत्नी को तलाक देने के लिए स्वतत्र था। तलाक की घोषणा हो जाने पर भी पत्नी मुक्त नही हो पाती थी। उसे तीन मासिक धर्मों तक (इस बात का पता लगाने के लिए कि कही वह गर्भवती तो नही है।) इन्तजार करना पडता था। इस इन्तजारी के काल मे , जिसे इद्दत कहते है पति अपनी तलाक की हुई पत्नी से पुन सहवास करके उसे फिर पत्नी बना सकता था। पति तलाक दी हुई पत्नी से उसे पुन पत्नी बनाने के लिए काई सहमति मॉगे इसकी कोई आवश्यकता न थी।

यद्यपि तलाक मुसलमानो मे एक सामान्य घटना थी फिर भी मोहम्मद साहब इसके पक्ष मे बहुत इसलिए नही थे क्योकि वे परिवार के स्थायित्व के पक्ष मे थे। अत तलाक की अनुमति तभी थी जब पति–पत्नी विवाह सबध बनाये रखने मे असमर्थ हो जाये। एक 'परम्परा के अनुसार तलाक वह वस्तु है जो वैध तो है परन्तु ईश्वर जिसे घृणा की दृष्टि से देखता है ।

मुसलमानो मे तलाक देने के लिए तलाक की घोषणा करना ही पर्याप्त है। पत्नी की अनुपस्थिति मे भी उसे तलाक दिया जा सकता है। मुसलमान लोगो मे तलाक के दो रूप मिलते है–

(1) सामाजिक नियमो द्वारा तलाक और (2) न्यायालय द्वारा तलाक।

1- मुस्लिम जनता मे बिना कोर्ट की सहायता के अथवा सामाजिक नियमो द्वारा तलाक की व्यवस्था है। तलाक के कुछ प्रथागत रूप निम्नलिखित हैं–

तलाक– पति द्वारा सम्बन्ध विच्छेद करने को तलाक कहते है। मुस्लिम समाज मे पति को तलाक देने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। कोई भी शुद्ध चित अथवा स्थिर बुद्धि वाला वयस्क पुरुष स्वय अथवा किसी मध्यस्थ द्वारा तलाक की घोषणा कर सकता था। इस तलाक मे पत्नी अथवा किसी गवाह की उपस्थिति आवश्यक नही है।

इला–एकव्रत लेकर जब पति चार माह तक पत्नी से सहवास नही करता है तो चार माह की इस अवधि के पूरे हो जाने पर तलाक का कार्य पूर्ण हो जाता है। यदि इस अवधि मे सहवास हो जाता है तो तलाक वापस समझ लिया जाता है।

---

६ किताबिया औरत से तात्पर्य उस औरत से है जिसका मजहब इस्लाम की भॉति किताबी है। अत यहूदी और ईसाई औरतो को किताबिया कहा जा सकता।

जिहर– अगर पति अपनी पत्नी की तुलना ऐसी स्त्री से करता है जो निषिद्ध सम्बन्धी वाली हो अर्थात् उसे निषिद्ध सम्बन्ध के अन्तर्गत आने वाली स्त्री मान लेता है तो पत्नी पति से प्रायश्चित करने की मॉग करती है। यदि पति प्रायश्चित नही करता है तो पत्नी को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपने पति को प्रायश्चित करवाने के लिए अथवा तलाक की घोषणा करवाने के लिए न्यायालय मे आवेदन पत्र दे।

खुला– जहॉ पति–पत्नी स्वस्थ मस्तिष्क के हो और तरुणावस्था की सीमा पार कर गये हो तो वे सहमति लेकर एक दूसरे को तलाक दे सकते है लेकिन तलाक के इस रूप मे पत्नी के अनुरोध से प्रतिदेय लेकर पति विवाह–विच्छेद करता है अर्थात् विवाह सम्बन्ध से अलग हो जाने का अनुरोध करने के कारण पत्नी पति से महर आदि न लेने का आश्वासन देती है अथवा अन्य किसी रूप मे क्षतिपूर्ति करने का वायदा करती है।

मुबरअत– यह पति और पत्नी दोनो की इच्छा से किया गया तलाक है। खुला और मुबरअत मे अन्तर यह है कि खुला मे पत्नी तलाक देती है जबकि मुबरअत मे दोनो की सहमति तलाक के लिए आवश्यक है। इसमे किसी भी पक्ष को दूसरे के लिए कोई हर्जाना नही देना पडता है।

न्यायालय द्वारा तलाक– स्त्री–पुरुष के अधिकारो मे विषमता हिन्दू समाज की ही एक विशेषता न थी मुस्लिम समाज मे भी स्त्री और पुरुष के अधिकार समान नही थे। मुसलमानो मे भी स्त्री पर पुरुष का आधिपत्य था और वह पुरुष की सम्पत्ति समझी जाती थी। हिन्दू समाज सुधारको की ही भॉति मुस्लिम–सतो और समाज सुधारको द्वारा भी समय–समय पर स्त्री–पुरुष मे व्याप्त इस असमानता के निराकरण के लिए प्रयास किये जाते रहे हैं और इन्ही सत् प्रयासो के फलस्वरूप 1939 मे मुस्लिम विवाह–विच्छेद अधिनियम लागू हुआ जिसके अन्तर्गत स्त्रियो को भी कुछ परिस्थितियो मे तलाक देने का अधिकार प्राप्त हुआ।

मुस्लिम विवाह–विच्छेद अधिनियम 1939

मुस्लिम कानून के अन्तर्गत विवाहित सभी स्त्रियों पर यह अधिनियम लागू है। इस अधिनियम के सेक्सन दो के अनुसार कोई स्त्री निम्नलिखित दशाओं मे न्यायालय द्वारा तलाक की आज्ञा प्राप्त कर सकती है।

(1) पति का पता चार वर्ष की अवधि से न लगा हो।

(2) पति जानबूझ कर अथवा अपनी असमर्थता के कारण दो वर्ष की अवधि से उसके भरण–पोषण की व्यवस्था करने मे असफल रहा हो।

(3) यदि पति को सात वर्ष या इससे अधिक समय के लिए कारावास का दण्ड मिला हो।

(4) यदि पति ने पिछले तीन वर्षों से अपने वैवाहिक कर्तव्यो का पालन न किया हो।

(5) यदि पति विवाह के समय नपुंसक हो।

(6) यदि पति पिछले दो वर्षों से पागल हो कोढी हो अथवा घातक यौन रोग से पीडित हो।

(7) यदि संरक्षक ने विवाह 15 वर्ष से कम की आयु मे ही कर दिया हो और पत्नी ने सहवास न किया हो और 18 वर्ष की आयु पूरी होने के पहले ही ऐसे विवाह के विरुद्ध घोषणा कर दी हो।

(8) यदि पति अपनी पत्नी के प्रति अत्याचार करता है यदि पति व्यभिचारी है तो भी पत्नी तलाक दे सकती है। पत्नी की सम्पत्ति के प्रयोग मे बाधा डालना धार्मिक कृत्यो के पालन मे बाधा डालना उसे अपमानित करना आदि कुछ ऐसे कृत्य हैं जिनके आधार पर भी पत्नी पति को तलाक दे सकती है।

(9) अन्य दूसरा कारण जिसे मुस्लिम कानून ने मान्यता दे रखी हो।

मुस्लिम और हिन्दू विवाहो की तुलना

हिन्दू, मुसलमान और ईसाई समाजो मे अन्य समाजो की भाँति विवाह–संस्था अनिवार्य रूप से विद्यमान है लेकिन सभी समाजो मे विवाह की प्रकृति एक सी नही है और न ही विवाह के आदर्शों मे साम्य है। हिन्दू और मुस्लिम विवाहो मे साम्य नही है इसका यह तात्पर्य कदापि नही है कि हिन्दू और मुस्लिम विवाह मे कुछ भी समताएँ नही हैं। हिन्दू और मुस्लिम समाज मे पाये जाने वाले विवाहो की तुलना करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कुछ बातो मे मुस्लिम और हिन्दू विवाह मे समता है जैसे (1) सन्तानोत्पादन दोनो प्रकार के विवाहो का उद्देश्य है और (2) यौनेच्छा की पूर्ति हिन्दू और मुस्लिम दोनो समाजो मे विवाह का प्रमुख आधार है। इन समानताओं के अतिरिक्त जो भिन्नताएँ हैं वे निम्नलिखित हैं–

(1) मुस्लिम समाज मे विवाह का प्रस्ताव वर पक्ष की तरफ से कन्या पक्ष के सामने रखा जाता है। हिन्दुओ मे कन्या के अभिभावक (पिता, चाचा, ताऊ भाई) वर के यहाँ जाकर कन्या के विवाह का प्रस्ताव रखते हैं और वर के माता–पिता या अन्य सगे सम्बन्धी इस प्रस्ताव को स्वीकार करते हैं। वर के अभिभावको द्वारा कन्या पक्ष के विवाह प्रस्ताव के स्वीकरण को 'वाग्दान' कहा जाता है।

(2) मुस्लिम समाज मे प्रचलित विवाह पद्धति के अनुसार विवाह के लिए वर–वधू की लिखित सहमति अपेक्षित है और विवाह–पत्र पर दो पुरुष गवाहो के हस्ताक्षर होना आवश्यक है। इन गवाहो मे एक वधू के परिवार का प्रतिनिधि होता है और दूसरा वर के परिवार का प्रतिनिधित्व करता है।

(3) हिन्दू विवाह मे दहेज का चलन है जबकि मुस्लिम विवाह मे महर का। दहेज और महर दोनो एक नही हैं। दहेज कन्या के पिता द्वारा वर के माता–पिता को नगद या वस्तुओ के रूप मे दिया गया उपहार है। महर धन की

वह मात्रा है जिसे पति अपनी पत्नी को चुकाता है। मुस्लिम प्रथा के अनुसार महर का निर्धारण मुस्लिम विवाह का एक बहुत जरूरी अग है यद्यपि महर की न्यूनतम या अधिकतम सीमा का निर्धारण मुसलमानो मे नही किया गया है।

(4) हिन्दू और मुस्लिम विवाह मे सम्बन्ध की अवधि के आधार पर अन्तर परिलक्षित होता है। विवाह की अविच्छेद्यता के महत्त्व को हिन्दू स्वीकार करते है। वे विवाह का अल्पकालीन सबध न मानकर इसे अटूट और जन्मजन्मान्तर का सबध समझते है। मुसलमानो मे विवाह के स्थायी और अस्थायी दो रूप पाये जाते है। स्थायी विवाह को निकाह और अस्थायी विवाह को मुता विवाह कहते है। अत स्पष्ट हो जाता है कि मुता विवाह एक अल्पकालीन सबध है। एक निश्चित अवधि के पश्चात् मुता विवाह को भग किया जा सकता है। अरब समाज मे क्रय विवाह के साथ ही साथ मुता विवाह का भी प्रचलन था। अरब समाज मे प्रचलित एक प्रथा के अनुसार स्त्रियॉ पुरुषो को अपने कैम्प या तम्बू मे बुलाती थी और जब चाहती थी उसे बाहर निकाल देती थी। इस प्रकार अरब समाज मे स्त्रियो को यौन क्षेत्र मे बहुत अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। स्त्रियो की इस स्वतन्त्रता को कम करने के उद्देश्य से मुता विवाह का प्रचलन हुआ जिसमे कम से कम एक निश्चित अवधि तक स्त्री अपनी इच्छा से पुरुष को विवाह सम्बन्ध से अलग नही कर सकती थी। मुता विवाह कुरान के कट्टर अनुयायी शिया लोगो मे प्रचलित है। पर्सिया निवासी और अन्य शिया लोगो मे इस विवाह का प्रचलन रहा। प्रोफेट मुहम्मद इस मुता विवाह का अन्त तो नही कर सके लेकिन उन्होने इसकी भर्त्सना अवश्य की। उन्होने इसे 'वेश्यावृति की भगिनी' घोषित किया। अस्थायी होना मुता विवाह का प्रमुख लक्षण है[7]। मुता विवाह से उत्पन्न सतान पर स्त्री के बधु बान्धवो का अधिकार होता है उसके पति का अधिकार नही होता। शास्त्रो मे हिन्दू विवाह के आठ प्रकारो का उल्लेख मिलता है यद्यपि हिन्दू समाज मे ब्राह्म और आसुर विवाहो का ही सर्वाधिक प्रचलन रहा। इस प्रकार के विवाह के आठ रूपो का मुस्लिम समाज मे अभाव मिलता है।

(5) बहुपत्नीत्व मुस्लिम समाज का एक लक्षण है। हिन्दुओं ने एक पत्नी–व्रत के आदर्श को स्वीकार किया । कुछ कुलीन हिन्दू जातियों में अपवाद स्वरूप एक से अधिक पत्नियाँ रखने की प्रथा रही है लेकिन समाज ने इसे कभी भी अच्छा नहीं माना। मुसलमानो में तो चार तक पत्नियाँ रखने की छूट है परन्तु पॉचवॉ विवाह करना निषिद्ध समझा गया।

(6) हिन्दू विवाह किसी भी तरह से एक संविदा नही है जबकि मुस्लिम विवाह कानूनी दृष्टि से एक सविदा है। वर–वधू की एक निर्धारित फार्म पर विवाह के लिए स्वीकृति विवाह–पत्र पर दो पुरुष गवाहों के हस्ताक्षर और महर मुस्लिम विवाह के कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो इसे एक संविदा सिद्ध करते हैं परन्तु हिन्दू विवाह में ऐसा कोई तत्त्व विद्यमान नहीं है जिसके आधार पर इसे एक संविदा घोषित किया जा सके। समाजशास्त्रीय दृष्टि से और गहराई से विचार

7- के० एम० कपाडिया 'मैरिज एण्ड फैमिली इन इंडिया' आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1966 पृ० 1999

करने पर मुस्लिम विवाह भी सविदा नही प्रतीत हाता है। इसे सिद्ध भी किया जा चुका है कि मुस्लिम विवाह समाजशास्त्रीय दृष्टि से सविदा नही है।

(7) कर्मकाण्डो और वैवाहिक कृत्यो की दृष्टि से हिन्दू विवाह मुस्लिम विवाह स कही अधिक जटिल है। हिन्दू विवाह के कृत्यो की सूची लम्बी है। मुस्लिम विवाह बहुत ही औपचारिकताओ के साथ समाप्त हो जाता है।

(8) मुसलमानो मे विवाह को जैविक आवश्यकताओ की पूर्ति का एक साधन माना गया जबकि हिन्दू, विवाह के जैविक आधार को गौण स्थान देकर धर्म–पालन को विवाह का प्रधान उद्देश्य मानता है।

मुस्लिम पारिवारिक जीवन

सामाजिक जीवन की झलक पारिवारिक जीवन मे देखने को मिलती है क्योकि पारिवारिक जीवन सामाजिक जीवन का लघु रूप है। यहॉ स्त्रियो की स्थिति, विधवा पुनर्विवाह पर्दा प्रथा, भोजन ढगो (Table manners), शिष्टाचार के सामान्य नियमो घरो की सजावट उम्र सम्मान (Respect for age), सस्कार आदि की दृष्टि से भारतीय मुस्लिम परिवार व्यवस्था का विवेचन प्रस्तुत है। अपने पड़ोसी हिन्दुओ के सामाजिक सास्कृतिक जीवन से प्रभावित होने के कारण भारतीय मुस्लिम सस्कृति न तो पूरी तरह भारतीय है और न पूरी तरह विशुद्ध मुस्लिम, ईरानी अथवा तुर्की। इसे तो भारतीय इस्लामी सस्कृति कहना अधिक अच्छा रहेगा। जो बात सस्कृति के लिए सही है परिवार व्यवस्था के लिए भी सच है। हिन्दू परिवार से मिलता जुलता होने के बावजूद मुस्लिम परिवार की अपनी बाते हैं जिनमे वह हिन्दू परिवार से भिन्न है। मुस्लिम परिवार की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं।

(1) **पितृ सत्ताक परिवार प्रणाली**—मुसलमानो के परिवार पितृ–सत्ताक हैं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियो को कम अधिकार प्राप्त हैं और पुरुषो का स्थान स्त्रियो की अपेक्षा अधिक होता है। परिवार का मुखिया पुरुष सदस्य ही होता है। विवाह के बाद पत्नी अपने पति के घर जाती है और वही रहती है।

(2) **विस्तृत परिवार प्रणाली**— यद्यपि आजकल एकाकी परिवारो का प्रचलन बढ रहा है फिर भी मुसलमानो में विस्तृत परिवार होते हैं। परिवार का आकार बडा होता है। कुरान मे सम्मिलित परिवार को ही उत्तम परिवार माना गया है। परिवार मे सदस्यो की सख्या अधिक होती है और मुखिया के आदेशो का पालन सभी सदस्य करते है।

(3) **आयु सम्मान**— भारतीय मुस्लिम परिवारो मे उम्र मे बडे लोगो का सम्मान किया जाता है। उम्र मे बड़ा होना तिरस्कार पूर्ण अथवा असम्मानजनक नही है बल्कि उल्टे इसे उच्चतम सम्मान, प्रतिष्ठा प्राप्त है क्योकि उम्र बढने के साथ बौद्धिक परिपक्वता आती है। उम्र मे बडे लोग परिवार के उम्र मे छोटे सदस्यो का अधिक प्यार और अधिक ख्याल करते है। कोई भी नौकर, बडा

सदस्य या बच्चा घर के वृद्ध पुरुष के प्रति असम्मान नही प्रदर्शित कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति उसे भोजन देने मे, सेवा करने मे और उसके आदेशो का पालन करने मे अपना सम्मान समझता है। घर की वृद्धा को भी वृद्ध जैसा सम्मान मिलता है। ये वृद्ध महिलाएँ प्रार्थना मे अपना समय बिताती हैं।

(4) **बहुपत्नी विवाह–** मुस्लिम परिवार मे बहु पत्नी प्रथा का रिवाज है। मुस्लिम कानून के अनुसार एक व्यक्ति चार पत्नियाँ रख सकता है। पत्नियाँ साथ–साथ रहती हैं। एक पुरुष के कई पत्नियाँ होना सघर्ष का कारण नही बन पाता क्योकि ऐसी स्थिति के लिए वे पहले से तैयार रहती हैं।

(5) **स्त्रियो की स्थिति–** मुस्लिम समाज मे स्त्रियो का स्थान दूसरे समाजो की स्त्रियो की अपेक्षा सम्मानजनक तथा आनन्द वर्द्धक रहा है। स्त्री घर की प्रबन्धक होती है। वह मुस्लिम धार्मिक कानून द्वारा दिये गये अनेक वैधानिक अधिकारो का उपयोग करती है। बच्चो का पालन–पोषण एव उनकी शिक्षा का कार्य उसे देखना पडता है। कम आयु के बच्चो को कुरान की शिक्षा देने का कार्य वृद्ध महिलाएँ करती हैं।

(6) **विधवा पुनर्विवाह–** मुसलमानों मे विधवाओ के पुनर्विवाह को निम्न दृष्टि से नही देखा जाता है और न ही वहाँ कोई ऐसी प्रथा या परम्परा ही है जो इसे तिरस्कार पूर्ण करार दे। स्वय इस्लाम के पैगम्बर ने विधवाओ से विवाह किया था। इस विषय मे कोई निषेधाज्ञा नही है। मोहम्मद साहब के शासनकाल (1719–48) मे विधवा पुनर्विवाह का अनादर होना आरम्भ हुआ था। उस समय के शासको ने इसे पारिवारिक असम्मान का चिन्ह माना। यदि विधवाएँ विवाह करती है तो वे अपने स्वर्गीय पतियो के प्रति निष्ठा के विरुद्ध कार्य करती है यह भावना भी विद्यमान थी। इसलिए अगर कोई अपनी विधवा लडकी या बहिन का दूसरा विवाह करता था तो उसे अपमानित किया जाता था तथा उसे बहिष्कार का सामना करना पडता था। समाज सुधारको के प्रयत्नों के फलस्वरूप अब इसे एक या दो शताब्दी पूर्व की भाँति तिरस्कार पूर्ण नही माना जाता है।

(7) **पर्दा प्रथा–** असरफ लोगो मे काफी हद तक पर्दे का अब भी चलन है। वर्तमान शिक्षा और सामाजिक आर्थिक परिवर्तनो ने पर्दा प्रथा के महत्त्व को कम कर दिया है। आधुनिक मुस्लिम परिवारो में इसका अन्त हो चुका है। पालकी व डोली मे जाने वाली औरते ताँगा, रिक्शा व बसो मे आती जाती हैं। बधू द्वारा सास से पर्दा करने की प्रथा पूरी तरह से भारतीय प्रथा है। दूसरे देश के मुसलमानो मे सास से पर्दा करने की प्रथा नही है।

(8) **भोजन ढंग–** परिवार के सभी लोग एक ही साथ भोजन [illegible] शहरों में लोगों की जरूरतें ऐसी हैं कि सभी लोग भोजन एक साथ नहीं कर पाते हैं और न ही नियत समय पर सभी भोजन के लिए इकट्ठा हो पाते हैं। फिर भी जहाँ तक हो सके पसन्द यही किया जाता है कि सभी साथ–साथ भोजन

करे। इस्लामी सिद्धान्तो मे छुआछूत का अभाव है इसलिए एक व्यक्ति द्वारा इस्तेमाल पात्र निस्सकोच होकर दूसरे द्वारा प्रयोग किये जाते है। एक ही पात्र मे दो–दो तीन–तीन लोग खा लेते है। मुस्लिम परिवारो मे चलने वाले पात्र साधारणतया चौडे और बडे होते है। दावतो मे अतिथियो द्वारा छोडी गई जूठन फेकी न जाकर नौकरो अथवा गरीबो या जरूरतमन्द लोगो को दे दी जाती है।

(७) **सस्कार–** इस्लामी समाज मे कुछ सस्कार है जिनसे होकर प्रत्येक मुसलमान गुजरता है। मुख्य सस्कार अधोलिखित है –

(1) **सतवॉं–** स्त्री के गर्भ धारण करने पर सातवे महीने मे इसका आयोजन किया जाता है। इसी से इसे सतवॉं सस्कार कहा जाता है। इस अवसर पर स्त्री को सजाकर गायन–वादन का कार्य होता है।

(2) **अकीका –** इसका सम्बन्ध पुत्र जन्म से है। सन्तान का जन्म उसका सिर मुडाने और जीव–बलि देने के रूप मे मनाया जाता है। अकीका अथवा मुण्डन सस्कार सन्तान जन्म के सातवे दिन आयोजित होता है। इसे चौदहवे दिन भी सम्पन्न किया जा सकता है। पुत्र जन्म पर दो बकरियो की बलि दी जाती है अन्यथा एक बकरी की बलि ही काफी है। गोश्त गरीबो और रिश्तेदारो मे बॉंटा जाता है। यह सस्कार अनिवार्य नही है। साधनो की कमी होने पर कोई भी इसे न करने के लिए स्वतत्र है। अकीका के दिन दोस्तो एव रिश्तेदारो को बुलाने का रिवाज भारतीय मुसलमानो मे है।

अकीका के अवसर पर शिशु को नाम दिया जाता है। नाम रखने का कार्य परिवार के बडे बूढे सदस्य द्वारा सम्पन्न किया जाता है। भारतीय मुसलमान अपने बच्चो को अरबी नाम देना पसन्द करते है। नाम अधिकतर इस्लामी होते हैं।

(3) **खतना–** इब्राहीमी परम्परा का अनुसरण करते हुए एक बालक को अकीका के बाद खतना सस्कार से होकर गुजरना पडता है। इस सस्कार का मुसलमानों मे बडा महत्व है। इसे 'मुसलमानी' भी कहते हैं। मुसलमान बनने के लिए यह सस्कार अनिवार्य है। जैसे हिन्दू की पहचान यज्ञोपवीत एव शिखा है वैसे ही मुसलमान की पहचान खतना है। इस सस्कार के अवसर पर नाई बालक के लिग के अगले भाग की त्वचा को काट देता है। यही कार्य खतना कहलाता है। आजकल अस्पतालो मे जहॉं औषधि की उत्तम सुविधाएँ है खतना का कार्य कराया जाता है। सस्कार का अन्त दावत से होता है।

(4) **बिसमिल्ला–** जब बालक चीजो को समझने और बात चीत करने के योग्य हो जाता है तो एक बूढे और पवित्र व्यक्ति को आमन्त्रित कर विद्यारभ का कार्य कराया जाता है। बिसमिल्ला नाम इसे इसलिए दिया गया है क्योकि यह विद्या के प्रारम्भ का द्योतन करता है। सम्पन्न परिवारो मे इसे धूम–धाम से सम्पन्न किया जाता है। उत्सव की समाप्ति पर उपस्थित लोग बच्चे को आशीर्वाद देते है, मिठाइयॉं वितरित की जाती है और सूक्ष्म जलपान से

अतिथियो का स्वागत होता है।

(5) **निकाह**— शादी या विवाह को ही मुसलमानो मे निकाह कहा जाता है। निकाह स्थायी विवाह है। मुस्लिम विवाह शीर्षक के अन्तर्गत निकाह पर विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है।

(6) **मृत्यु—सस्कार**— मृतक को ठिकाने लगाने की व्यवस्था मुस्लिम समाज मे भी है। मृत्यु होने पर यह सस्कार सम्पन्न होता है। इसे मैयत सस्कार भी कहते है। इस सस्कार मे मृतक को नहला कर उसे सफेद कपडे से ढक दिया जाता है। उसे चारपाई पर लेटा देने के बाद जनाजा का पाठ आत्मा की शान्ति के लिए किया जाता है। फिर मृतक को कब्रिस्तान ले जाया जाता है। वहॉ मुर्दे को दफना दिया जाता है और फातिहा पढा जाता है।

मुसलमानो मे जाति व्यवस्था

जाति प्रथा ने भारतीय मुसलमानो को अप्रभावित न छोडा। यह हो सकता है कि मुसलमानो मे हिन्दुओ के समरूप जाति प्रणाली का विकास न हुआ हो लेकिन मुस्लिम सामाजिक सरचना के अध्ययन से यह बात स्पष्ट है कि उनमे जातीय सस्तरण मिलता है। सिद्धान्तो मे मुसलमान अब भी भाई–भाई हैं उनमे सामाजिक भेदभाव नही है। भारतीय मुसलमानो मे जहाँ एक ओर समानता और विश्व बन्धुत्व के इस्लामी विश्वास मौजूद हैं वहीं दूसरी ओर व्यवहार मे उन्होने सामाजिक भेदभाव की अधिसरचना को अपनाया है। भारत के मुसलमानो ने जन्म पर आधारित एक सामाजिक पद सोपानत्व की व्यवस्था (Social Heirarchy) का विकास जरूर कर लिया है लेकिन जाति व्यवस्था के विपरीत उनकी उक्त व्यवस्था पूर्ण सामाजिक पृथकाव अथवा अस्पृश्यता पर न तो बल देती है और न समाज का सम्मान प्राप्त करने मे किसी व्यक्ति के मार्ग मे बाधक है। भारत के वे मुसलमान जो पहले हिन्दू थे और बाद में इस्लाम धर्म स्वीकार करके मुसलमान बने थे अपनी जाति सरचना व्यवसाय और अन्य कुछ सामाजिक प्रथाओ को न छोड सके जिससे भारतीय इस्लाम की सामाजिक सरचना मे हिन्दू जातियो के प्रतिरूप का समावेश हुआ। देश में बाहर से आए हुए मुसलमानो की सन्तानो ने तत्कालीन सामाजिक संरचना में सर्वोच्च स्थान का दावा करके उसमें अपने को फिट कर लिया क्योकि वे सैयदों और शेखो की तरह मुस्लिम शासक वर्ग के वश के होने का दावा करते थे। ये विभाग (Section) मुस्लिम युग के शासक वर्ग के निकट होने के कारण अपने को अशरफ (अन्य की तुलना में उच्च्य श्रेणी का होना) माना और उनका यह मानना स्वाभाविक भी था। सैयद लोग पैगम्बर से अपना वश सिद्ध करते हैं जब कि शेख (पवित्र धार्मिक पण्डित) प्राचीन इस्लाम के शासक वर्ग का वशज अपने को मानते हैं। मुस्लिम जाति संरचना में इन दो का स्थान सर्वोच्च है और शेष जैसा कि उनके नाम से स्पष्ट है Ethnic Groups हैं और इनका स्थान सैयद और

शेख के बाद आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च हिन्दू जाति से मुसलमान बने लोग धीरे–धीरे एक या दूसरी अशराफ जातियो द्वारा सम्मिलित कर लिए गए जैसे राजपूत मुसलमान अपने नाम के आगे खान लिखते है और सभी काश्मीरी ब्राह्मण शेख कहे जाते हैं। भारतीय मुसलमानो के दूसरे विभागो अर्थात निम्न हिन्दू जातियो से मुसलमान बने लोगो ने अपना व्यवसाय नही छोडा जैसे धोबी जुलाहा गद्दी नाई आदि। इनमे से कुछ जैसे गद्दी जुलाहा भिश्ती अब पूर्णरूपेण मुसलमान हैं जबकि कुछ ऐसी जातियाँ हिन्दुओ मे भी है। निम्न मुस्लिम जातियो मे से कुछ मे तो हिन्दुओ की ही तरह अन्तर्विवाही नियम (बिरादरी प्रणाली) का कड़ाई से पालन होता है। यह बिरादरी प्रणाली जातियो से बाहर विवाह निषिद्ध घोषित करती है और जाति निषेधो अथवा नैतिक सीमाओ को तोडने वाले लोगो के लिए बिरादरी से निकाल दिए जाने का भय दिखाकर सामाजिक नियत्रण के रूप मे कार्य करती है। भारतीय मुसलमानो मे अन्तर्वैवाहिकी और व्यवसाय के आधार पर जाति प्रणाली पाए जाने का उल्लेख डा आर एन सक्सेना ने किया है।

जातियो की दृष्टि से सम्पूर्ण मुस्लिम समाज के चार भाग किए जा सकते हैं।

(1) **ऊँची जाति के अशराफ मुसलमान**–इनमे शासक वर्ग अथवा राजवश के मुसलमान सम्मिलित हैं। ये अपने को सबसे ऊँचा कहते हैं। सैयद शेख मुगल पठान आदि इसी कोटि मे आते है। (2) **उच्च हिन्दुओ से बने मुसलमान**– ये उच्च जाति के हिन्दू थे। मुसलमान शासको के दबाव व प्रभाव के अन्तर्गत इन्होने हिन्दू धर्म छोड कर इस्लाम धर्म अगीकार कर लिया था। इनकी सख्या बहुत कम है। राजपूत जाट आदि इसी कोटि मे आते हैं। (3) **मुसलमान व्यावसायिक जातियाँ**– इस कोटि के अधिकतर सदस्य हिन्दू ही थे लेकिन अपना धर्म छोड़ कर मुसलमान हो गए थे। इनकी सख्या सबसे अधिक है। जुलाहा, दर्जी कसाई हज्जाम मनिहार धोबी धुनिया आदि इसी कोटि की जातियाँ हैं। (4) **नीची समझी जाने वाली मुस्लिम जातियाँ**– इनमे सबसे नीची समझी जाने वाली जातियो को स्थान प्राप्त है। हलाल खोर लालबेगी, अब्दाल बेदीऊ आदि इसी श्रेणी मे आते हैं। इन लागो के साथ उच्च जातीय मुसलमान कोई सम्पर्क नही रखते। इन्हे मस्जिद मे जाने की इजाजत नही है। इनके मुर्दे सार्वजनिक कब्रिस्तान मे नही गाडे जाते है।



अध्याय 17

ईसाई सामाजिक संस्थायें

(Christian Social Institutions)

ईसाई धर्म

ईसाइयो के जीवन–स्वरूप और उनके सामाजिक सगठन का विवेचन करने के लिए सर्वप्रथम ईसाई धर्म का विवेचन करना आवश्यक है। ईसाई धर्म की व्याख्या से उन तत्त्वो का बोध हो जायगा जिनका ईसाई समाज के निर्माण मे हाथ था। ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा थे जो मरियम के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। सस्कृति के चार अध्याय' नामक पुस्तक मे श्री दिनकर ने ईसाई धर्म को यहूदी धर्म की कुक्षि से उत्पन्न हुआ माना है। यहूदी धर्म के पैगम्बर हजरत दाऊद (David) और हजरत मूसा (Moses) हुए। पुरानी बाइबिल (ओल्ड टेस्टामेट) का कुछ भाग दाऊद का लेकिन अधिकाश भाग मूसा का लाया हुआ है। नई बाइबिल (न्यू टेस्टामेट) ईसा ने कही। यहूदी लोग पुरानी बाइबिल मानते हैं जबकि ईसाई लोगो का विश्वास नई बाइबिल मे है। यहूदी धर्म यज्ञमय तथा प्रवृत्ति प्रधान है। ईसाई धर्म पुरानी बाइबिल मे प्रतिपादित यहूदी धर्म का सुधरा हुआ रूप है।[1] ईसाई धर्म हिसाकारक यज्ञ का विरोधी है, दया और प्रेम के सिद्धान्तो से ओत प्रोत है। यह सन्यास युक्त धर्म है। ईसा का उपदेश है कि जिसे अमृतत्व की प्राप्ति करनी हो उसे बाल बच्चे छोड कर मेरा भक्त होना चाहिए।"(मैथ्यू 19/21)

ईसाई धर्म बौद्ध धर्म के काफी निकट है। ईसा और बौद्ध के उपदेशो मे भी काफी साम्य है।

> था शिष्य ईसा हिन्दुओ का यह पता भी है चला।
> ईसाइयो का धर्म भी है बौद्ध साँचे में ढला।।

महात्मा बुद्ध की ही भाँति ईसा ने जन साधारण को त्यागमय जीवन बिताने की प्रेरणा दी। दिनकर जी ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि 'जिस भूभाग मे ईसाई धर्म उठा वहाँ ईसा के बहुत पूर्व से ही बौद्ध साधुओ का आना जाना जारी था।' पहले ईसाई धर्म मे त्याग, सन्यास और साधना का बडा महत्त्व था लेकिन जब ईसाइयत योरप पहुँची तो उसका आकार–प्रकार बदल गया। यही कारण है कि ईसाइयत के दो रूप देखने को मिलते हैं। इसका एक रूप एशियाई है और दूसरा रूप योरोपीय। भारत मे ईसाइयत का एशियाई रूप

सीरिया से आया। ईसाइत का योरोपीय रूप पुर्तगालियो के आगमन के साथ भारत आया जिसे एशियाई ईसाइयत कहा जाता है वह है ईसा द्वारा प्रतिपादित अहिसावादी सन्यासमय पारलौकिक और मनुष्य मे देवत्व का अनुभव करने वाली भक्तिमार्गी ईसाइयत। योरोपीय ईसाइयत मिशनरी और प्रसारवादी है।

ईसा के उपदेश ईश्वर और उनकी दिव्य आत्मा मे विश्वास ईसाई धर्म का मूल आधार है। ईसाई धर्म की मान्यताओ के अनुसार ईश्वर मनुष्य से परे है लेकिन अपने पुत्र के माध्यम से वह स्वय इस जगत मे आ सकता है। ईसा ने ईश्वरानुभूति पर बल दिया और अपनी शिक्षाओ को ईश्वर की शिक्षाएँ घोषित किया।

हिन्दुस्तान मे ईसाई और मुसलमान धर्म को मानने वाले भी रहते है। हॉ यह जरूर है कि ईसाई धर्म को मानने वालो की सख्या कम है। भारतीय समाज ने मुसलमानो और ईसाइयो को अपने समाज का अग तो बना लिया लेकिन इनकी धार्मिक मान्यताओ मे कोई हेर फेर नही किया। उन्हे ज्यो की त्यो बनी रहने दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमानो और ईसाइयो की सामाजिक सरचना हिन्दू सामाजिक सरचना से भिन्न ही रही।

ईसाई विवाह (Christian Marriage)

ईसाइयत और विशेष रूप से सेण्टपाल ने ईसाई विवाह का बिलकुल नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। अत ईसाई विवाह को समझने के लिए सेण्टपाल के मुख्य विचारो को उद्धृत करना अनिवार्य है। आपके विचार से विवाह सन्तानोत्पादन के लिए आवश्यक नही था वरन् अनुचित यौन सबध के पाप को रोकने के लिए इसका विधान अत्यन्त आवश्यक था। आपके विचार अधोलिखित है[2]–

(1) मनुष्य के लिए यह बेहतर है कि वह स्त्री का स्पर्श न करे।

(2) 'फिर भी अनुचित यौन सम्बन्ध रोकने के लिए प्रत्येक पुरुष की अपनी पत्नी होनी चाहिए और प्रत्येक स्त्री का अपना पति होना चाहिए।'

(3) 'मैं अविवाहित और विधवाओ से कहता हूँ कि यह उनके लिए अच्छा है कि वे मेरे समान अविवाहित जीवन व्यतीत करे।

(4) लेकिन अगर वे अविवाहित नही रह सकते तो अन्तर्दाह की अपेक्षा विवाह करना ही सबसे अच्छा उपाय है।

सेण्टपाल के उपरोक्त विचारो से सुस्पष्ट है कि आपके लिए विवाह का जैविक उद्देश्य बिलकुल महत्त्वपूर्ण नही था। आप किसी भी प्रकार के सहवास को (यहाँ तक कि वैवाहिक सहवास को भी) मुक्ति प्राप्ति के प्रयास मे बाधक मानते थे। इससे सिद्ध होता है कि ईसाई धर्म नैतिकता प्रधान था और सभी जारकर्मों की भर्त्सना करना इस धर्म की एक नवीनता थी।

'यूनाइटेड चर्च आफ नार्दर्न इण्डिया' ने ईसाई विवाह को निम्न रीति से

2- 1 Cor VII 1-9

परिभाषित किया है–

"ईसाई विवाह एक पुरुष और एक स्त्री के ऐसे सविदे के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है जो कि सामान्यतया जीवन भर के लिए किया गया हो और जिसका उद्देश्य यौन सम्बन्ध, पारस्परिक सहयोग और एक परिवार की स्थापना करना हो।"

उद्देश्य– व्यभिचार से बचत सन्तानोत्पादन और रति ईसाई विवाह के प्रमुख उद्देश्य हैं।

व्यभिचार से बचत– पाप से बचत ईसाई विवाह का प्रमुख उद्देश्य है। अनुचित यौन सम्बन्ध को नियमित करने के लिए विवाह का विकल्प ही ईसाइयो मे वरेण्य है।

सन्तानोत्पादन– यद्यपि सेण्टपाल की दृष्टि से सन्तानोत्पादन विवाह का उद्देश्य नही है फिर भी कैथोलिक चर्च विवाह के इस उद्देश्य पर बल देता है और इस अर्थ मे ईसाई विवाह हिन्दू विवाह से मिलता जुलता है। जिस प्रकार हिन्दुओ मे सन्तानोत्पादन के विचार से किये गये सहवास की प्रशसा की गई है उसी तरह कैथोलिक चर्च के अनुसार सन्तान प्राप्ति की इच्छा ही यौन सम्बन्धो के औचित्य को सिद्ध कर सकती है। कैथोलिक चर्च की विचार धारा के अनुसार सन्तान प्राप्ति के उद्देश्य से प्रेरित न होकर स्थापित किया गया यौन सम्बन्ध पाप है।

रति–हिन्दू और मुस्लिम विवाहो की ही भाँति रति ईसाई विवाह का भी उद्देश्य है। ईसाइयत मे ब्रह्मचर्य व्रत (सेलीबेसी) की प्रशसा की गई है लेकिन इसकी प्रोटेस्टैण्ट शाखा ने ब्रह्मचर्य व्रत की प्रशसा को अस्वीकार करते हुए विवाह के विचार को स्थापित किया क्योकि यह शाखा वासनाओ के वेग और प्रबलता से परिचित थी। यह प्रबल काम वासना अगर सन्तुष्ट नही हो पाती तो मनुष्य के लिए पाप का मार्ग प्रशस्त कर सकती है।

ईसाई विवाह की प्रकृति– कैथोलिक चर्च के मतानुसार ईसाई विवाह एक सस्कार है। व्यावहारिक दृष्टि से इसकी सास्कारिकता का तात्पर्य यह है कि विवाह अविच्छेद्य है। प्रोटेस्टैण्ट चर्च का मत इससे भिन्न है। विवाह एक सस्कार है इस मत का खण्डन प्रोटेस्टैण्ट लोगों ने किया और कुछ खास परिस्थितियो मे तलाक की अनुमति दे दी। यहाँ यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि यौन अनैतिकता के प्रति प्रोटेस्टैण्ट बहुत अधिक जागरूक हैं। वर्तमान अमेरिका मे जहाँ तलाक एक आसान घटना है, अनुचित यौन सम्बन्धो की भर्त्सना कैथोलिक देशों की अपेक्षा अधिक कठोरता के साथ की जाती है।

ईसाई विवाह-विधि– ईसाइयों में विवाह एक धार्मिक संस्कार है और सामान्य रूप से सभी ईसाई धार्मिक विवाह ही करते हैं। विवाह पर चर्च का नियन्त्रण रहता है। विवाह के लिए इच्छुक वर और वधू अथवा दोनों में से कोई एक चर्च के अधिकारी को एक दरख्वास्त देता है जिसमे वह अपना और अपने

परिवार तथा दूसरे पक्ष व उसके परिवार का परिचयात्मक विवरण अकित करता है। चर्च का अधिकारी प्रार्थना पत्र की सूचना को तीन रविवारो तक प्रकाशित करता है। इस काल मे अगर विवाह का कोई विरोधी नही होता तो चर्च अधिकारी विवाह करने के लिए एक प्रमाण पत्र देता है। इस प्रमाण पत्र के मिल जाने के बाद ही वियाह होता है। विवाह के दिन वरपक्ष व कन्यापक्ष के लोग चर्च मे एकत्रित होते हैं। पादरी वर और वधू से एक दूसरे के साथ रहने की प्रतिज्ञा कराता है और दोनो एक दूसरे के साथ रहने का वचन देते हैं। विवाह के अवसर पर वर और वधू दोनो को यह घोषणा करनी पडती है कि उनके विवाह मे कोई बाधाएँ नही हैं। विवाह सम्पन्न कराने वाला अधिकारी यह घोषणा करता है कि ये दोनो अब पति पत्नी हो गए हैं।

वर द्वारा वधू की उँगली मे अँगूठी पहनाई जाती है। अन्त मे चर्चाधिकारी प्रार्थना करता है और दोनो को आशिर्वाद देता है।

ईसाइयो मे विवाह-विच्छेद— भारत के ईसाइयो का विवाह विच्छेद 1869 के भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम द्वारा नियन्त्रित है। इस अधिनियम के अनुसार पत्नी के अनुचित यौन सबधो के आधार पर पति उसे तलाक देने के लिए आवेदन पत्र दे सकता है। पत्नी निम्नलिखित आधारो मे से किसी एक के आधार पर विवाह विच्छेद का प्रार्थना पत्र दे सकती है।

(1) पति ने धर्म परिवर्तन कर लिया हो और किसी दूसरी स्त्री के साथ उसका विवाह हो गया हो।

(2) पति ने वर्जित व्यक्तियो से यौन सबध स्थापित किया हो।

(3) पति ने दूसरा विवाह कर लिया हो और दूसरी पत्नी से यौन सबध स्थापित कर लिया हो।

(4) पति बलात्कार अप्राकृतिक व्यभिचार अथवा पशु—गमन का दोषी हो।

(5) पति ने किसी दूसरी स्त्री के साथ अनुचित मैथुन किया हो और पत्नी के साथ निर्दय व्यवहार किया हो।

(6) पति ने किसी स्त्री के साथ अनुचित यौन सबध स्थापित किया हो और कम से कम दो वर्ष से पत्नी का परित्याग कर दिया हो।

विवाह विच्छेद के उपरोक्त आधारो पर गौर से विचार करने पर यह विदित होता है कि इन आधारो मे केवल दो बाते मुख्य है—(1) पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह और (2) अनुचित यौन सबध। बाकी सभी बाते इन्ही दो बातो के साथ जुडी हुई हैं क्योकि केवल निर्दयता और परित्याग के आधार पर विवाह विच्छेद नहीं हो सकता। पत्नी के रहते हुए दूसरा विवाह करना विवाह विच्छेद का सबसे प्रधान कारण है क्योकि ईसाइयो मे किसी प्रकार का भी बहुविवाह सभव नही है।

ईसाई परिवार (Christian Family)

ईसाइयो की धार्मिक व सामाजिक मान्यताएँ हिन्दू और मुसलमानो से

भिन्न है अस्तु परिवार की सरचना और प्रकृति भी हिन्दू और मुस्लिम परिवारो से भिन्न हैं। ईसाई परिवार की विशेषताये निम्नलिखित हैं–

(1) ईसाई समाज मे अधिकतर मूल परिवार पाये जाते हैं। परिवार का आकार सक्षिप्त होता है। परिवारो मे सम्मिलित सम्पत्ति जैसी कोई व्यवस्था नहीं है। एक ही पीढी के लोग परिवार मे पाये जाते हैं। स्त्री, पुरुष और उनके बच्चों से परिवार का निर्माण होता है। एक विवाह पद्धति की मान्यता वैयक्तिक स्वतत्रता और शिक्षा तथा प्रगतिशील विचार आदि ईसाई समाज के कुछ ऐसे तत्त्व है जिनके कारण ईसाइयो में परिवार का आकार छोटा है। शिक्षा और प्रगतिशील विचारो के कारण बच्चो की सख्या कम से कम रखने की कोशिश की जाती है।

(2) ईसाई परिवारो मे वश पिता के नाम पर चलता है। प्रत्येक व्यक्ति के नाम मे उसके पिता के नाम का पहला अक्षर अनिवार्य रूप से जुड़ा रहता है। सत्ता पुरुष के हाथ मे रहने के कारण पितृ सत्ताक परिवार प्रणाली ईसाइयो मे मिलती है। परिवार की सम्पत्ति पर पति का नियत्रण रहता है।

(3) ईसाई परिवार की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ लड़कियाँ विवाह के पूर्व ही आर्थिक क्रियाओ मे भाग लेने लगती हैं और विवाह के बाद भी आर्थिक क्रियाओ मे हिस्सा लेना बन्द नही करती। किसी ऐसी रूढि का यहाँ अभाव है जो पत्नी की नौकरी मे बाधक हो। परिवारिक और वैवाहिक जीवन मे स्त्रियो की नौकरी अडचन नही मानी जाती।

(4) ईसाई परिवार की स्त्रियो पर पर्दा आदि का बन्धन नहीं है। दहेज और महर जैसे बन्धनो से ईसाई परिवार मुक्त हैं।

(5) स्त्री और पुरुष का दर्जा समान है। व्यावहारिक रूप से परिवार के प्रत्येक कार्य मे स्त्री की स्थिति पुरुष के समान है। बच्चो की पढाई लिखाई उनके पालन–पोषण और पारिवारिक कर्तव्यो के पालन मे स्त्री और पुरुष का सयुक्त (सम्मिलित) दायित्व है।

ईसाई त्योहार (Christian Festivals)

ईसाई समाज में भी त्योहार मनाने की व्यवस्था है। इस समाज मे उत्सवो की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ उत्सव श्रृखलाबद्ध हैं अर्थात् एक उत्सव दूसरे से जुड़ा है। हिन्दुओं का प्रत्येक उत्सव अपना अलग अस्तित्व रखता है पर ईसाइयों मे ऐसा नही है। ईसाइयो के मुख्य उत्सव तीन हैं (1) क्रिसमस (2) गुड–फ्राइडे और (3) ईस्टर । इनके त्यौहारो का क्रम क्रिसमस से प्रारम्भ होता है और ईस्टर से समाप्त होता है। तीनों उत्सवों का सम्बन्ध ईसा मसीह से है।

(1) **क्रिसमस**– 25 दिसम्बर को यह उत्सव पडता है। ईसाइयो में 25 दिसम्बर क्रिसमस दिवस कहलाता है। कहते हैं कि इसी दिन प्रभु यीशु का जन्म

हुआ था। अत यीशु की यादगार मे यह उत्सव मनाया जाता है। समस्त विश्व के ईसाई इसे मनाते हैं। इस दिन क्रिसमस ट्री सजाया जाता है। क्रिसमस ट्री खिलौनों, गुब्बारो और मोमबत्तियो से सजाने पर अधिक सुन्दर प्रतीत होता है। चर्च मे इस रोज पादरी का विशेष भाषण होता है। सभी ईसाई चर्च मे अवश्य जाते हैं। चर्च में रोशनी का प्रबन्ध किया जाता है। मेलो का भी आयोजन किया जाता है। क्रिसमस की बधाइयाँ भेजने का प्रचलन ईसाई समाज मे मिलता है। यह ईसाइयो का महत्त्वपूर्ण त्यौहार है।

(2) **गुड–फ्राइडे–** यह प्रभु यीशु की पार्थिव मृत्यु का दिन है। इसी दिन उन्हें शूली पर चढाया गया था। ईसा की यादगार मे लोग चर्च मे जाते हैं और उनका जीवन चरित्र सुनते हैं।

(3) **ईस्टर–** यह ईसाइयो का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण त्योहार है। यह रविवार के दिन मनाया जाता है। ओल्ड टेस्टामेण्ट मे यह पहले से ही भविष्यवाणी की गई थी कि ईसा मसीह कुमारी कन्या के गर्भ से पैदा होगे और बाद में उन्हें फासी के तख्ते पर लटका दिया जायेगा और तीन दिन बाद उनका फिर पुनरुत्थान (पुनर्जन्म) होगा। फ्राइडे के बाद पडने वाले रविवार को प्रभु यीशु का पुनरुत्थान हुआ माना जाता है और यही कारण है कि इतवार को यह उत्सव मनाया जाता है। ईस्टर का सबध ईसा मसीह के पुनर्जागरण अथवा पुनरुत्थान से है। ईस्टर का अर्थ है ईसा मसीह का पुनरुत्थान ('Resurrection of Christ')।

ईस्टर के दिन सुबह 5 बजे ईसाइयत के हर सम्प्रदाय (Denominations) के लोग अपने मोहल्ले से जुलूस बनाकर निकलते हैं और सभी लोग एक मीटिग ग्राउण्ड पर मिलते हैं। वहाँ ईसा मसीह के पुनर्जागरण और उनकी शिक्षाओं पर प्रकाश डाला जाता है। इसके बाद ये लोग अपने अपने गिरजाघरो मे जाते हैं। इस अवसर पर लोग सफेद और सादे कपडे पहनकर जाते हैं। मासाहारी लोग पोलाव या मांस पकाकर खाते हैं। शाकाहारी लोग पूडी व खीर का सेवन करते हैं। यह ईसाइयों के लिए सर्वाधिक आनन्द और उल्लास का पर्व है इसलिए कही कहीं मेलो आदि का आयोजन किया जाता है।

हिन्दू समाज और ईसाइयत

भारत देश सदैव से अनेक प्रकार के धर्मों और सस्कृतियो का सगम स्थल रहा है। मुसलमान पुर्तगाली, डच और ईसाई आदि यहाँ आये है और उन्होने अपनी सस्कृति तथा धार्मिक विचारो से हिन्दू सामाजिक जीवन को प्रभावित भी किया है और स्वय भी हिन्दू सस्कृति तथा धार्मिक विचारो से प्रभावित हुए हैं। पुर्तगालियो और अग्रेजो के शासन काल मे ईसाइयत व उसके सिद्धान्तो और शिक्षाओं का अधिक प्रचार और प्रसार हुआ। हिन्दू समाज ईसाइयत के सम्पर्क मे आकर ईसाइयत की शिक्षाओ और उसके सिद्धान्तो से अप्रभावित कैसे रह सकता था। कहते हैं कि ईसाइयत ने जितना हिन्दुत्व को प्रभावित किया उतना

अन्य किसी धर्म को नही। मुसलमानो ने ईसा की शिक्षाओ की उतनी प्रशसा नहीं की जितना हिन्दुओ ने उन्हे सराहा।[3] फलत ईसाइयत के सिद्धान्तो का जितना प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, प्रवेश हिन्दुत्व मे हुआ उतना अन्यत्र (अन्य धर्मो मे) नही हुआ। ईसाइयत योरोप की सभ्यता तथा सस्कृति का अग्रदूत रही है। अत योरोपीय सस्कृति और ईसाइयत के सम्मिलित सघात के फलस्वरूप हिन्दू सामाजिक व सास्कृतिक जीवन पर निम्नलिखित प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं।

(1) स्त्री–शिक्षा पर जोर दिया गया।

(2) जाति प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ हो गए।

(3) समाज मे समतावादी और युक्ति–युक्त विचार धारा फैली।

(4) अस्पृश्यो और आदिवासियो की सामाजिक प्रतिष्ठा सम्मानजनक बनाने के लिए प्रयास किये गये।

(5) निराकारी एकेश्वरवाद को फिर प्रोत्साहन मिला।

(6) ईसाई मिशनरियो द्वारा हिन्दू कर्मकाण्ड (Rituals), अवतारवाद और ब्राह्मणवाद की आलोचना की गयी जिससे कर्मकाण्डो को सरल बनाने पर जोर दिया गया। ब्रह्म समाज तथा आर्य समाज मे कर्मकाण्डो को सरल और सक्षिप्त बनाने के प्रयास किये गये और इसमे सफलता भी हासिल हुई।

(7) ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन हुए।

ईसाइयत का सबसे अधिक प्रसार और प्रचार आदिवासियो और जन–जातियो मे हुआ। भारत मे जहाँ–जहाँ आदिवासियो और नीची जातियो की सख्या अधिक थी वही ईसाई धर्म का प्रसार हुआ। इसका प्रमाण यह है कि आसाम बिहार उडीसा मध्यप्रदेश आन्ध्र मद्रास और केरल मे ईसाई अधिक हैं।

ईसाइयत भारत के योरोपीयकरण का माध्यम रही है। शिक्षा के माध्यम से योरोपीय ज्ञान विज्ञान और अस्पतालो के माध्यम से योरोपीय चिकित्सा पद्धति का विकास ईसाई मिशनरियो द्वारा किया गया।

ईसाइयत की व्यक्ति स्वातन्त्र्य समतावादी और बुद्धिवादी विचारधाराओ ने तथा दया और प्रेम से ओतप्रोत[4] सिद्धान्तो ने हिन्दू समाज को अधिक प्रभावित किया। हिन्दू सामाजिक जीवन के जिन क्षेत्रो पर इसका प्रभाव पड़ा उनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

(1) सयुक्त परिवार पर प्रभाव– ईसाइयत के संघात ये संयुक्त परिवारो के विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी। व्यक्ति स्वातन्त्र्य ने सयुक्त परिवार की नीव को ही हिला दिया। संयुक्त परिवार समाजवाद के आदर्श का पोषक था जबकि व्यक्तिवाद संयुक्त परिवार की मान्यताओं के विपरीत है। अत व्यक्तिवादी पर्यावरण मे संयुक्त परिवार का टूट–टूट कर मूल अथवा एकाकी परिवारों मे बदलना स्वाभाविक था। परिवार में स्त्री की स्थिति बड़ी दयनीय थी। संयुक्त परिवार के तूफानी समुद्र में उसे दिल खोल कर हँसने नहीं दिया जाता था वह

चुपचाप सास ससुर और पति की झिडकियो को सहन करते हुए जीवन व्यतीत करती थी। ईसाइयत और योरोपीय सभ्यता के समतावादी विचारो ने पत्नी के लिए पति के बराबर दर्जा प्राप्त करने के दरवाजे खोल दिये। यही नही स्त्री शिक्षा पर भी जोर दिया गया। शिक्षित स्त्रियो ने नौकरी करना प्रारम्भ किया जिससे परिवार की परम्परागत सामाजिक सरचना आमूल चूल बदल गयी। सामान्य पाठशाला, सामान्य पारिवारिक कोष और सामान्य निवास स्थान की बाते व्यक्तिवादिता के प्रसार के साथ लुप्त हो चली और सयुक्त परिवार विघटित होने लगे।

(2) **विवाह पर प्रभाव**—ईसाइयत के प्रभाव से हिन्दू वैवाहिक मान्यताओ और नियमों को ठेस पहुँची। विवाह की आयु मे वृद्धि हुई। विलम्ब विवाहो ने बाल विवाह का स्थान ले लिया। विवाह के क्षेत्र में माता पिता के नियत्रण में ह्रास हुआ। अन्तर्विवाही और बहिर्विवाही नियमों मे शैथिल्य दृष्टिगोचर होने लगा। सह शिक्षा और रोमान्स के कारण भिन्न जातीय विवाह भी होने लगे। गोत्र और प्रवर के बन्धन भी उतने महत्त्वपूर्ण नही रहे।

(3) **जाति व्यवस्था पर प्रभाव**— समतावादी विचारो और बुद्धिवाद ने जाति के सिद्धान्तो और नियमो को झकझोरा। ईसाइयत के मानवतावादी मूल्यों से जातिगत बन्धन और जातियों में व्याप्त ऊँच नीच की भावना आदि प्रभावित हुए। निम्न जाति के लोग सामाजिक सुविधा प्राप्त करने के प्रलोभन से ईसाई बनने लगे। जातियों में फैले छुआ—छूत के विचार अपना अस्तित्व खोने लगे। ब्राह्मणो की स्थिति में ह्रास हुआ। ऊँची जातियो ने पश्चिमी विचारो को ग्रहण किया और निम्न जातियों ने ऊँची जातियो की आचार पद्धति को अपनाकर जाति संस्तरण में ऊँचा उठने का प्रयास किया। जाति के अन्दर शादी करने का अटूट नियम भी अप्रभावित नहीं रह सका। ईसाई धर्म से आशा तो बहुत थी कि इससे जातियों की निर्योग्यताएँ और विशेषाधिकार मिटाने में बड़ी सहायता मिलेगी लेकिन याद रहे बिना ईसाई बनाये ईसाइयत के सिद्धान्तों से भारतीय जाति व्यवस्था के कवच में एक भी छेद[5] न किया जा सका। हाँ, यह जरूर है कि ईसाई बनाकर नीची जातियों के सदस्यों को ऊँची जाति के लोगों के अत्याचारो से सुरक्षित करने मे दया और प्रेम से ओत—प्रोत ईसाइयत ने सफलता प्राप्त की।

(4) **सामाजिक कुप्रथाओं का अन्त**—ईसाई धर्म के प्रवेश के पूर्व हिन्दू समाज मे भ्रूण हत्या, कन्या वध, देवदासी प्रथा और सती प्रथा जैसी सामाजिक कुरीतियाँ प्रचलित थी। पाखण्ड और अन्ध विश्वासों से समाज घिरा हुआ था। बाल विवाह तो होते थे पर विधवा पुनर्विवाहो की मनाही थी। इन सभी कुरीतियों को रोकने वाला कोई नहीं था। ईसाइयो ने हिन्दुओ को आत्मावलोकन और धार्मिक तथा सामाजिक विचारों के पुनर्परीक्षण की प्रेरणा दी। सक्षेप में ईसाइयत ने इन कुप्रथाओं को मिटाने के लिए हिन्दुओ को सचेष्ट किया। परिणामस्वरूप

5- शुक्ल वी एन 'हिन्दू समाज व्यवस्था' पृ- 305

राजा राम मोहनराय गोविन्द रानाडे ईश्वरचन्द विद्यासागर तथा अन्य समाज सुधारको ने प्रयत्न करके इन कुप्रथाओ का अन्त करने मे सफलता प्राप्त की।

(5) आचरण–प्रतिमानो और वेश भूषा में परिवर्तन– ईसाइयों के सम्पर्क मे आने से हमारा सम्पर्क योरोपीय सभ्यता और सस्कृति से हुआ (हम पहले ही सकेत कर चुके है कि ईसाइयत योरोपीय सभ्यता और सस्कृति का वाहक भी है) जिससे हमारे व्यवहार प्रतिमान बदले। पहनावे मे भी अन्तर आया। कोट पैण्ट और नेकटाई का भारतीय पहनावे मे कोई स्थान नहीं था। ईसाइयत और पश्चिम के सम्पर्क से हमारी वेश भूषा बदली और कोट पैण्ट तथा नेकटाई का समावेश हमारे पहनावे मे हो गया। खाने मे टेबुल और छुरी कॉंटे का प्रयोग शुरू हुआ। माता के लिए मम्मी और पिता के लिए 'डैडी' सम्बोधनों का श्रीगणेश हुआ। नमस्कार की जगह हेलो' ने ली तो स्नेह प्रदर्शन के लिए 'टा–टा' शब्द व्यवहार मे आने लगा।

(6) धर्म पर प्रभाव– ईसाइयत के आगमन के पहले के हिन्दू धर्म मे इसाइयत के सघात से सशोधन हुए। ईसाइयों के आने के पूर्व हिन्दुत्व सिमटकर पौराणिक हो गया था और अन्ध विश्वास को छोडकर उसका कोई रूप दिखायी न देता था। हिन्दू धर्म का नेता पडा और पुरोहित वर्ग था जिसकी सबसे बडी पूॅजी रूढियॉ और अन्ध विश्वास थी।'[6] अनेकों देवी देवताओ (बहुदेववाद) मे विश्वास बढने के कारण धर्म साधारण आदमी की समझ से परे था। ईसाइयत ने एकेश्वरवादी विचारधारा को प्रोत्साहित किया और तार्किकता का प्रसार किया। ईसाई मिशनरियो ने हिन्दू धर्म पर आलोचना के वाण बरसाना शुरू किया और ईसाई धर्म का प्रचार करने लगे। ईसाइयत ने हिन्दू धर्म के रूढिवादी तत्त्वो मे सुधार करने की प्रेरणा पैदा की। परिणामस्वरूप भारत मे अनेक सुधारवादी धार्मिक सम्प्रदायो का उदय हुआ। हिन्दू धर्म संशोधित कर उसे नया रूप देने के उद्देश्य से अथवा हिन्दुत्व को रूढियो से मुक्त करने के उद्देश्य से ब्रह्मसमाज और आर्य समाज की स्थापना हुई। ब्रह्म समाज के सस्थापक राजा राम मोहन राय एकेश्वरवाद मे अटल विश्वास रखते थे, मूर्ति–पूजा के विरोधी थे। ब्रह्म समाज ने लोगो का ध्यान वेदान्त में निरूपित निर्विकार एक ब्रह्म की ओर आकृष्ट किया। ईसाइयत के प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दुत्व मे निराकार ईश्वर की धारणा प्रबल हुयी। आर्य समाज और ब्रह्म समाज ने हिन्दू धर्म को रूढियों से मुक्त करकें उसे निर्मल रूप दिया, वैज्ञानिकता के साथ हिन्दू धर्म को ससार के सामने रखा।

अध्याय 18

जनजातीय सस्कृति

(Tribal Culture)

भारतवर्ष मे कई तरह के सामाजिक समूह पाये जाते है। इनमे जाति, प्रजातीय समूह, वर्ण और जनजाति मुख्य है। जहाँ वर्ण और जाति हिन्दू समाज की विशेषताये हैं वही जन–जातियाँ आदिवासी समाज की विशेषता हैं। जनजातीय समाज के कुछ कतिपय रोचक और विचित्र रीतिरिवाजो, आदर्शों और मूल्यो ने समाजशास्त्रियो व मानवशास्त्रियो का ध्यान आकर्षित किया है। जाति और जनजाति को अधिकाश लोग एक दूसरे का पर्यायवाची समझते थे, जिससे इन शब्दो के विषय मे अत्यधिक भ्रान्ति फैली हुयी थी। अतीत मे अनेक जन जातियो को जाति के रूप मे परिभाषित किया गया और कई जातियों ने जनजातीय सज्ञा प्राप्त की।[1] जाति और जनजाति का भेद स्पष्ट करने के पूर्व जनजाति की परिभाषा करना आवश्यक है।

जनजाति की परिभाषा— एक जनजाति क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए गिलिन और गिलिन समाजशास्त्रियो ने लिखा है कि— 'एक जनजाति आदिम स्थानीय समूहों का ऐसा कोई भी सकलन है जिसका सामान्य निवास स्थान हो सामान्य भाषा हो और जिसकी सामान्य सस्कृति हो।"[2] डा रिवर्स सामान्य भूभाग को जनजातियो का प्रमुख लक्षण स्वीकार नही करते । इसलिए आप की राय मे "जनजाति एक सरल प्रकार का सामाजिक समूह है जिसके सदस्य एक ही भाषा बोलते हैं और युद्ध जैसे विषयो मे सामूहिक रूप मे भाग लेते हैं।" प्रसिद्ध मानवशास्त्री मजूमदार डा रिवर्स के दृष्टिकोण से असहमत हैं और आपका कहना है कि भारतीय जनजाति निश्चित रूप से एक क्षेत्रीय समूह है। गिलिन और गिलिन तथा समाजशास्त्री मैक्सवेबर तो जनजाति की क्षेत्रीय विशेषता को इतना महत्त्व देते हैं कि यदि एक जनजाति क्षेत्रीय महत्त्व को खो बैठे तो आपके अनुसार वह जनजाति जाति का रूप ग्रहण कर लेती है। मदन और मजूमदार ने अपनी पुस्तक मे यह उल्लेख किया है कि "आसाम के चाय–बागानो मे काम करने वाले सन्थाल बिहार अथवा बगाल के क्षेत्र विशेष को अपना निवास स्थान बतलाते हैं।" अत सिद्ध होता है कि सामान्य भूभाग जनजाति का एक प्रमुख लक्षण है।

एक जनजाति के समस्त आवश्यक लक्षणो का उल्लेख करने वाली डा मजूमदार की परिभाषा इस प्रकार है—"एक जनजाति परिवार अथवा परिवार

1-डी एन मजूमदार और टी एन मदन ऐन इन्ट्रोडक्शन टु सोशल एन्थ्रोपोलोजी पृ 240।

2 गिलिन और गिलिन कल्चरल सोशिआलोजी पृ 282।

समूहो का सकलन है जिसका एक सामान्य नाम होता है जिसके सदस्य एक ही स्थान पर बसते है एक ही भाषा बोलते हैं और विवाह व व्यवसाय के सबध मे कुछ निषेधो का पालन करते है और जिन्होने पारस्परिकता और पारस्परिक दायित्वो की एक सुमूल्याकित व्यवस्था को विकसित किया है।"

जाति और जनजाति मे अन्तर— कुछ विशेषताये जाति और जनजाति मे ऐसी पायी जाती हैं जिनके आधार पर जाति और जनजाति मे भेद किया जा सकता है। जनजातियो मे जन्म विवाह और मृत्यु के सम्बन्ध मे प्रचलित परम्पराये जातियो मे प्रचलित परम्पराओं से भिन्न हैं। जनजातियो मे युवागृह नामक सामाजिक सस्था पायी जाती है जिसका जातियों मे पूर्णतया अभाव है। यही नही जनजातियो की नैतिक सहिता हिन्दू और मुसलमानों से भिन्न है। जनजातियो मे प्रोद्योगिकी का स्तर निम्न है। अन्तरो के साथ—साथ जाति और जनजाति मे काफी समताये भी हैं, जो इस प्रकार हैं—

1 जाति और जनजाति दोनो परिवार समूहो का सकलन हैं।

2 सामान्य भाषा और सामान्य निवास—स्थान के लक्षण दोनो में विद्यमान है लेकिन स्मरण रहे सामान्य भाषा और सामान्य निवास जातियो के अनिवार्य लक्षण नही हैं।

3 दोनो अन्तर्विवाही हैं।

4 दोनो मे पचायते ही राजनैतिक सगठन का प्रमुख रूप हैं।

5 जनजाति की सदस्यता जन्मजात होती है और जाति की भी।

6 जनजातियो मे क्लाने पाई जाती हैं और जातियो म गोत्र। क्लान और गोत्र दोनो बहिर्विवाही समूह हैं।

इन समताओ के अलावा दोनो मे कुछ मौलिक भिन्नताये भी पायी जाती है जो निम्नलिखित हैं—

1 सामान्य भाषा और सामान्य निवास—स्थान जनजातियो के प्रमुख लक्षण है। एक क्षेत्र विशेष में फैला होना जाति की एक आम विशेषता नही है।

2 जातियाँ गोत्रो मे विभक्त है जबकि जनजातियाँ क्लानो मे विभक्त रहती हैं। जिस प्रकार जाति को जनजाति नही कहा जा सकता है, उसी प्रकार क्लान को गोत्र नही कहा जा सकता है। गोत्र का नामकरण वैदिक ऋषियो के आधार पर किया गया है, जबकि क्लान का नामकरण पशुओं पेड़ों अथवा पौधों के आधार पर किया गया है। उस पेड पशु और पौधे को मानवशास्त्र मे 'टोटेम' कहा जाता है जिसके आधार पर क्लान का नामकरण किया जाता है।

3 जनजातियाँ आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयाँ हैं, जबकि जातियाँ विस्तृत आर्थिक सरचना की उप—इकाइयाँ है। जाति हिन्दू समाज का एक खण्ड होती है और अपने जैसे ही अन्य खण्डों पर निर्भर करती है।

4 एक जनजाति के अन्तर्गत श्रेणी और पद के अन्तर हो सकते हैं जबकि जाति के लोगों की सामाजिक प्रतिष्ठा एक सी होती है।

5 जनजातियो मे युवागृह पाये जाते है जबकि जातियो मे इनका पूर्णरूपेण अभाव है। इन युवागृहो मे अविवाहित युवक और युवतियॉ रात्रि बिताते है। गॉव के सभी अविवाहित लडके और लडकियॉ युवागृह के सदस्य होते हैं। विवाहोपरान्त युवागृह की सदस्यता समाप्त हो जाती है।

जनजातीय सामाजिक सगठन को समझने के लिए जनजातीय परिवार धर्म और विवाह का विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक है। यहॉ जनजातीय परिवार व विवाह का विवरण करना ही पर्याप्त होगा।

जनजातीय परिवार — जनजातियो मे परिवार का जो रूप मिलता है उसमे सस्था के तत्त्व अधिक होते है। अत आदिवासी परिवार को सस्थागत प्रकार का परिवार कहा जा सकता है। सस्थागत प्रकार के परिवार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह उत्पादन और उपभोग की इकाई है यह एकविवाही परिवार से बडा होता है और इसमे कई पीढियो के लोग एक साथ रहते है। आदिवासी परिवार को हम विस्तृत परिवार की सज्ञा दे सकते हैं। जनजातियो मे एकविवाही परिवार बहुपतित्व तथा बहुपत्नीत्व पर आधारित परिवार भी पाये जाते है। पितृसत्ताक और मातृसत्ताक परिवार प्रणालियॉ भी प्रचलित है। खरिया और हो परिवार पितृसत्ताक परिवार के उदाहरण है। पितृसत्ताक परिवार प्रणाली मे कर्ता पुरुष होता है वश पिता के नाम पर चलता है पारिवारिक सम्पत्ति के उत्तराधिकारी लडके होते है और विवाह के बाद वधू अपने पति के घर जाकर रहती है। मातृसत्ताक परिवार मे कर्ता स्त्री होती है वश मॉ के नाम से चलता है विवाह के बाद वधू अपनी मॉ के ही घर रहती है और सम्पत्ति का उत्तराधिकार मॉ से पुत्री को मिलता है। सक्षेप मे भारतीय जनजातियो मे पितृसत्ताक सयुक्त परिवार पाये जाते है और इनमे कही कही मातृसत्ताक के भी तत्त्व पाये जाते हैं जो साधारणतया गौण है। जनजातीय समाज मे मूल परिवार भी पाये जाते है।

जनजातीय विवाह— विवाह की प्रकृति, रीति—रिवाज और आदर्शों की दृष्टि से भी जनजातियो और जातियो मे भेद है। एक हिन्दू विवाह मे ऐसी कन्या को स्वीकार किया जाता है जिसका कौमार्य नष्ट न हुआ हो। जनजातियो मे कौमार्य (वरजिनिटी) को महत्त्व नही दिया जाता है और न ही इसे एक मूल्य के रूप मे स्वीकार किया जाता है क्योकि जनजातियो के सामाजिक जीवन मे विवाह के पूर्व यौन—सबध स्थापित करने की स्वतत्रता है। मध्यभारत मे उस समय तक विवाह के पूर्व यौन—सबधो पर कोई ध्यान नही दिया जाता है यदि इनसे कन्या गर्भवती न हो क्योकि कन्या का गर्भवती होना कन्या के माता—पिता के लिए लज्जा का विषय है। यदि कन्या विवाह के पूर्व गर्भवती हो जाती है तो कन्या से सतान के पिता का नाम पूछा जाता है अर्थात् जिसने कन्या को गर्भवती किया है उसका नाम पूछा जाता है। तत्पश्चात् ऐसे पुरुष को जिसने कन्या को गर्भवती किया हो, कन्या के साथ विवाह करने के लिए बाध्य किया

जाता है। विवाहेतर यौन–सबधो को जनजातियो मे सरलतापूर्वक सहन नही किया जाता है फिर भी भारतीय आदिम जातियो मे विवाहेत्तर यौन संबध स्थापित करने की स्वतन्त्रता है। कुछ महत्त्वपूर्ण अवसरो पर जैसे माघे परब पर हो और खाद्दी तथा ओराव जनजातियो के स्त्री–पुरुष स्वच्छन्दता पूर्वक यौन–सबध स्थापित करते है।

जनजातीय विवाह की प्रकृति– हिन्दू विवाह की भाँति जनजातीय विवाह एक धार्मिक कृत्य नही है। जनजातीय–विवाह एक सिविल कान्ट्रैक्ट है। इसलिए सभी जनजातियो मे विवाह धार्मिक तरीके से सम्पन्न नहीं किया जाता है। हिन्दू–सस्कृति के सम्पर्क के फलस्वरूप धार्मिक रीति से विवाह सम्पन्न करना जनजातियो मे प्रतिष्ठा का चिन्ह माना जाने लगा है। मध्यभारत की जनजातियो मे अनेक ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं जहाँ जनजातीय लोक में परम्परागत विवाह विधि के साथ हिन्दू धार्मिक विवाह की भी कुछ नकल दिखाई पडती है।

जनजातियो मे विवाह की आयु– वयस्क हो जाने पर जनजातियों मे लडके और लडकियो में विवाह होता है और इस अर्थ में जनजातियाँ सभ्य और प्रगतिशील कहे जाने वाले लोगो से बहुत आगे हैं। अवयस्कता की स्थिति मे विवाह उन्ही जनजातियो मे होता है जहाँ हिन्दू–सस्कृति और सभ्यता का प्रभाव पड चुका है। श्री तारक चन्द दास ने अपने सामाजिक सगठन नामक लेख मे वैवाहिक आयु के विषय मे उल्लेख करते हुए लिखा है कि "छोटा नागपुर मे रहने वाले अधिक समृद्ध सथाल, मुण्डा और ओराव परिवार हिन्दुओं के घनिष्ठ सम्पर्क मे आ चुके हैं। इन लोगो मे 9 या 10 साल की लडकी और 12 या 13 साल के लडके का विवाह हो जाता है। परन्तु असम की नागा और कूकी जनजातियों की लडकियॉ 15 से 20 वर्ष की आयु मे और लडके 18 से 25 वर्ष की आयु मे विवाह करते हैं।"

जनजातियो मे जीवन–साथी का चुनाव– आदिवासियों में जीवन साथी का चुनाव एक अति महत्त्वपूर्ण विषय है और चुनाव के तरीके विचित्र तथा विविध हैं। जनजातियो में जीवन साथी चुनने के आठ मनोरजक तरीके अपनाये जाते हैं जो निम्नलिखित हैं–

1 प्रोबेशन विवाह 2 परीक्षा विवाह, 3 बलपूर्वक विवाह करने की प्रथा, 4 सेवा विवाह, 5 क्रय विवाह, 6 विनिमय विवाह, 7 पलायन विवाह, 8 पैठू विवाह।

(1) **प्रोबेशन विवाह–** जीवन साथी चुनने का यह तरीका कूकियों में पाया जाता है। कूकी लोगो में एक युवा व्यक्ति एक युवती के घर कुछ सप्ताह रहता है। इसके बाद यदि वे चाहें तो विवाह कर सकते हैं। यदि दोनों का स्वभावगत मेल नहीं बैठता है तो एक दूसरे से पृथक हो जाते हैं और युवा पुरुष, युवती के माता–पिता को क्षतिपूर्ति के रूप में नकद धनराशि देता है।

(2) **परीक्षा विवाह–** जीवन साथी प्राप्त करने की यह पद्धति भीलों मे

प्रचलित है। इस विवाह मे विवाह से पहले वर को अपनी शक्ति और साहस का परिचय देना पडता है। इस विवाह को गोल गेधादो विवाह भी कहा जाता है। गोल गेधादो प्रथा मे होली के अवसर पर किसी पेड या जमीन पर गडे खम्भे के आसपास अविवाहित युवक और युवतियॉ नाचते है। इस नृत्य मे पहले पोल के आस पास युवतियाँ अपना घेरा बना लेती है और युवक युवतियो के घेरे के बाहर घेरा बनाकर नाचते है। पोल पर गुड और नारियल बॉधा रहता है। नाचते–नाचते जब कोई युवक लडकियो का घेरा तोडकर पोल पर चढने मे सफल हो जाता है तो वह नृत्य करने वाली युवतियो मे से किसी को अपनी पत्नी के रूप मे चुन सकता है उसे तत्काल वहॉ से ले जा सकता है। याद रहे पोल पर चढना निर्विघ्न नही है। पोल या पेड पर चढते समय युवतियॉ युवक को रोकती है और रोकने के लिए वे उसके कपडे नोच सकती हैं उसे चुटकी काट सकती है, या झाडू से मार सकती हैं।

3 **बलपूर्वक विवाह करने की प्रथा** — भारतीय दण्ड सहिता के लागू होने से ऐसे विवाहो का प्रचलन कम हो गया है। नागाओ मे भी अब भी जीवन साथी प्राप्त करने का यह एक तरीका है। हो गोड और भील लोगो मे विवाह करने का यह तरीका प्रचलन मे है। कन्या मूल्य अधिक होने के कारण 'हो लोगो मे विवाह करने का यह तरीका अपनाया जाता है। गोड लोगो मे कन्या को बलपूर्वक ले जाने के लिए कन्या के माता–पिता प्रार्थना करते है। गोड लोगो मे जब कन्या बल पूर्वक ले जायी जा रही होती है तो कन्यापक्ष के लोग विरोध का झूठा बहाना करते हैं। इस अवसर पर वधू से यह आशा की जाती है कि वह रोये और विलाप करे।

सशरीर बलपूर्वक कन्या को ले जाने के अलावा खरिया और बिरहोर लोगो मे बलपूर्वक सास्कृतिक हरण भी चलन मे है। खरिया और बिरहोर जनजातियो मे यदि एक व्यक्ति अपनी चाहने वाली को सीधे तरीके से नही प्राप्त कर सकता है तो किसी सार्वजनिक स्थान पर रुका रहता है और जब वह युवती जिसे वह चाहता है वहाँ आती है तो उसके मस्तक पर सिदूर लगा देता है। यह सिदूर लगाने की किया विवाह के तुल्य मानी जाती है।

4 **सेवा–विवाह**— गोड, बैगा और बिरहोर जनजातियो मे यदि कोई व्यक्ति कन्या–मूल्य चुकाने मे असमर्थ होता है तो उसे भावी ससुर के घर जाकर कुछ काल तक रहना पडता है। वहॉ रहकर वह घर का काम काज करता है और उसके बाद विवाह करके अपने घर वापस आ जाता है। चूँकि इस पद्धति मे वर कन्या मूल्य चुका न सकने के कारण ससुर के घर रहकर उसकी सेवा करता है इसीलिए ऐसे विवाहो को सेवा–विवाह की श्रेणी मे रखा गया है। खस जनजाति मे भावी दामाद को पहले अपने ससुर के यहॉ रहकर कुछ समय तक कृषि–कार्य मे सहायता करनी पडती है और फिर वह उसकी कन्या से विवाह करने का अधिकारी होता है।

5 **क्रय–विवाह**– वधू–मूल्य देकर पत्नी चुनने का तरीका भी जनजातियो मे प्रचलित है। मुद्रायी आर्थिक–व्यवस्था के प्रभाव से वधू–मूल्य शनै शनै नकद रकम का रूप लेता जा रहा है। उपर्युक्त वर्णित सेवा विवाह भी वास्तव मे क्रय विवाह का ही एक रूप है जिसमे वर को नकद रकम चुका न सकने के कारण अपने भावी ससुर की सेवा करनी पडती है। मुण्डा जनजातियों में वधू–मूल्य की धनराशि लडकी की सुन्दरता उम्र और उसके पिता की सामाजिक प्रतिष्ठा पर निर्भर रहती है। क्रय विवाह आदिवासी समाज की ही एक मात्र विशेषता नही है हिन्दू समाज मे भी इसका प्रचलन रहा है और आज भी चोरी छिपे क्रय विवाह होते है। ऐसे विवाह चाहे आदिवासी समाज में हो या हिन्दू समाज मे निश्चित रूप से निदनीय हैं क्योकि कन्या बेचना एक अमानुषिक कृत्य है और इस अर्थ मे एक अपराध है।

6 **विनिमय विवाह**– विवाह का यह तरीका भी वधू–मूल्य समस्या के फलस्वरूप ही प्रचलित हुआ होगा। जब दो परिवार कन्याओ का विनिमय कर लेते हैं तो ऐसे विवाह को विनिमय विवाह कहते हैं। जहाँ मामा–फूफी की सन्तानो मे विवाह (क्रास कजिन मैरिज) की परम्परा है वहाँ विनिमय विवाह आसानी से हो जाता है। केवल असम की खासी जनजाति मे ऐसे विवाहों की अनुमति नही है। विनिमय विवाह मे पत्नी प्राप्त करने के लिए युवक अपनी बहिन अपनी पत्नी के पिता के गृह मे भेज देता है। ऐसे विवाहो मे दो परिवारों के युवक एक दूसरे के बहनोई और साले दोनो हो जाते हैं।

7 **पलायन विवाह**–जनजातियों मे ऐसे विवाहों का आश्रय उस परिस्थिति मे लिया जाता है जब युवक और युवती विवाह करने के लिए पूर्णरूपेण राजी हो लेकिन जनजातीय नियमो की बाधा के कारण अथवा उनके माता–पिता की अनिच्छा के कारण उन्हे विवाह करने की अनुमति न मिल रही हो। ऐसी स्थिति मे विवाह के लिए राजी युवक और युवती गाँव से दूर किसी जगल मे या बस्ती मे पलायन कर जाते हैं और वहाँ तब तक रहते हैं जब तक उनके माता–पिता ऐसे विवाह के लिए राजी न हो जाएँ या वे एक सन्तान को जन्म न दे ले। सन्तान का जन्म हो जाने के बाद ऐसे युवक और युवती पति–पत्नी बन जाते हैं, भले ही उन्हे कुछ यातनाओ का सामना क्यों न करना पडे। इसे प्रेम–विवाह भी कहा जा सकता है। यह विवाह का एक अनियमित और समाज असम्मत तरीका है।

8 **पैठू विवाह**– यह विवाह एक तरफा प्रेम का परिचायक है। इस विवाह मे लडकी जिस लडके से विवाह करना चाहती है उस लड़के के घर चली जाती है और कुछ समय की भर्त्सना और अपमान के बाद स्वीकृत हो जाती है। यह पद्धति हो, बिरहोर, ओरांव कमार संथाल तथा कुछ संशोधित रूप से थारू जनजाति मे भी प्रचलित हैं। बिरहोर और थारू जनजाति मे ऐसे विवाहों को सज्ञा दी जाती है।

विवाह के अन्य रूप

एक विवाह और बहु विवाह प्रथा जनजातीय जीवन मे प्रचलित है। आदिवासी और सभ्य समाजो मे एक विवाह की ही प्रथा का आदर्श रहा है। विवाह की इस पद्धति मे एक समय मे एक पुरुष की एक पत्नी होती है और एक पत्नी का एक पति होता है। सभ्य समाजो से सम्पर्क बढने के कारण जनजातियो मे एक विवाह प्रथा का प्रचलन तेजी से बढ रहा है। बहुपति प्रथा और बहुपत्नी प्रथाये भी जनजातीय–जीवन मे व्याप्त रही हैं। बहुविवाह मे एक पुरुष एक समय मे कई नारियो से और एक नारी कई पुरुषो से विवाह करती है। पहली पत्नी के सन्तान न होने पर, परिवार मे काम करने वालो की अधिक आवश्यकता हाने पर और सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए बहुपत्नीत्व का प्रचलन रहा है। सौतिया डाह और भरण–पोषण की समस्या के कारण इन विवाहो का प्रचलन सीमित रहा है। भारत मे नागा बैगा गोड और लुसाई जनजातियो मे बहुपत्नी विवाह प्रचलित है। बहुपति विवाह आदिवासी जीवन की निजी विशेषता है। देहरादून जिले के जौनसार–बाबर परगनो की खस जनजाति और नीलगिरि पर्वत की टोडा जनजाति मे बहुपति विवाह प्रचलित है। खस जनजाति मे सगे भाई एक या कई पत्नियो से सम्मिलित विवाह करते है। अत खस जनजाति मे भ्रातृबहुपति विवाह पाया जाता है। टोडाओ मे भी भ्रातृबहुपति विवाह का ही प्रचलन है। अन्तर्विवाह और बहिर्विवाह के नियम भी जनजातियो मे देखने को मिलते हैं। जनजातियॉ अन्तर्विवाही होती है लेकिन जनजातियो मे पायी जाने वाली क्लाने बहिर्विवाही होती है।



अध्याय 19

पर-संस्कृति-ग्रहण की अवधारणा

(Concept of Acculturation)

पर–सस्कृति –ग्रहण का विचार इस तथ्य पर आधारित है कि आज विश्व की कोई भी सस्कृति विशुद्ध नहीं है। विश्व की हर सस्कृति में दूसरी किसी सस्कृति के कुछ न कुछ तत्त्व अवश्य शामिल हो गये हैं। सम्पर्क विस्तार के साधनो मे द्रुत विस्तार के साथ–साथ यह उत्तरोत्तर और भी कठिन होता जा रहा है कि कोई सस्कृति अपने तत्त्वो को अन्य बाहरी संस्कृतियों के प्रभाव से बिलकुल सुरक्षित रख सके। पर–संस्कृति–ग्रहण वहाँ बड़े पैमाने पर देखा जा सकता है जहाँ पर एक समाज ने दूसरे समाज पर आक्रमण किया हो। विजेता अपना जीवन–तरीका (way of life) विजित लोगो पर थोपने का प्रयत्न करता है और यह थोपने का कार्य कितना ही सरल क्यों न हो विजेता भी विजितो के रीति–रिवाजो को अपनाने लगते हैं।[1]

इतिहास हमे बताता है कि विभिन्न सस्कृतियाँ एक दूसरे के सम्पर्क मे आती रही हैं और परस्पर प्रभावित होकर एक दूसरे के तत्त्वों को ग्रहण करती रही हैं और ग्रहण करके उन्हे अपनी सस्कृति में स्थान देती रही हैं। सामान्य रूप से जब कभी दो विभिन्न सस्कृतियो वाले समूह एक दूसरे के सम्पर्क मे आते हैं तो वे एक दूसरे से प्रभावित जरूर होते हैं और उनमे सास्कृतिक आदान प्रदान की क्रिया अवश्य होती है। यदि दो संस्कृतियों मे सबध आमने–सामने का है और दीर्घकाल तक बना रहता है तो ऐसी स्थिति मे पर–सस्कृति–ग्रहण की अधिक सभावना होगी और हो सकता है कि एक सस्कृति–समूह का सम्पूर्ण सास्कृतिक जीवन दूसरी सस्कृति के सास्कृतिक प्रतिमानों को कम ग्रहण करे या अधिक, चाहे एक संस्कृति का सम्पूर्ण जीवन दूसरी सस्कृति के प्रभाव के अन्तर्गत बदले अथवा उसमे आशिक परिवर्तन आये, दोनो ही स्थितियाँ पर–सस्कृति–ग्रहण का द्योतन करती हैं।

पर–सस्कृति–ग्रहण का अर्थ– अग्रेजी के शब्द एकल्चरेशन का हिन्दी रूपान्तर पर–सस्कृति–ग्रहण है। कुछ लोग एकल्चरेशन के लिए हिन्दी में सस्कृति–सक्रमण कहना पसन्द करते हैं लेकिन संस्कृति–संक्रमण का प्रयोग अग्रेजी के Cultural Transmission की जगह करना अधिक उपयुक्त है। पर–सस्कृति–ग्रहण सस्कृति–प्रसारण अधिक निकट है लेकिन पर–सस्कृति–ग्रहण सस्कृति–प्रसारण नहीं है। हाँ, यह सच है कि सस्कृति–प्रसारण पर–सस्कृति–ग्रहण

की प्रक्रिया का एक अश है। सस्कृति–प्रसरण और पर–सस्कृति–ग्रहण दोनो मे सस्कृति–सक्रमण निहित है।

पर–सस्कृति–ग्रहण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमे एक सस्कृति दूसरी (बाह्य) सस्कृति के सास्कृतिक तत्त्वो (विचारो भावनाओ और व्यवहार–प्रतिमानो आदि) को ग्रहण करती है और उन्हे अपनी सस्कृति मे स्थान देती है। हम दूसरे की सस्कृति की बहुत सी बातो का अनुकरण कर उन्हे अपना लेते है। उदाहरणार्थ भारतवर्ष मे जब अग्रेज लोग आये तब उनकी सस्कृति की बहुत सी बातो का अनुकरण भारतीयो ने किया। कोट पैण्ट और नेकटाई का प्रयोग यहाँ शुरू हुआ। खाते समय छुरी काटे और मेज–कुर्सी का प्रयोग किया जाने लगा। यह सही है कि हम अग्रेजो के चारित्रिक गुणो का अनुकरण न कर सके लेकिन उनकी वेश–भूषा को अपना लिया। इसका प्रत्यक्ष कारण यह है कि चारित्रिक गुणो की अपेक्षा किसी की बाह्य क्रियाओ को अपनाना अपेक्षाकृत सरल होता है। पर–सस्कृति ग्रहण का अर्थ सुस्पष्ट करने के लिए कुछ विद्वानो की परिभाषाएँ उद्धृत करना उचित है। नीचे राबर्ट वीरस्टेड गिलिन और गिलिन तथा डॉ श्यामाचरण दुबे की परिभाषाएँ दी जा रही है।

1 Acculturation is the process by which we acquire the culture of a contemporary society other than our own [2]

2 We mean by acculturation the processes whereby societies of different cultures are modified through fairly close and long continued contant, but without a complete blending of the two cultures [3]

3 दो सस्कृतियो के सम्पर्क की स्थिति मे यदि एक सस्कृति दूसरी सस्कृति के तत्त्वो को अपनी इच्छा से या दबाव से ग्रहण करे तो इस प्रक्रिया को हम पर–सस्कृति–ग्रहण कहेगे।[4]

1 पर–सस्कृति–ग्रहण एक प्रवरणात्मक (Selective) **प्रक्रिया है**[5] – इसका अर्थ यह है कि आवश्यक नही है कि सम्पर्क मे आये हुए दो सस्कृति समूहो में से एक समूह का सम्पूर्ण सास्कृतिक जीवन दूसरे समूह की सस्कृति द्वारा बदल दिया जाता हो। एक सस्कृति–समूह सम्पर्क मे आए हुए दूसरे सस्कृति–समूह के कुछ विशिष्ट तत्वो को ही ग्रहण करता है।

2 पर–सस्कृति–ग्रहण की प्रक्रिया द्विपक्षीय है–इसका अभिप्राय यह है कि पर–संस्कृति–ग्रहण का कार्य एक तरफा नहीं होता है। जब दो भिन्न संस्कृति वाले समूह एक दूसरे के सम्पर्क में आते हों तो ऐसा नही है कि केवल एक संस्कृति–समूह दूसरे संस्कृति–समूह के सांस्कृतिक तत्त्वो को ग्रहण करता हो

2- वीरस्टेड वही पृठ 177
3- गिलिन और गिलिन कल्चरल सोशिओलोजी पृठ 536
4- दुबे, श्यामाचरण मानव और सस्कृति पृठ 237
5- गिलिन और गिलिन कल्चरल सोशिओलोजी पृठ- 536

वरन दूसरा सस्कृति–समूह भी पहले सस्कृति–समूह से कुछ ग्रहण करता है। अत दो सस्कृतियो मे होने वाले सास्कृतिक प्रतिमानो अथवा तत्त्वों के परस्पर आदान–प्रदान की प्रक्रिया के रूप मे पर–सस्कृति–ग्रहण को समझा जा सकता है।

पर -सस्कृति–ग्रहण की प्रक्रिया दो बातो पर निर्भर करती है। (1) सम्पर्क मे आए हुए सस्कृति–समूहो के सदस्यो की सामजिक मानसिक पृष्ठभूमि (मनोवृत्ति) और (2) सम्पर्क का स्वरूप। क्या चीज ग्रहण की जाय और क्या न ग्रहण की जाय यह बहुत कुछ निर्भर करता है ग्रहण करने वाले की मनोवृत्ति पर। दूसरे शब्दो मे ग्राह्य और अग्राह्य का निर्णय ग्रहीता की मनोवृत्ति पर आधारित है। सम्पर्क कैसा है इस पर भी पर–सस्कृति–ग्रहण की प्रक्रिया निर्भर करती है। सम्पर्क प्रत्यक्ष (आमने -सामन का) है अथवा परोक्ष दीर्घकाल तक बना रहता है अथवा अल्पकाल मे ही समाप्त हो जाता है आदि बाते पर–सस्कृति–ग्रहण की प्रक्रिया मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

हमारा भारत देश अनेक सस्कृतियो का सगम स्थल रहा है। मुसलमान ईसाई और योरोपवासियो आदि की सस्कृतियो से भारतीयो का सम्पर्क हुआ है। यहॉ पर–सस्कृति–ग्रहण की प्रक्रिया द्विपक्षीय रही है। आर्यो ने द्रविडो की सस्कृति को प्रभावित किया तथा द्रविडो ने आर्य सस्कृति को। हिन्दू सस्कृति ने मुस्लिम सस्कृति को प्रभावित किया और मुस्लिम सास्कृतिक तत्वो ने हिन्दू सस्कृति को रूपान्तरित किया। ईसाइयो ने हिन्दू सस्कृति को प्रभावित किया और हिन्दुओ ने ईसाई सस्कृति को। पर–सस्कृति–ग्रहण की द्विपक्षीय प्रक्रिया मे यह हो सकता है कि एक सस्कृति ने दूसरी सस्कृति के अपेक्षाकृत अधिक तत्त्व ग्रहण कर लिया हो लेकिन ऐसा नही हो सकता कि एक सस्कृति तो दूसरी सस्कृति के सास्कृतिक प्रतिमानो को अपना ले और दूसरी पहली सस्कृति के सास्कृतिक प्रतिमानो से अछूती रहे। यहॉ हिन्दू और मुस्लिम सस्कृतियों के उदाहरण के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है कि पर–सस्कृति–ग्रहण की प्रक्रिया द्विपक्षीय (Two Way Traffic) है। जब हिन्दू और मुस्लिम सस्कृतियो का सम्पर्क हुआ तो मुस्लिम सस्कृति का हिन्दूकरण हुआ और हिन्दू सस्कृति म मुस्लिम तत्त्वो का प्रवेश हुआ।

मुस्लिम सस्कृति का हिन्दूकरण– हिन्दुओ के सपर्क मे आने से हिन्दू सस्कृति के तत्त्व मुस्लिम समाज में प्रवेश करने लगे। सस्कृत ग्रन्थो के अरबी और फारसी मे अनुवाद से हिन्दू विचारो और प्रभावों का मुस्लिम सस्कृति मे प्रवेश प्रारम्भ होता है। अकबर व दाराशिकोह की प्रेरणा से वेदों उपनिषदो, महाभारत रामायण और गीता आदि के फारसी मे अनुवाद हुए। 'तुहफातुलहिन्द' नाम की पुस्तक में औरगजेब ने हिन्दू विद्याओं का फारसी मे सग्रह करवाया था। अबुल फजल (1551–1602) द्वारा लिखित, आइन–ए–अकबरी, पुस्तक संस्कृत मे लिखे गये हिन्दू नीतिशास्त्रो का फारसी सस्करण प्रतीत होती है अबुल फजल राजनैतिक सगठन के स्थायी रहने के लिए ठीक–ठीक श्रेणी विभाजन को

आवश्यक समझते थे। उनके मतानुसार योद्धा व्यापारी विद्वान और श्रमिक समाज की चार श्रेणियॉ है जिनका ठीक–ठीक समन्वय करना राजा का कर्तव्य है। अबुल फजल का समाज का उक्त चार श्रेणियो मे विभाजन वर्ण व्यवस्था का ही प्रभाव है।

अरबी और फारसी मे अनूदित सस्कृत ग्रन्थो द्वारा हिन्दू सस्कृति का प्रभाव तो पडा ही साथ ही साथ मुस्लिम सस्कृति को उन हिन्दुओ ने भी प्रभावित किया जिन्होने इस्लाम मे दीक्षा ली थी। भारत के मुसलमानो ने काफी हद तक हिन्दू प्रथाओ और मान्यताओ को अपना कर उन्हे अपने समाज मे जगह दी। मुस्लिम विवाह की हल्दी और चौथी की रस्मे भारतीय है।

हिन्दू प्रभाव के फलस्वरूप मुसलमानो मे जाति व्यवस्था का विकास हुआ। अन्तर्विवाह और ऊँच–नीच का भेदभाव आदि हिन्दू जाति व्यवस्था की विशेषताएँ मुस्लिम जाति व्यवस्था मे विद्यमान हैं। हिन्दुओ की देखा–देखी मुसलमानो मे ऊँच–नीच की प्रथा प्रचलित हुई और यह नियम प्रतिष्ठित हुआ कि सैयद शेख की कन्या से विवाह कर सकता है लेकिन शेख सैयद की बेटी को नही ब्याह सकता।

मुसलमानो मे स्नान करने की आदत का विकास और पगडी का प्रयोग हिन्दू प्रभाव के द्योतक हैं। हिन्दू समाज मे प्रचलित अन्ध–विश्वास और रूढियो के प्रभाव से इस्लाम मे भी कुछ रूढियॉ पैदा हो गयी। यथा–सगुन मे विश्वास हिन्दू श्राद्ध की ही भॅति मृत व्यक्तियो के नाम पर भोज करना और खैरात बॉटना सौभाग्यवती स्त्रियो द्वारा मॉग मे सिन्दूर का प्रयोग विवाह के अवसर पर सोहाग पूरा का प्रयोग दरगाह पर माथा टेकना शीतला माता मे विश्वास और छठ का व्रत (सूर्य पूजा) रखना आदि बाते मुसलमानो ने हिन्दुओ से अपनायी। दिनकर जी का मत है कि मुसलमान का शबे–बरात पर्व शिवरात्रि से प्रभावित है।

ए सोशल हिस्ट्री आव् इस्लामिक इण्डिया' के लेखक यासीन का मत है कि भारत में ताजियो का गाडना और उन पर नाटकीय आक्रमण करना हिन्दुओ की रामलीला की इस्लामी नकल है। बाल विवाह और स्त्री पर पुरुष के आधिपत्य के विचार मुसलमानो ने हिन्दुओ से अपनाए।

हिन्दू समाज एव सस्कृति पर मुस्लिम सस्कृति का प्रभाव (Impact of Muslım Culture on Indıan socıety and Culture)– जहॉ एक ओर मुस्लिम संस्कृति का हिन्दूकरण हुआ वही दूसरी ओर मुस्लिम सस्कृति ने हिन्दू समाज तथा संस्कृति को प्रभावित भी किया। हिन्दू सस्थाओ व हिन्दुओ के सामाजिक–सास्कृतिक जीवन पर मुस्लिम सस्कृति का जो प्रभाव पडा वह निम्नलिखित है–

(1) **परिवार पर प्रभाव –** हिन्दू परिवारो मे पर्दा प्रथा का प्रवेश इस्लाम की देन है। मुसलमानो मे पर्दे का रिवाज था। पर्दा प्रणाली से स्त्रियो की

स्वतत्रता को गहरा अघात लगा। उन्हे परिवार के अन्दर भी पर्दा करने के लिए विवश किया जाने लगा। मुसलमानो की देखा देखी सम्पन्न हिन्दू परिवारो की स्त्रियॉ इधर उधर जाने के लिए पालकी व डोली का प्रयोग करने लगीं। पर्दा के कारण स्त्रियो को घुटन के वातावरण म रहना पडा। अपनी बहु बेटियों की रक्षा करने के उद्देश्य से भी हो सकता है कि हिन्दुओ ने पर्दा प्रथा को अपना लिया हो।

(2) **विवाह पर प्रभाव** — मुसलमान शासक रूपवती हिन्दू लडकियो को अपनी पत्निया बनाने का शौक रखते थे। इस भय के कारण कि कही हिन्दू लडकियो को मुसलमान न ब्याह ले हिन्दुओ ने छोटी उम्र मे उनका विवाह करना आरम्भ किया जिससे बाल विवाहो को प्रोत्साहन मिला। मुसलमान हिन्दू विध ावाओ को न ब्याह सके इसलिए विधवा पुनर्विवाह पर कडे प्रतिबन्ध लगा दिये गये और सती प्रथा के आदर्श को प्रतिष्ठित किया गया। सती प्रथा के कारण पति की मृत्यु होने पर विधवा को उसके पति के साथ जबर्दस्ती जला दिया जाता था।

(3) **जाति व्यवस्था पर प्रभाव** — इस्लाम के प्रभावो से हिन्दू धर्म की रक्षा करने के लिए जाति के नियमो को और कठोर बनाया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि जातियो मे रूढ़िवादिता तथा सकीर्णता का विकास हुआ। निम्न जाति के लोग अपनी स्थिति के विचार से इस्लाम धर्म अगीकार करने लगे जिसके फलस्वरूप निम्न जाति के सदस्यो की सख्या मे कुछ कमी आ गई।

(4) **पहनावे तथा भोजन पर प्रभाव** — उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त हिन्दुओ ने मुसलमानी पोशाक को खुशी खुशी अपना लिया। मुस्लिम अचकन और पैजामे का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। भोजन मे मास व अण्डे का प्रयोग किया जाने लगा। हिन्दू व्यजनो मे मध्य एशिया के पोलाव और बिरियानी पकाने के रिवाज का समावेश हुआ।

(5) **धर्म पर प्रभाव** — मुसलमानो के आगमन के पहले हिन्दू धार्मिक जीवन मे बहुदेववाद का बोल–बाला था। हिन्दू अनेक देवी देवताओं को मानते थे और उन्हे पूजते थे। बहु देववाद की जगह अद्वैतवाद (एकेश्वरवाद) का विकास इस्लामी देन है। इस्लाम से प्रभावित होकर नानक आदि ने मूर्ति पूजा का विरोध किया।

(6) **अन्य प्रभाव** — उक्त प्रभावो के अलावा सस्कृति के अन्य क्षेत्रो तथा साहित्य पर भी इस्लामी सस्कृति का व्यापक असर पडा। भवन निर्माण कला चित्रकला सगीत कला आदि क्षेत्र मे मुसलमानों का प्रभाव आसानी से देखा जा सकता है। कागज बनाना, कलई करना, पत्थर, चादी और सोने पर मीनाकारी का काम करना आदि मुसलमानो की हिन्दू समाज के लिए प्रमुख देनें है। देशान्तर तथा अक्षांश गिनने की प्रणाली और जन्म पत्री बनाने की ताजक पद्धति हमने मुसलमानो से अपनाया है।

●

अध्याय–20

जाति और प्रजातत्र

जाति और प्रजातत्र एक दूसरे के विरोधी है फिर भी भारत जाति व्यवस्था पर आधारित विश्व का सबसे बडा प्रजातत्र है।

जाति एव प्रजातत्र की भिन्नता दोनो के तालमेल मे सहायक– ऐसा विश्वास किया जाता है कि जाति और प्रजातत्र एक दूसरे के विरोधी है। प्रजातत्र समानता स्वतत्रता एव सुविधाओ पर जोर देने वाली शासन व्यवस्था है। जाति असमानता पर आधारित है इसमे कुछ जातियो को विशेषाधिकार प्राप्त हैं तो कुछ को निर्योग्यताओ एव वर्जनाओ का शिकार बनाया गया है। सामाजिक सम्पर्क विषयक नियमो मे भी असमानता है। कुछ जातियॉ अछूत है तो कुछ स्पर्श्य एव पवित्र है। अत जाति व्यवस्था भेदभाव पर आधारित है। जाति मे आवास के विषय मे भी समान नियम नही थे। कुछ जातियो को गॉव मे बस्ती से दूर गॉव के छोर पर बसने की इजाजत थी। वे सवर्णों की बस्ती के बीच अपना घर नही बना सकती थी। घरो की बनावट गहनो वस्त्रो एव बर्तनो के रूप की इजाजत या रोक जाति व्यवस्था मे थी। अस्पृश्य जातियो का प्रवेश मदिरो मे वर्जित था। शारीरिक दूरी और छुआछूत संबधी नियम दक्षिण भारत मे विशेष महत्त्व रखते थे। पुश्तैनी व्यवसाय अपनाने की इजाजत थी। जाति के नियम और सिद्धान्त प्रजातत्र के नियमो और सिद्धान्तो से भिन्न हैं लेकिन यह भिन्नता जाति और प्रजातत्र के सह–अस्तित्व के लिए बाधक नही है। यह भिन्नता प्रजातत्र और जाति को पास–पास लाने और साथ–साथ चलने मे कोई अडचन नही डालती है क्योकि व्यवहार मे दोनो की विपरीत प्रकृति दोनो के तालमेल मे सहायक है। यदि प्रजातत्र सिद्धान्त और नियमो की दृष्टि से जाति के विपरीत न होता तो जाति पर विजय न प्राप्त कर सकता।

जाति की असमानता पर प्रजातत्र की विजय– प्रजातत्र ने अपनी समानता की नीति द्वारा जाति की असमानताओ पर जीत हासिल की है। असत्य पर सत्य द्वारा विजय प्राप्त की जाती है। अन्याय पर

न्याय द्वारा जीत हासिल की जाती है। शोषण को शोषणमुक्त बनकर समाप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार असमानता पर समानता द्वारा विजय प्राप्त की जाती हे। विशेषाधिकारो एव वर्जनाओ पर समान अधिकारो द्वारा या बराबरी का दर्जा देकर विजय हो सकती है। अधकार प्रकाश को देखते ही दूर भागता है। दुष्टता पर प्रेम एव सज्जनता द्वारा विजय होती है। इसी प्रकार प्रजातत्र जो समानता पर आधारित है की विजय जाति पर जो असमानता पर आधारित है निश्चित है। प्रजातत्र जाति पर हावी है और जाति प्रजातत्र के सामने कई बातो मे घुटने टेक चुकी है।

प्रजातत्र क्या है? प्रजातत्र का अर्थ खोलने के लिए अब्राहम लिकन की परिभाषा सर्वमान्य एव सर्वविदित है।

"लोकतत्र जनता का, जनता के लिए तथा जनता द्वारा शासन है। अन्य शब्दो मे प्रजातत्र का आधार जनता है।

वर्तमान युग प्रजातत्र का युग है। प्रजातत्र मे नागरिको को उनके सर्वांगीण विकास के लिए कुछ सुविधाए एव स्वतत्रताएँ प्रदान की जाती है। इन्ही स्वतत्रताओ एव सुविधाओ को मौलिक अधिकार की सज्ञा दी जाती है। लार्ड ब्राइस के अनुसार लोकतत्र शासन का वह रूप है जिसमे राज्य के शासन की शक्ति किसी विशेष वर्ग या वर्गों मे निहित न होकर समस्त जन समूह मे निहित होती है। डॉ बेनी प्रसाद प्रजातत्र पर प्रकाश डालते हुए लिखते है "प्रजातत्र जीवन का एक ढग है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख का महत्त्व उतना ही है जितना कि अन्य किसी के सुख का हो सकता है तथा किसी को भी अन्य किसी के सुख का साधन मात्र नही समझा जा सकता।

आक्सफोर्ड एडवान्स्ड लर्नर्स डिक्सनरी ऑव करेन्ट इगलिश के अनुसार प्रजातत्र का अर्थ इस प्रकार है।

प्रजातत्र वह सरकार है जिसमे सभी प्रौढ नागरिक अपने चुने हुए प्रतिनिधियो के माध्यम से अपनी भागीदारी बनाये रखते हैं।

भाषण धर्म, मत और ससर्ग जैसे नागरिकता के अधिकारों, रूल ऑव लॉ पर जोर और बहुसंख्यक शासन जिसमे अल्पसख्यकों के अधिकारों

के लिए सम्मान हो को प्रजातत्र उत्साहित और अनुमति प्रदान करता है।

प्रजातत्र वह समाज है जिसमे नागरिको को एक दूसरे के बराबर समझकर व्यवहार किया जाता है और वर्ग भावना अनुपस्थित रहती है।

जाति का प्रजातत्रीकरण – प्रजातत्र का कार्य जातियो को प्रजातान्त्रिक बनाना है। जातियॉ या तो कुछ अर्थो मे प्रजातत्र की तरह हो जाती है या प्रजातत्र का समर्थन करती है। इसे ही जातियो का प्रजातत्रीकरण करना कहा जाता है।

प्रजातंत्र की मान्यताएँ – प्रजातत्र के अर्थ विवेचन के पश्चात् प्रजातंत्र की उन मान्यताओ की ओर सकेत करना आवश्यक है जिन्होने जातियो को अविभूत कर रखा है। लोकतत्र की मान्यताएँ निम्न है–
1 जागरुकता 2 सजग एव समाज के प्रति उत्तरदायी नागरिको का समूह 3 जनमत का निर्माण 4 सहनशीलता एव समझौते की भावना 5 नेतृत्व की भावना

1 जागरूकता – जनतत्र की सफलता देश के नागरिको की गुणवत्ता पर निर्भर करती है। यदि नागरिक शिक्षित बुद्धिमान लोकतत्र के प्रति जागरूक है, उन्हे अधिकारो एव कर्त्तव्यो का उचित ज्ञान है वे अपने चारो ओर की परिस्थितियो से भली–भॉति परिचित है उनमे लोकतत्र की सफलता के प्रति रुचि है, वे लोकतत्र के शत्रुओ से सतर्क हैं और अपने प्रतिनिधियों, विशेषकर सरकार के सदस्यो की गतिविधियो पर कडी दृष्टि रखते है तो ऐसे देश मे लोकतत्र अवश्य विकसित एव सफल होगा। इस सबध मे गॉधी को उद्धृत करना अधिक अच्छा होगा। वे कहते थे कि **लोकतत्र राज्य ऐसा नही होता जिसमे लोग भीड़ की तरह कार्य करे, इसमे जनता को जागरूक रहना पडता है।**

2 सजग एव समाज के प्रति उत्तरदायी नागरिको का समूह – यदि देश के नागरिक लापरवाह एव अनुत्तरदायित्वपूर्ण है तो प्रजातत्र के लिए घातक है। सजग एवं समाज के प्रति उत्तरदायी नागरिको का समूह प्रजातंत्र को शक्ति प्रदान करता है तथा प्रजातंत्र को सफल बनाने मे सहायक होता है।

3 जनमत का निर्माण — स्वस्थ जनमत का निर्माण और उसका समर्थन प्रजातत्र की रीढ है। यदि जनमत किसी कानून व सरकार के पक्ष मे नही है तो कानून अप्रभावी रहेगा और सरकार गिर जायेगी। अत प्रजातत्र सरकार अपने पक्ष मे जनमत से आगे की ओर बढती है तथा अपने विपरीत जनमत से निष्प्राण हो जाती है।

4 सहनशीलता एव समझौते की भावना — प्रजातत्र नागरिको मे सहनशीलता एवं समझौते की भावना को उत्पन्न करके उसे मजबूत बनाता है। लगभग प्रत्येक देश मे विभिन्न वर्गों धर्मों एव जातियो के लोग रहते हैं जिनके आचार–विचारो मे भिन्नता होती है। **यदि सहनशीलता की भावना हो तो भिन्नता होते हुए भी उनमें पारस्परिक सहयोग हो सकता है।** आज के युग मे चाहे व्यक्ति हो या देश अकेले रहकर अपना विकास नही कर सकता। आज के युग मे जिओ और जीने दो के सिद्धान्त पर चलकर ही हम अपने पथ पर अग्रसर हो सकते है। यह तभी सभव है जब हममे सहिष्णुता एव समझौते की भावना हो। यदि विचार एव सिद्धान्त उचित है तो उन्हे सम्मान दे अन्यथा प्रजातात्रिक उपायो से उनका विरोध करे।

प्रजातत्ररूपी इमारत समझौते की नीव पर खड़ी हुई है चाहे वह समझौता जनता व सरकार के बीच का हो या विरोधी दल और शासक दल का हो। जिद्दी प्रवृत्ति असफलता की ओर ले जाती है। हमे दूसरो की बात को भी ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए। यदि वे उपयोगी तथा लाभदायक है तो उनके मान लेने मे कोई अपमान नही होता। आपसी वैमनस्य एव सघर्ष से समाज और देश विभाजित हो जाते है। इतिहास इस बात का साक्षी है। अत आपसी मतभेदो को पचायत द्वारा निपटाना प्रजातत्र की सफलता की कुजी है।

5 नेतृत्व की भावना — राजनीतिक दल प्रजातंत्र की जान होते है। सही नेतृत्व एव कार्यक्रम ही राजनीतिक दलो का विकास कर उन्हे प्रगति की ओर ले जा सकते हैं। प्रजातत्र मे शासन इन्ही राजनीतिक दलो द्वारा चलाया जाता है यदि इन दलो का नेतृत्व सही है, साहसी ईमानदार और जागरूक लोगो के हाथ मे है तो देश प्रगति करेगा अन्यथा अवनति की ओर चला जायेगा। बुद्धिमान और चरित्रवान नेता जनता का सही मार्गदर्शन कर सकता है जिससे अयोग्य, अक्षम एव

स्वार्थी लोग जनता को भ्रमित नही कर सकेगे। अत यह प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह सुयोग्य और ईमानदार नेतृत्व दे। उक्त मान्यताओ पर आधारित लोकतत्र की सफलता असदिग्ध हे। ऐसे ही लोकतत्र ने जाति को अपने वश मे कर लिया है और जाति आधारित भारत जैसे देश मे अपना डका बजा रहा है।

प्रजातत्र का जादुई चमत्कार – भारत मे प्रजातत्र सफल है इसकी जादुई शक्ति जग जाहिर है इसके जादू का असर जातियो पर हुआ है जातियो मे व्याप्त असमानता दूरी भेदभाव वर्जनाओ एव प्रतिबधो को प्रजातत्र ने करारी चोट दी है और इसी कारण प्रजातत्र प्रशसित वाछनीय एव वरेण्य है।

प्रजातत्र मे जनजीवन का विकास ही वास्तविक स्वतत्रता है। इसका आशय यह है कि समस्त देशवासियो को उनकी योग्यतानुसार कार्य उनकी आवश्यकतानुसार सुख–सुविधाएँ विकास के समान अवसर सम्मानजनक सामाजिक स्तर तथा सुरक्षा एव न्याय प्राप्त होने चाहिए।

लोकतत्र की सफलता सविधान के अनुरूप शासन चलाने मे निहित है। संविधान मे मूल अधिकारो मूल कर्त्तव्यो अल्पसख्यको के हितो की रक्षा जन्म वश व्यवसाय धर्म प्रजाति के आधार पर भेदभाव को दूर करने के प्राविधान है। कमजोर लोगो के लिए आरक्षण नीति का उल्लेख है।

सविधान के प्राविधानो का उल्लेख कीजिए।

नागरिको का सर्वांगीण विकास हो इस हेतु मौलिक अधिकारो का विशेष महत्त्व है।

मूल का अर्थ होता है जड। वृक्ष के लिए जो महत्त्व जड का है वही महत्त्व नागरिको के लिए इन अधिकारो का है। जिस प्रकार जड़ के बिना वृक्ष का जीवन असभव है उसी तरह मौलिक अधिकारो के बिना नागरिकों का शारीरिक मानसिक नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास सभव नही। इसी कारण प्रजातत्र राज्यो मे इनका उल्लेख सविधान मे कर दिया जाता है।

समानता के अधिकार– इसमे विधि के समक्ष समानता भेदभाव समापन, अवसर की समानता–शिक्षा और नौकरी के समान अवसर समान

कार्य के लिए समान वेतन समान नागरिक सहिता अस्पृश्यता का अन्त आदि सम्मिलित है।

प्रजातत्र एव जाति मे सबध— प्रजातत्र एव जाति में गहरा सबध है। जातियो को प्रजातत्र से कोई परहेज और विरोध नही है। प्रजातत्र को सफल बनाने मे जातियो का वाछित सहयोग रहा है। निर्योग्यताओ और वर्जनाओ की शिकार जातियो के लिए प्रजातत्र शरण–स्थली है।

जाति का बदलता स्वरूप— आज जाति का जो स्वरूप है वह उतना कठोर नही है। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध में जातियाँ नमनशील बन गई है। बहुत सी कठोरताओ को त्याग दिया गया है।

जाति मे हुए और हो रहे परिवर्तनो और उनके कारको का उल्लेख पिछले पृष्ठो मे हो चुका है।

1 प्रजातत्र ने जाति मे व्याप्त बुराइयो एव दोषो पर कुठाराघात किया है।

2 प्रजातत्र ने ऐसा माहौल पैदा किया है जिसमे दबी हुई एव कुचली हुई जातियॉ राहत की सॉस ले रही है और वे ऐसे प्रजातत्र से अपना मोह नही तोड पा रही हैं। इस माहौल मे जाति की दादागिरी ढेर हो गयी है। औद्योगीकरण शहरीकरण, नई शिक्षा व्यवस्था, मानववाद विवेकवाद वैज्ञानिक तकनीकी एव शिक्षा सस्थानो की स्थापना, नई राजनीतिक सस्कृति और नेतृत्व का देश मे उदय आदि इसी माहौल की देन है। इन सबने जातियो को सज्ञा शून्य कर दिया है।

3 जातियो को प्रतिस्पर्धी समूहो मे बदल दिया है। व्यक्तियो के बीच प्रतिस्पर्धा की भावना को भी जाति के माध्यम से अभिव्यक्ति का सुअवसर प्रदान किया है।

4. प्रजातंत्र के कारण जाति की पकड समाज पर ढीली हुई।

5 जैसे जजमानी व्यवस्था असमान समूहों को सगठित रखती है उसी तरह प्रजातंत्र असमान जातियो को संगठित रखने मे सफल रहा।

6 अदालत के माध्यम से नए विचारो को लागू किया गया जिससे जाति पचायत के क्रियाकलापो का क्षेत्र सीमित हो गया और मामलों

पर उनके अधिकार को अमान्य करार दिया गया।

7 प्रजातत्र के अन्तर्गत ऐसे सहायता प्राप्त स्कूलो/कालेजो की ग्रान्ट रोक ली जाती है जहाँ जाति अथवा नस्ल के आधार पर किसी छात्र को सुविधा देने से मना किया जाता है।

रुडोल्फ और रुडोल्फ के अनुसार जातियो ने प्रजातत्र को एक प्लेटफार्म प्रदान किया है। जातियाँ प्रजातत्र की सफलता मे सहायक रही है। जाति के आधार पर चुनाव लडे जाते है। जातियाँ लोगो को अपने मताधिकार के प्रयोग के लिए प्रेरित करती है और जातियो के कारण मताधिकार का प्रयोग बडे पैमाने पर हो रहा है। इस प्रकार प्रजातत्र मे जान डालने और उसे आगे बढाने मे जातियो का योगदान कम नही है। आजकल सभी जातियो मे राजनैतिक चेतना है जिससे प्रजातत्र को बल मिल रहा है। सरकार मे मत्रियो का चुनाव करते समय जाति के प्रतिनिधित्व का भी ध्यान रखा जाता है। जातियाँ वोट बैंक हैं। जातियाँ चुनाव मे अपना अभ्यर्थी खडा करती हैं। किसी निर्वाचन क्षेत्र मे जिस जाति के लोगो की सख्या अधिक होती है उसी जाति के अभ्यर्थी के विजय की सभावना अधिक रहती है और प्राय उसकी विजय होती भी है। अत जातियाँ भी प्रजातत्र को खुराक देने का कार्य करती है।

जाति एव प्रजातत्र पर विद्वानो की राय— के एम पणिक्कर के अनुसार प्रजातत्र एव जाति पूर्णतया विरोधी है, एक समानता पर आधारित है तो दूसरा जन्म की विषमता पर, एक सामाजिक सम्मिलन के सिद्धान्त से प्रेरित है तो दूसरा सामाजिक बहिष्कार से। प्रजातत्र वर्ग भेद की सीमाओं को तोडने के लिए प्रयासरत है पर जाति उनको बनाये रखने के पक्ष मे है। वर्ग–चेतना लुप्त हो जाय इस हेतु प्रजातत्र सार्वभौमिक शिक्षा पर बल देता है पर जाति शासक वर्ग को छोडकर अन्य लोगों को शिक्षा देने के लिए मना करती है। सम्पूर्ण महत्त्वपूर्ण विषयो मे जाति और प्रजातत्र मे आधारभूत भेद दिखता है।

Democracy and caste are totally opposed as we have tried to show The one is based on equality and the other on inequality of birth The one is actuated by the principle of social inclusion, the other is by the principle of exclusion Democracy tries to break

down the barriers of class, caste seeks to perpetuate them Democracy imparts universal education in order that class consciousness might vanish, caste refuses education except to the governing class In all matters that are of importance caste and democracy are fundamentally opposed

Panikkar, K M "Caste and Democracy," P-37

डॉ राधाकृष्णन् के विचार— अपनी पुस्तक दि हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ मे उन्होने जाति एव प्रजातत्र पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार प्रजातत्र सबका इस प्रकार से मानकीकरण नहीं है कि उनकी विशिष्टता का ही लोप हो जाय। हम सभी को एक ही ड्रेस मे नही रख सकते है क्योकि यह तो तानाशाही होगी। प्रजातत्र इस आवश्यकता पर बल देता है कि सभी को अपनी प्रकृति के अनुसार अच्छाई के विकास का समान अधिकार मिलना चाहिए। यदि हम यह विश्वास रखते है कि प्रत्येक प्ररूप एक विशिष्ट सम्भावना को रूपायित करता है तो इस प्ररूप को नष्ट करने का अर्थ विश्व की योजना मे एक शून्य उत्पन्न करना होगा। मस्तिष्क द्वारा सृजित सभी मूल्यो को प्रोन्नत करना प्रजातत्र का कार्य है। समग्र के लिए हर प्रकार की सेवा का समान महत्त्व है। समाज एक जीवित सावयव है जो उद्गम और उद्देश्य की दृष्टि से तो एक है परन्तु जिसकी क्रियाएँ विविध है। समाज के किसी खण्ड या वर्ग मे तब तक वास्तविक स्वतत्रता नही होगी जब तक दूसरे लोग बन्धन मे है। निम्न शब्दो मे जो बात कही गई है वह प्रजातत्र का वास्तविक आदर्श है "ईश्वर करे सभी लोग जीवन के कठिन स्थानो को सुरक्षित पार कर ले सभी खुशी को प्राप्त हो सभी उपयुक्त ज्ञान को प्राप्त करे सभी हर जगह आनन्दित हो।" जाति व्यवस्था धन अथवा सुख को प्राप्त करने मे प्रजातत्र नही है परन्तु आध्यात्मिक मूल्यो की दृष्टि से यह एक प्रजातत्र है क्योकि जाति की यह स्वीकारोक्ति है कि प्रत्येक व्यक्ति मे कुछ लोकोत्तर अवश्य है और ऊँच नीच क्रम के लिए अयोग्य है। श्रेणी और पद के भेदभाव के बिना जाति व्यवस्था सभी लोगो को समान स्तर पर रखती है और इस बात पर जोर देती है कि सभी लोगो को अपनी—अपनी विशिष्टता को व्यक्त करने का मौका अवश्य दिया जाना चाहिए। आर्थिक दृष्टि से हम एक सहकारी सस्था है जहॉ प्रत्येक योग्यतानुसार काम करता है और आवश्यकतानुसार

प्राप्त करता हे। राजनीतिक दृष्टि से कानूनो के समक्ष समान अधिकारो का उपयोग होता हे। इन दोनो से वास्तविक आध्यात्मिक स्वतत्रता की उपलब्धि होती है। समाज का एक उचित सगठन आध्यात्मिक स्वतत्रता राजनैतिक समता और आर्थिक भाईचारे पर आधारित होगा।

इस प्रकार उक्त विद्वान ने जाति और प्रजातत्र को आध्यात्मिक मूल्यो की दृष्टि से एक माना है और दोनो मे मधुर सबध देखा है। उनके ख्याल से जाति और प्रजातत्र का सह–अस्तित्व सभव है। जाति का समर्थन करते हुए वे कहते है कि सभी को अपनी विशिष्टता व्यक्त करने का अवसर दिया जाना चाहिए।

Democracy is not the standardizing of everyone so as to obliterate all peculiarity while the system of caste is not a democracy in the pursuit of wealth or happiness, it is a democracy so far as the spiritual values are concerned

Radhakrishnan, S, " The Hindu View of Life" P-83

क्या प्रजातत्र का सैद्धान्तिक रूप व्यवहार मे है? – प्रजातत्र अपने आदर्शों के अनुरूप व्यवहार मे कही नही है। प्रजातत्र देशो मे अयोग्य व्यक्ति शासन कर रहे है और योग्य व्यक्तियो की उपेक्षा की जा रही है। जातिभेद को वर्ग सघर्ष के लिए दोषी बताया जाता है परन्तु प्रजातत्र के राजनीतिक दल इससे कही अधिक भयकर होते है। आज विभिन्न राजनीतिक दल अपना–अपना उल्लू सीधा करने मे लगे है। अपने स्वार्थ से परे उन्हे समाज और राष्ट्र के हित की कोई चिता नही है। इतना ही नही वे आपस मे झगड़ते है। प्रजातत्र मे जहॉ टिकाऊ सरकारे नही हैं वहाँ झूठ फरेब और जालसाजी का बोल बाला है। अनुचित उपायो से और जाति की मदद से दल विजयी होते है और विजयोपरान्त अपनी जाति तथा अपने दल के लोगो को अधिकाधिक सुविधाएँ देते हैं उन्हे तरह–तरह से प्रसन्न करते हैं और इस प्रकार अगले चुनावो मे जीत सुनिश्चित करने की भूमिका तैयार करते है। इस प्रकार जातियाँ प्रजातत्र को मजबूत बनाती हैं और उसमें प्राणवायु फूँकने का प्रयास करती हैं।

लार्ड ब्राइस द्वारा बताये गये दोषों से प्रजातंत्र अपने आदर्शों के विरुद्ध दिखता है। उनके द्वारा इंगित दोष इस प्रकार हैं 1 प्रजातत्र

धन के कुप्रभाव को नही रोक सका है। लोग राजनीति को व्यवसाय के रूप मे ग्रहण करते है। 2 इसमे समानता के सिद्धान्त का दुरुपयोग होता है और शासन मे योग्यता को महत्त्वहीन समझा जाता है। 3 कानून निर्मायक कानून बनाते समय जनहित को भुला देते है। उनके सामने जनहित जैसी कोई चीज नही होती। 4 राजनीतिक दलो की शक्ति मे अनावश्यक वृद्धि होती है जिससे राष्ट्रीय एकता को क्षति पहुँचती है।

निष्कर्ष— प्रजातत्र तथा जाति के सिद्धान्त और विशेषताएँ व्यवहार मे एक दूसरे के अनुरूप है उनमे तालमेल है उनमे किसी भी प्रकार का विरोध परिलक्षित नही होता है। हॉ जाति के बजाय जातिवाद प्रजातत्र का विरोधी हो सकता है। आज बहुमत इस पक्ष मे है कि जातिवाद का प्रभाव भी घट रहा है। जनतान्त्रिक प्रक्रिया ने जातिवाद की भावना को निश्चय ही कम किया है परन्तु उसके मूलाधार को नही बदल पाई है। अब जाति एक नागरिक सगठन के रूप मे उभर रही है। जातियो ने हित–समूहो का रूप धारण कर लिया है। सक्षेप मे जाति का राजनीतिकरण हो रहा है।



हमारे अन्य श्रेष्ठ उपन्यास

कौरव-पाण्डव	परमात्मा राय शर्मा	100.00
देवव्रत भीष्म	"	100.00
बूँद-बूँद अमृत	क्रान्ति त्रिवेदी	175.00
आठवाँ जन्म	"	125.00
भूमिजा	"	100.00
अगम	"	75.00
गगादत्त	"	150.00
अनकही	राजीव कुमार	75.00
हाकिम इलाका	"	75.00
सघर्ष	"	40.00
अमर-तारा	चाँदनी	100.00
नई दिशा	सलिल कुमार मिश्र	40.00
दक्षिण मे सूर्योदय	शालिग्राम मिश्र	180.00
एक और सावित्री	शालिग्राम मिश्र	150.00
फिर चूके चौहान	"	175.00
वीरवर लक्ष्मण	शिवसिह "सरोज"	70.00
सभवामि युगे-युगे	नसीम साकेती	60.00
प्रियम्	डॉ जे पी शर्मा	80.00
एक और अहल्या	ऊषा यादव	70.00
श्रीपति	भूपेन्द्र नाथ शुक्ल	60.00
धनपति	भूपेन्द्र नाथ शुक्ल	70.00
चींटे के पर	सुधाकर अदीब	80.00
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे	गोविन्द प्रसाद शर्म्मा	100.00
धरोहर	पी एस आनन्द	125.00
हारे-जीते लोग	शकर दयाल पाण्डेय	—
युवराज	राम गोपाल	60.00
पहली-किरण	शूलपाणि	50.00
स्मृतियों के खण्डहर	शकर दयाल पाण्डेय	25.00